TIGHT BINDING BOOK

UNIVERSAL
LIBRARY
OU_176080
UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY
H80.9
B57H
Accession No. H 3448
भटनागर, रामरतन.
हिन्दी साहित्य : एक अध्ययन. 194
ook should be returned on or before the date last marked below.

प्रथम संस्करण, फ़रवरी १९४८

मुद्रक—पं० रामभरोसे मालवीय, अभ्युदय प्रेस, प्रयाग
प्रकाशक—किताब महल, ५६-ए, ज़ीरो रोड, इलाहाबाद

अपनी बात

१९४२ ई० की जनक्रांति के समय इलाहाबाद छोड़ते हुए हिन्दी साहित्य के इतिहास के कुछ पत्र प्रकाशक को दे दिये थे। वर्षों इधर-उधर रह कर जब मैं यहाँ लौटा तो उन पृष्ठों को टटोला। बहुत कुछ अपूर्ण जान पड़ा। हस्तलिखित प्रति में १९२५ तक के साहित्य की ही विवेचना हो सकी थी। नई खोजों ने नई सामग्री दी है। उसका समावेश किये बिना रचना अपूर्ण थी। अतः इधर-उधर उलट-पुलट कर कुछ जोड़ा। फिर पिछले २५ वर्षों के साहित्य की विस्तार-पूर्ण विवेचना जोड़ना चाही। परंतु जैसा मैं चाहता था वैसा अच्छा काम न हो सका। फिर भी संक्षेप में सारे समसामयिक साहित्य को ले लिया गया है और विभिन्न साहित्यिक धाराओं के विकास की विवेचना हो गई है।

हिन्दी साहित्य का सर्वांगपूर्ण इतिहास अभी नहीं लिखा गया। लिखा जाना अभी कदाचित् संभव भी नहीं और यह कदाचित् एक मनुष्य का काम भी नहीं हो सकता। भारतीय हिन्दी परिषद् ने हिन्दी-साहित्य के इतिहास की एक बड़ी योजना तैयार की है जिसमें पचास से अधिक विद्वान, ऐतिहासिक और समालोचक योग देंगे। यह अत्यंत स्तुत्य प्रयत्न होगा। परंतु विशेष दृष्टिकोण से अधिकारी विद्वान अपने-अपने छोटे-मोटे इतिहास हिन्दी भारती की भेंट करते रहेंगे, इसमें संदेह नहीं। प्रस्तुत लेखक की यह भेंट इसी प्रकार की एक तुच्छ भेंट है। इसके लिए वह हिन्दी के अनेक इतिहास-लेखकों, समालोचकों, खोजियों, आचार्यों और विद्वानों का आभारी है। कालांतर में वह इस ग्रन्थ को विशेष विस्तार देने का भी प्रयत्न करेगा।

इस छोटे से ग्रन्थ में लेखकों और कवियों के जीवनवृत्त, उनकी रचनाओं की तालिका, विवादग्रस्त विषयों और रचनाओं के उद्धरणों को स्थान नहीं मिला है। युग की मूल प्रवृत्तियों के आधार पर प्रतिनिधि लेखकों और कवियों का विश्लेषण और उनकी व्याख्या ही इस इतिहास का विषय है। पिछले एक सहस्र वर्ष का हिन्दी साहित्य हिन्द राष्ट्र के हृदय हिन्दी प्रदेश की अनेक चिंताधाराओं और अनेक महापुरुषों की जीवन-व्यापी साधनाओं को सुरक्षित रखे हुए है। इन्हीं चिंताधाराओं और साधनाओं के सम्यक् उद्घाटन से लेखक संतुष्ट है।

प्रयाग
बसन्त पंचमी
१५ फरवरी १९४८

रामरतन भटनागर

तालिका

प्रवेश पृष्ठ १—७

आदि युग (७०० ई०-१४०० ई०)७—४४

पृष्ठभूमि ६

अ—सिद्धसाहित्य १७, आ—नाग-साहित्य (नाथ साहित्य)२२ इ—जैनसाहित्य ३२, ई—चारण-साहित्य ३५, उ—हिंदवी साहित्य ४१,

पूर्वमध्य युग (१४०० ई०-१६०० ई०) ४५-१४८

पृष्ठभूमि ४७

अ—मैथिली साहित्यधारा ६४, आ—संतकाव्य ६७, (ख) कृष्णकाव्य ११०, (ग) सगुण भक्ति-साहित्य ११५, (इ) राम काव्यधारा १२१, (ई) कृष्ण—काव्यधारा १२८ (उ) सूफी साहित्य १४०, (ऊ) डिंगल काव्य की धारा १४५, (ए) खड़ी बोली का उर्दू साहित्य (दकनी साहित्य) १४५

उत्तरमध्य युग (१६०० ई०—१८०० ई०) १४६-१८६

पृष्ठभूमि १५१

अ—रीतिकाव्य १६० आ—भक्ति काव्य १७३ इ—संतकाव्य १७५ ई (१) चारण काव्य (डिंगल साहित्य) १७८ ई (२) प्रबंध काव्य १८१ उ—दकनी साहित्य और उत्तर का उर्दू साहित्य १८२

वर्तमान युग (१८०० ई०—१९३५ ई०) १८७-३२४

पृष्ठभूमि १८९

उन्नीसवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध १९३, उत्तरार्द्ध २०२ बीसवीं शताब्दी का हिन्दी साहित्य २३६

समसामयिक युग (१९३६ ई०-४७ ई०) ३२५—३४८

उपसंहार ३४८—३५४

प्रवेश

हिन्दी-साहित्य का क्षेत्र भौगोलिक दृष्टि से मध्यदेश रहा है। आज के राजनैतिक विभाग के अनुसार यह एक ही प्रान्त तक सीमित नहीं है। वरन् कई प्रान्तों तक फैली है। ग्रियर्सन आदि हिन्दी को बहुत ही सीमित समझते हैं। वे राजस्थानी और बिहारी को हिन्दी के अन्तर्गत नहीं मानते। परन्तु हिन्दी के विद्वान् इन भाषाओं को हिन्दी की ही बोली समझते हैं। इस प्रकार हिन्दी का क्षेत्र बड़ा विस्तृत है। व्यावहारिक दृष्टि से तो हिन्दी का क्षेत्र और भी व्यापक है क्योंकि यह राष्ट्र-भाषा के रूप में बहुत पहले से प्रयुक्त होती रही है।

एक—मगही या दक्षिण बिहार की साहित्यिक धारा

श्री राहुल सांकृत्यायन ने अभी कुछ समय पहले जिस साहित्य की खोज की है वह पुरानी मागधी से सम्बन्ध रखता है जिसे विद्वानों ने मगही कहा है। यह सिद्ध-साहित्य है। इसके नमूने ७०० ई० तक के प्राचीन बतलाये जाते हैं। तात्पर्य यह है कि यह धारा बहुत प्राचीन है। वर्तमान स्थिति में इसमें साहित्यिक रचना नहीं हो रही है।

दो—डिंगल की धारा या पश्चिमी राजस्थानी या मारवाड़ी की धारा

यह धारा हमें १४०० ई० से १६०० ई० तक मिलती है। यद्यपि इसमें इससे भी पहले की रचना मिलती है परन्तु तब यह सर्वसम्मति से हिन्दी नहीं है, अपभ्रंश ही अधिक है। इस धारा का सबसे प्राचीन रूप चन्द के महाकाव्य पृथ्वीराज रासो में मिलता है यद्यपि उसका रूप वहाँ खुला नहीं है। मीरा आदि के काव्य में इस धारा का पर्याप्त प्रभाव है।

तीन—मैथिली की धारा

यह धारा हिन्दी प्रदेश के पूर्वीय सीमान्त पर मिलती है। लगभग १४०० ई० से नाटक, काव्य आदि रचना मैथिली में होने लगी थी और आज भी उसमें कुछ साहित्य बन रहा है।

चार—अवधी की धारा

अवधी का सम्बन्ध भी हिन्दी प्रदेश के पूर्वी भागों से है। इसका प्रयोग साहित्य में १४०० ई० से आरम्भ होता है। १६०० ई० तक अवधी का प्रयोग जारी रहा किन्तु इसके पश्चात् इसमें गण्यमान्य कवि नहीं हुआ और यह धारा कुण्ठित हो गई।

पाँच—ब्रजभाषा की धारा

बोली के रूप में यह भाषा बहुत प्राचीन है। इसका जन्म उस समय तक हो गया था जब वल्लभाचार्य ने गोकुल को अपना प्रचार-केन्द्र बनाया। यह काल १५०० ई० के पूर्व ही है किन्तु हमें इससे पूर्व का कोई काव्य-ग्रन्थ नहीं मिलता। ब्रजभाषा समस्त प्रदेश की साहित्यिक भाषा रही है। १५०० ई० से १८०० ई० तक यह खूब चली। इसे पिंगल भी कहते हैं।

छः—खड़ी बोली की धारा

इसका इतिहास कम प्राचीन है। इसका साहित्यिक प्रयोग १७०० ई० से आरम्भ होता है। १७०० ई० से १८०० ई० तक यह रेख़ता या उर्दू नाम से चली। १८०० ई० से इसे हिन्दी रूप मिल गया और इसके पश्चात् इसकी धारा उत्तरोत्तर प्रबल होती गई। आज यही हमारी साहित्यिक भाषा है।

इन निश्चित धाराओं के अतिरिक्त थोड़ा बहुत साहित्य हिन्दी प्रदेश की अन्य बोलियों जैसे बुन्देलखंडी, बघेलखंडी और पहाड़ी में भी बनता रहा परन्तु यह साहित्य किसी प्रकार भी महत्त्वपूर्ण नहीं है। यह अवश्य है कि इन भाषाओं का अवधी और ब्रज पर प्रभाव पड़ा है, जो भाषा-विज्ञान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। लोकगीतों के रूप में हिन्दी की सभी बोलियों में जन-साहित्य बिखरा पड़ा है। इस क्षेत्र में खोज अभी प्रारम्भ हुई है।

अधिकांश धाराएँ १४०० ई० से आरम्भ होती हैं। इनमें अवधी, ब्रज और खड़ी बोली निर्विवाद हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत आ जाती है किन्तु इससे पूर्व और पश्चिम में बढ़ने पर गति संदिग्ध हो जाती है। मनुस्मृति के अनुसार मध्य प्रदेश की परिभाषा सरस्वती से प्रयाग तक मानी गई है। पश्चिम में राजस्थान और पूर्व में बिहार में आज खड़ी बोली ही सर्वसम्मति से साहित्यिक भाषा है और इस रूप में उसका प्रयोग भी होता है किन्तु सीमाप्रांतों में (मारवाड़ और पूर्वी बिहार) में विद्रोह के लक्षण दीखने लगे हैं। कुछ लोगों की सम्मति है कि अमुक भाषाएँ हिन्दी के अंतर्गत न मानी जाएँ और इनमें स्वतंत्र रूप से साहित्य की रचना हो।

एक प्रश्न उर्दू भाषा के साहित्य का भी है। भाषा-विज्ञान के दृष्टिकोण

से यह दिल्ली-मेरठ-आगरे की अपभ्रंश बोली से विकसित सरहिंदी, हिंदवी या संत-भाषा का फ़ारसी से प्रभावित रूप मात्र है। १७०० ई० तक की उर्दू भाषा की रचनाओं में, जो अधिकतर दकनी के रूप में मिलती है, हिंदीपन इतना अधिक है कि इन्हें हिंदी ही माना जाने लगा है। वली के साथ १८वीं शताब्दी में यह दकनी भाषा मध्य प्रदेश में आई और यहाँ विशेष रूप से फ़ारसी के ढाँचे में ढल गई। इसके क्रियापद, कारक-चिह्न और विभक्तियाँ हिन्दी की रहीं परन्तु कुछ फ़ारसी कारक चिह्न, फ़ारसी-अरबी शब्द-कोष और विदेशी महावरे अपना लिये गये। व्याकरण भी उसी रंग में रँग गया और पद्य के लिए अन्यतम रूप से फ़ारसी बहरों का प्रयोग हुआ। खड़ी बोली हिन्दी के पास होते हुए भी इसका रूप इन कारणों से इतना बदला कि आज विद्वान इसे हिंदी नहीं मानते। फिर भी इसमें हिंदीपन की इतनी मात्रा है कि इसे हिन्दी कहा जा सकता है। भाषा-विज्ञान के दृष्टिकोण को लेते हुए हमने इसे खड़ी बोली ही स्वीकार किया है और १८०० तक के इसके साहित्य को हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत रखा है, क्योंकि उस समय तक हिन्दी-उर्दू में अधिक विभेद नहीं हुआ था।

दूसरी समस्या हिन्दी साहित्य की परिस्थितियों के सम्बन्ध में है। प्रत्येक साहित्य दो आश्रयों से निर्मित होता है—राजाश्रय और जनता का आश्रय। हिन्दी साहित्य को दोनों ही आश्रय मिले हैं। हिन्दी की साहित्यिक धाराओं के भावपक्ष की विभिन्नता का कारण राजाश्रय और उसकी रुचि की विभिन्नता ही है। साहित्य के आश्रय की परम्परा हमारे यहाँ बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है। राजदरबारों ने कवियों को प्रतिष्ठा दी है। १२०० ई० के आस-पास आधुनिक हिन्दी भाषाओं को भी प्रश्रय दिया जाने लगा। यह प्रश्रय पहले-पहले चारणों को मिला जिनके द्वारा वीसलदेव रासो और पृथ्वीराज रासो की श्रेष्ठ रचनाएँ हुई। यह आश्रय बहुत दिनों तक नहीं चला। १२०० ई० के पश्चात् हिन्दी-भाषी देश दो राजनैतिक संस्थाओं में विभक्त हो गया—हिन्दू और मुसलमान। इस प्रकार राजाश्रय की धारा दो भागों में विभक्त हो गई—हिन्दू नरेशों का राजाश्रय और मुस्लिम नरेशों का राजाश्रय। हिन्दू राजाश्रय में पल्लवित होनेवाली धारा चारणकाल से आरम्भ होकर रीतिकाल तक चली जाती है। १६०० ई० के पश्चात् पारस्परिक संघर्ष की समाप्ति पर वीरगाथा का लोप हो जाता है और १६०० ई० के पश्चात् राजाश्रय में अलंकृत काव्य की धारा प्रबल हो जाती है। इसका कारण तत्कालीन राजाश्रय की परिस्थिति है। एक प्रकार से अलंकृत काव्य की धारा मुग़ल राजाश्रय से प्रारम्भ हुई यद्यपि विकसित हिन्दू राजाश्रय में हुई। मुस्लिम

राजाश्रय में प्रथम नाम ख़ुसरो का है और इसके बाद अकबर के समय में आकर रहीम और गंग आदि के नाम मिलते हैं। मुसलमानों का ध्यान इस प्रदेश की साहित्यिक उन्नति की ओर नहीं गया। यद्यपि प्रधान हिन्दी-प्रदेश मुसलमानों के ही हाथ में था। मुस्लिम राजाश्रय में कोई मुख्य कवि नहीं हुआ, इस राजाश्रय की प्रधान भाषा पहले ३०० वर्ष केवल फ़ारसी रही और उसके बाद भी उसी की प्रधानता रही। १८वीं शताब्दी में उर्दू को राजाश्रय मिला और इसके कारण हिन्दी का थोड़ा बहुत आश्रय भी चला गया। १८०० ई० से परिस्थिति बिल्कुल बदल जाती है। इस समय ईसाई पादरियों और फोर्ट विलियम कालिज के द्वारा हिन्दी गद्य को विशेष प्रगति तो मिली, पर अंग्रेज़ों के द्वारा नवीन और मौलिक रचना को प्रश्रय नहीं मिला। दुर्भाग्य-वश हिन्दी ने अच्छा राजाश्रय नहीं पाया। यह परिस्थिति की विषमता थी। फ्रेंच और अंग्रेज़ी साहित्यों की चर्चा प्रधान रूप से १२०० ई० से ही प्रारम्भ होती है किन्तु ये साहित्य स्वराज्य के कारण बहुत शीघ्र ही अत्यन्त उन्नतावस्था को प्राप्त हो गये।

हिन्दी-साहित्य के विकास की दृष्टि से प्रजाश्रय राजाश्रय से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। उसी के द्वारा हमारी संस्कृति की रक्षा हुई है। जो लौकिक और धार्मिक धारायें इसके द्वारा पुष्ट हुईं वे प्राचीन परम्परा का ही फल थीं। भारतीय समाज की चिंतन-धारा के अध्ययन की दृष्टि से प्रजाश्रय में रचा हुआ हिंदी साहित्य विशेष महत्त्वपूर्ण है। सब से पहले पूर्वी सीमा पर संतों का साहित्य मिलता है। पश्चिमी सीमा पर जैन-साहित्य की रचना हुई। १४०० ई० से १६०० ई० तक रामानन्दी और वल्लभ-सम्प्रदाय के आन्दोलनों में श्रेष्ठ साहित्य की रचना हुई। १८७५ ई० के लगभग आर्यसमाज सुधार ने भी साहित्य को सहायता दी किन्तु ललित साहित्य की रचना इसमें नहीं हुई। राधास्वामी सम्प्रदाय में भी कोई उत्कृष्ट कवि नहीं हुआ। लौकिक साहित्य (जिसमें सूफ़ी सिद्धान्तों का भी पुट है) जायसी आदि को लेकर आता है परन्तु उसका प्रभाव महत्त्वपूर्ण नहीं है। यह १५०० ई० से आरम्भ होता है। आधुनिक काल में जो कुछ भी साहित्य-चर्चा हो रही है वह लौकिक साहित्य की ही धारा है। भविष्य का साहित्य लौकिक ही होगा। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि अधिकांश हिंदी-साहित्य की रचना प्रजाश्रय में हुई।

तीसरी समस्या साहित्य के काल-विभाग की है। इस विषय में अब विशेष मतभेद नहीं रह गया है। युग, काल और शाखा इन तीन शब्दों का प्रयोग होता है।

१२०० वर्षों के हिंदी-साहित्य को तीन युगों में विभाजित किया जाता है। (१) आदि युग, (२) मध्य युग और (३) नव युग। मध्य युग के दो विभाग पूर्व मध्य युग और उत्तर मध्य युग हैं। समय की दृष्टि से यह युग-विभाजन इस प्रकार है—

(१) आदि युग —७०० ई० से १४०० ई० तक
(२) पूर्व मध्य युग—१४०० " १६०० "
(३) उत्तर मध्य युग—१६०० " १८०० "
(४) नव युग या
वर्तमान युग —१८०० " अब तक

इन युगों के नामों के सम्बन्ध में मतभेद है। आदि युग का नाम वीरगाथा-काल या चारणकाल है। जैसा हम आगे बतायेंगे पिछला नाम अधिक उपयुक्त है। यह १४०० ई० तक चलता है परन्तु कब प्रारम्भ होता है इस विषय में मतभेद है। पूर्व मध्य युग का नाम भक्तिकाल है। रामानुज का समय १४०० ई० माना जाता है। इसी कारण भक्तिकाल का समय १४०० ई० से निर्धारित किया गया है। उत्तर मध्य युग का नाम रीतिकाल है। केशवदास की 'कविप्रिया' की रचना १६०० ई० में हुई। इससे इस काल को इसी तिथि से आरम्भ करना उचित है। अन्तिम काल का नाम गद्यकाल है क्योंकि इसी समय वर्तमान गद्य का जन्म हुआ और उसने पद्य पर प्रधानता प्राप्त की। १८०० ई० में लल्लूजी लाल ने प्रेमसागर की रचना की जो एक महत्त्वपूर्ण गद्य-ग्रन्थ है, अतः गद्यकाल इसी सन् से प्रारम्भ होना चहिये। काल-विभाग के लिए हमने जो शब्द लिखे हैं उनके स्थान पर अन्य शब्दों का भी प्रयोग होता है। परन्तु समय-विभाजन में अब कुछ अधिक मतभेद नहीं रहा है।

साहित्य का विभाग साहित्य की दृष्टि से शाखाओं में होता है। काल-क्रम से यह शाखायें निम्न प्रकार हैं—

१ आदि युग—चारणकाल ७०० ई०—१४०० ई०

अ—सिद्धों का साहित्य ७०० ई० से १००० ई० तक
आ—नाथ-साहित्य १००० " १४०० "
इ—जैन-साहित्य १००० " १४०० "
ई—चारण-साहित्य " " " "
उ—हिन्दवी साहित्य १२०० " १४०० "

२ पूर्व मध्य युग—भक्तिकाल १४०० ई०—१६०० ई०

अ—मैथिल साहित्य १४०० ई० से १६०० ई० तक

अा—संत-साहित्य	१४०० ई०	से	१६०० ई०	तक
इ—प्रेम-साहित्य या सूफ़ी साहित्य (रोमांटिक काव्य-धारा)	”	”	”	”
ई—राम-साहित्य	”	”	”	”
उ—कृष्ण-साहित्य	”	”	”	”
ऊ—डिंगल-साहित्य की धारा	”	”	”	”
ए—खड़ी बोली उर्दू साहित्य (दकनी साहित्य)	”	”	”	”

३ उत्तर मध्य युग—रीतिकाल १६०० ई० —१८०० ई०

अ—रीति-साहित्य या शृंगार-साहित्य	१६०० ई०	से	१८०० ई०	तक
अा—राम-साहित्य, कृष्ण-साहित्य	”	”	”	”
इ—संत-साहित्य	”	”	”	”
ई—डिंगल साहित्य	”	”	”	”
उ—दकनी साहित्य और उत्तर का उर्दू साहित्य	”	”	”	”

४ नव युग या वर्तमान युग—गद्यकाल १८०० ई०—अब तक

पद्य

अ—प्राचीन काव्यधारा, अा—नवीन काव्यधारा

गद्य

क—नाटक, ख—उपन्यास, ग—कहानी, घ—निबन्ध, ङ—समालोचना

इस पुस्तक में हम इसी क्रम से इन शाखाओं के साहित्य की विवेचना करेंगे। इस विवेचना में प्रत्येक युग की प्रतिनिधि धाराओं के साथ अन्य अनेक धाराएँ भी आ जाती हैं जो युग की ऐतिहासिक, यद्यपि क्षीण, प्रवृत्तियों को स्पष्ट करती हैं। साहित्य यदि जन-प्रवृत्तियों के विकास का इतिहास है तो उसमें मुख्य धाराओं के साथ गौण धाराओं को भी स्थान मिलना चाहिये।

———

आदि युग

७०० ई०—१४०० ई०

पृष्ठभूमि

राजनैतिक स्थिति

राजनैतिक दृष्टिकोण से इस युग के अन्तर्गत राजपूतकाल (६०० ई०—१२०० ई०) और पूर्व मध्य काल (१२०० ई०—१५०० ई०) का एक बड़ा भाग आ जाता है। ६०७ ई० पूर्व में हर्षवर्धन थानेश्वर के सिंहासन पर बैठा। इसने कन्नौज को अपनी राजधानी बनाया और लगभग ५० वर्ष राज किया। ६५७ ई० में हर्ष की मृत्यु के साथ ही भारतीय साम्राज्य की परम्परा का नाश हो गया और मुग़लों के समय तक कोई बड़ा और प्रभावशाली साम्राज्य न बन सका। मगध के मुखारी और गुप्त शासक राजनैतिक शक्ति के लिए झगड़ने लगे। इसी परिस्थिति में ७वीं शताब्दी का अन्त हो गया। इसी समय के लगभग भारतवर्ष का एक नवीन शक्ति से संघर्ष हुआ। यह शक्ति मुसलमानों की थी। हिन्दी प्रदेश में यह नवीन मुसलमान शक्ति १३वीं शताब्दी में आई परन्तु साहित्य और समाज पर उसका प्रभाव किसी न किसी रूप में पहले ही पड़ना शुरू हो गया था। ७११ ई० में मुहम्मद बिन क़ासिम ने आलोर पर विजय प्राप्त की और लगभग ३ शताब्दियों तक के लिए सिन्ध मुसलमानों के हाथ में चला गया। १३वीं शताब्दी में सौवीरवंश ने स्वतंत्रता प्राप्त की परन्तु कुछ ही समय बाद इसने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया।

कन्नौज के विषय में एक शताब्दी तक कुछ पता नहीं चलता। ८वीं शताब्दी में यशोवर्म देव वहाँ का राजा था। राज्यपाल के समय में कन्नौज पर महमूद ग़ज़नवी ने आक्रमण किया। राज्यपाल ने सन्धि कर ली। उसके पौत्र के बाद राष्ट्रकूट या राठौर कन्नौज के शासक हुए। इस वंश के सातवें शासक जयचन्द के समय में मोहम्मद ग़ोरी ने कन्नौज को अपने राज्य में मिला लिया।

नवीं शताब्दी के मध्य में कोई केन्द्रीभूत शक्ति न रह गई थी। सारा देश ऐसे भिन्न-भिन्न वंशों में बँट गया था जिनकी शासन-प्रणालियाँ और जिनके धर्म भिन्न-भिन्न थे। ये वंश राजपूतों के थे जिनका सम्बन्ध हिन्दी साहित्य की प्रारम्भिक वीरगाथाओं अथवा चारण गीतों से है। इनकी उत्पत्ति के सम्बंध में बड़ा मतभेद है। इसी समय मगध में पालवंश की स्थापना हुई जो १२वीं

शताब्दी के ख़िलजी वंश के समय तक चलता रहा। इसी समय के लगभग चन्द्रवंशी चन्देलों ने बुंदेलखंड में एक नये और विस्तृत राज्य की स्थापना की। १२वीं शताब्दी में परमाद्रिदेव (परमाल) इस राज्य का शासक था। कुतबुद्दीन ने इस पर विजय प्राप्त की परन्तु यह राज्य शीघ्र ही स्वतंत्र हो गया और १५१५ ई० तक (शेरशाह के समय तक) स्वतंत्र रहा।

७३६ ई० में तोमरवंश के अनंगपाल ने दिल्ली को अपनी राजधानी बनाया। ११५१ ई० में अजमेर के चौहान राजा वीसलदेव ने इसे विजय किया और इस शर्त पर कि वह उसके पुत्र सोमेश्वर से अपनी पुत्री का विवाह कर दे और उसके बाद उसका नाती राजा हो, उसे सिंहासन पर रहने दिया। यह नाती प्रसिद्ध पृथ्वीराज हुआ।

पंजाब के सम्बंध में अधिक ज्ञात नहीं। दशवीं शताब्दी के अन्त में वह पालवंश के शासकों के अधिकार में था जिन्होंने काश्मीर भी विजय कर लिया था। इसी,वंश से सुबुतगीन ग़ज़नवी का संघर्ष हुआ। १०२३ ई० में यह उसके बेटे महमूद के द्वारा मुस्लिम साम्राज्य में मिला लिया गया।

११६१ में तराईं की लड़ाई में पृथ्वीराज की पराजय हुई और कुछ ही समय में सारा हिन्दी प्रान्त विदेशियों के अधिकार में पड़ गया। १२०३ ई० में ग़ुलामवंश का पहला शासक कुत्तबुद्दीन दिल्ली के तख्त पर बैठा। गुलामवंश १२९० तक शासक रहा। इसके पश्चात् क्रमशः ख़िजली वंश (१२६०—१३२०) और तुग़लक़ वंश (१३२०—१४१२) दिल्ली के सिंहासन पर रहे। इस समय में सारे राजपूताना और मध्य देश को छोड़कर सारा हिन्दी-प्रदेश विदेशी शासकों से शासित रहा।

सारांश में, हिन्दी साहित्य का आदियुग राजनैतिक उथल-पुथल का युग था। प्रारम्भ में एक विशाल साम्राज्य था जो केवल एक शताब्दी तक रह कर छोटे-छोटे राज्यों में छिन्न-भिन्न हो गया। पिछले समय में राजनीतिक अवस्था बहुत अच्छी नहीं रही। भिन्न-भिन्न राज्य वंश अपनी स्वतंत्र उन्नति में लगे। राष्ट्रीय भावना का सर्वथा अभाव रहा और पारस्परिक कलह के फलस्वरूप यह राष्ट्र इतने दुर्बल हो गये कि विदेशी सत्ता को उन्हें नष्ट करने में अधिक कठिनाई नहीं पड़ी।

धार्मिक स्थिति

इस समय हिन्दी प्रदेश में तीन प्रधान धर्म चल रहे थे—बौद्ध-धम, जैन-धर्म और ब्राह्मण-धर्म। मुसलमानों के प्रवेश के साथ एक अत्यन्त प्रभावशाली शासक धर्म—इस्लाम—का भी प्रवेश हुआ जिसने भारतीय धर्माचार्यों के सम्मुख एक कठिन समस्या उत्पन्न कर दी।

बौद्ध-धर्म हिन्दी प्रदेश के पूर्व में अब भी चल रहा था। उसका ह्रास पौराणिक काल (१ ई०—६०० ई०) में ही हो चुका था। परन्तु नवीं शताब्दी तक अर्थात् शंकराचार्य के समय तक यह किसी न किसी रूप में चलता रहा। ह्युयेन च्वाँग के विवरण से ७वीं शताब्दी से इसकी अवनति के प्रमाण मिलते हैं। १२वीं शताब्दी के अन्त तक तो मगध और बङ्गाल को छोड़कर भारत के प्रायः सभी प्रदेशों से यह नष्ट हो चुका था। उत्तर-कालीन बौद्धधर्म में मन्त्रयान नाम का एक सम्प्रदाय प्रतिष्ठित हुआ था। इसका समय ४०० ई० से ७०० ई० तक है। इसमें योग और तंत्र दोनों का समावेश किया गया। इसके केन्द्र मगध, बङ्गाल, नैपाल की तराई और पूर्वी हिंदी प्रदेश थे। यह मध्यम मार्ग का आश्रय लेता था अतः इसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति को बराबर स्थान मिला था। इसका परवर्ती रूप वज्रयान ८०० ई० से १२०० ई० तक चलता रहा। यह मन्त्रयान का ही परिवर्तित रूप है। बौद्ध धर्म पर हिन्दू तंत्र का भी प्रभाव पड़ा और उसके तान्त्रिक सम्प्रदाय का जन्म हुआ। १०६६ ई० में विक्रमशिला के दीपंकर श्रीज्ञान भिक्षु ने तिब्बत में जाकर जिस महायान का प्रचार किया था वह वैष्णव मत और तान्त्रिक विचारों से संश्लिष्ट था।

इस समय जैन-धर्म का केन्द्र अपने जन्म-स्थान से दूर गुजरात और दक्षिण में था। यह भी अपने शुद्ध मौलिक रूप में नहीं था। वरन् वैष्णव, तन्त्र और बौद्ध मतों की बहुत-सी बातों को अपना कर चल रहा था। उनकी तरह इसमें भी मूर्तिपूजा और अवतारों के रूप में २४ तीर्थंकरों की भावना का विकास हो गया था। चौल राजाओं के समय में शैवमत के प्रचारकों की असहिष्णुता से जैन-धर्म दक्षिण में भी क्षीण हो गया परंतु उसी समय सोलंकी राजाओं और हेमचन्द्र प्रभृति आचार्यों को पाकर यह धर्म पश्चिम (राजपूताना, मालवा और गुजरात) में समृद्धि को प्राप्त हुआ।

ब्राह्मण-धर्म कई भिन्न रूपों में मिलता है। अपने मौलिक रूप में वैदिक कर्मकांडों को लेकर मीमांसिक लोगों में यह अब भी चल रहा था। बहुत पहले से इसकी प्रतिद्वन्दिता बौद्ध धर्म से थी। बौद्ध धर्म के ह्रास से इसको विकास का विशेष अवसर मिला। बुद्ध को देवता मान लिया गया और मूर्तिपूजा की कल्पना के कारण मन्दिरों का आविर्भाव हुआ। ब्राह्मण-धर्म में पौराणिकता की विशेषता थी। सातवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में कुमारिल भट्ट ने वैदिक कर्मकांडी धर्म की प्रतिष्ठा करने की एक बार फिर चेष्टा की। इन्हें पशुबलि मान्य थी। ८वीं शताब्दी में शंकराचार्य ने बौद्धमत के साथ इसका

भी खंडन किया। उनके बाद ब्राह्मणधर्म मुख्यतयः अपनी एक प्रशाखा वैष्णव-धर्म के रूप में चलता रहा।

इस वैष्णव-धर्म को इस काल से पहले ही लगभग १००० वर्ष विकास के लिए मिल चुके थे। हरिधर्म या एकान्तिक धर्म के नाम से इसका जन्म पशुबलि के विरोध का रूप लेकर हुआ, फिर नारायण, विष्णु, वासुदेव और कृष्ण की भावनाओं के सम्मिलन से इसका रूप स्थिर हुआ। इस समय तक यह मिश्रण हो चुका था और वैष्णव-धर्म की एक विशिष्ट धारा चल रही थी जिसकी विशेषता उसकी भक्ति-भावना थी। जान पड़ता है कि इस युग के आरम्भ में सारे हिन्दी प्रदेश में शैव या शाक्त धर्म राजपूतों को लेकर आया और १२वीं शताब्दी के अन्त तक इसका प्राधान्य रहा। वैष्णव-धर्म इस समय (९वीं शताब्दी के लगभग) उत्तर से हटकर दक्षिण में चला गया था जहाँ पहले विष्णु के कृष्ण और फिर राम अवतार की भक्ति के रूप में अलवार भक्तों और राजाओं ने इसे अपनाया। १३वीं शताब्दी में राजपूतों की शक्ति के नाश होने और इस्लामी राज्य की स्थापना के साथ वैष्णव धर्म फिर उत्तर में आया जहाँ एक शताब्दी बाद उसने कई भक्ति-सम्प्रदायों को जन्म दिया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस काल में शिव, ब्रह्मा और विष्णु (त्रिमूर्ति) की उपासना का विशेष प्रचार था। इनमें ब्रह्मा की उपासना के सम्प्रदाय नहीं मिलते परन्तु शेष दोनों देवताओं के सम्प्रदाय अवश्य थे। उनकी प्रतिष्ठा में निर्माण किये गये मन्दिर आज भी पाये जाते हैं। देवियों की पूजा इसी काल में आरम्भ हुई और इसका सम्बन्ध अधिकतः तंत्र और शक्ति सम्प्रदायों के साथ रहा। वैदिक देवता भी चल रहे थे। इस युग के अन्त होते-होते स्मार्त्त धर्म विकसित हो चुका था और उसके उपासकों के द्वारा पंच पूज्य देवता सूर्य, विष्णु, शक्ति, रुद्र और शिव स्थिर हो गये थे एवं उनके विशेष मन्दिर पंचायतन के नाम से बन रहे थे।

सामाजिक स्थिति

हिन्दू धर्म के पुनरोत्थान के साथ (पौराणिक युग एक ई०—६०० ई०) वर्णाश्रम संस्था की उन्नति हुई। सुयेन च्वाँग ने ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र वर्णों का उल्लेख किया है। परन्तु इस संस्था के पुनरोत्थान में पहले की-सी कड़ाई नहीं आई। बौद्ध-धर्म के उत्कर्ष के समय से उसमें जो शिथिलता आ गई थी वह वैसी ही बनी रही। अतः कर्त्तव्य-विभाग शिथिल हो रहा था। एक जाति ने दूसरी जाति का काम अपना लिया था। उपजातियाँ भी बनने लगी थीं। पहले शूद्र वर्ण अस्पर्श्य

नहीं था परन्तु धीरे-धीरे बहुत से काम तुच्छ और हीन समझे जाने लगे। इस युग के मध्य में राजपूतों के प्रादुर्भाव के कारण युद्ध में काम आनेवाले वर्ग अर्थात् क्षत्री वर्ग की प्रतिष्ठा सबसे बढ़ गई। मुसलमानों के प्रवेश के समय तक स्पर्श्य—अस्पर्श्य का प्रश्न महत्त्वपूर्ण हो गया था और विवाह आदि सम्बन्ध धीरे-धीरे बहुत ही संकीर्ण क्षेत्र में होने लगे थे। इस युग के अन्तिम वर्षों में यह संकीर्णता एक ओर विदेशी जाति के प्रति बढ़ी और हिन्दू-मुसलमानों के बीच में एक दीवार की भाँति खड़ी हो गई और दूसरी ओर इसने आपस ही में वर्गीकरण की भावना को उत्तेजना दी। यह नवीन धर्म से संघर्ष की प्रतिक्रिया थी। शासक-धर्म होने से इसके मोह से बड़ी हानि की सम्भावना थी, इसलिए अपने दल को लेकर बचकर चलने और नये धर्मावलम्बियों के सामाजिक बहिष्कार की योजना हुई जो अभी तक किसी न किसी रूप में चल रही है। इसका लाभ यह हुआ कि उस आपत्ति काल में भी हिन्दू संस्कृति सुरक्षित रह सकी। परन्तु इस विरोध के भाव ने सदा के लिये राष्ट्रीयता के समर्थकों के सामने एक समस्या उत्पन्न कर दी। इस युग के अन्त होते-होते दोनों जातियों के वैषम्य और द्वेष को दूर करने का प्रयत्न हो चला था। 'काफ़िरबोध' का एक पद्य "हिन्दू मुसलमान दोनों खुदा के बन्दे। हम जोगी न रहें काहू के फन्दे" गोरखपन्थियों द्वारा किये गये इस प्रयत्न की ओर इशारा करता है। इस दिशा में भक्तिकाल के प्रारम्भ के सन्त कवियों और सूफियों ने विशेष प्रयत्न किया।

भाषाओं की स्थिति

इस युग के प्रारम्भमें संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाएं साहित्य के लिए प्रयुक्त हो रही थीं। संस्कृत और प्राकृत के विद्वान् राजदरबारों से सम्बन्धित होते थे। अपभ्रंश का साहित्य जनता में शुरू हो रहा था। आगे इसका बहुत विकास हुआ। इसी अपभ्रंश से वर्तमान काल की साहित्यिक और प्रादेशिक भाषाओं की उत्पत्ति हुई है। इस प्रकार अपभ्रंश से कुछ मिला-जुला रूप इस समय की हिन्दी का मिलता है। यह मिश्रित रूप १४०० तक चलता है। इसके बाद भी अपभ्रंश में कुछ ग्रन्थ अवश्य लिखे गये परन्तु हिन्दी उसके प्रभाव से छूट गई थी और स्वयम् उसका विशाल साहित्यिक ब्रज और अवधी के दो प्रधान रूपों में बनने लगा था।

साहित्य की स्थिति

इस काल में मौलिक रचना बहुत थोड़ी हुई हैं। अधिकतः पूर्वलिखित

ग्रन्थों की टिप्पणियाँ और टीकायें लिखी गईं। ९००ई० में मनुस्मृति की टीका हुई और ११००ई० के लगभग याज्ञवल्क्य की मिताक्षर टीका। उपपुराणों की रचनाएँ भी इसी समय हुईं। श्री मद्भागवत ने हिन्दी साहित्य पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव डाला है। इसकी रचना ७०० ई० और १२०० ई०—१३०० ई० के बीच में हुई।

दार्शनिक सम्प्रदायों का बाहुल्य होने के कारण षट्दर्शन-विषयक ग्रन्थों की रचना हुई। कुमारिल भट्ट ने तंत्रवार्तिक नाम से मीमांसा-सूक्तों का प्रसिद्ध भाष्य किया। शंकराचार्य, रामानुज और मध्व ने त्रयी पर भाष्य लिखे और क्रमशः अद्वैत, विशिष्टाद्वैत और द्वैत मत का सम्पादन किया। यह युग दर्शन और धर्म सम्बन्धी हलचलों का युग था।

ललित काव्य में जो रचनाएँ हुईं उनमें भी पिछले पौराणिक युग से कोई विशेष अन्तर नहीं है। इस समय के प्रसिद्ध संस्कृत ग्रंथ माघ का 'शिशुपाल-बध', श्रीहर्ष का 'नैषध-चरित्र', सुबन्धु का 'वासवदत्ता', बाण भट्ट का 'कादम्बरी', राजेश्वर का 'वेणीसंहार' और 'कर्पूरमंजरी' तथा भवभूति के नाटक हैं। इसी समय 'आर्या सप्तशती' और 'अमरुक शतक' की रचनाएँ हुईं जिनका विहारी पर प्रभाव पड़ा और उनके द्वारा रीतिकाल पर। सच तो यह है कि रीतिकालीन कृतियों पर संस्कृत की इस काल की रचनाओं की बड़ी छाप रही है। काव्यशास्त्र में भरत का नाट्य शास्त्र, धनञ्जय का दशरूपक और मम्मट कृत काव्यप्रकाश इसी समय लिखे गये। इस प्रकार काव्यांग की विशेष पुष्टि हुई और उसके कई सम्प्रदाय क्रमशः रस, अलंकार और ध्वनि को सर्वोपरि मानकर चले। १४०० ई० से इस प्रकार के साहित्य की रचना हिंदी में भी होने लगी और इन रचयिताओं ने संस्कृत आचार्यों को पथप्रदर्शक माना।

इस युग में अपभ्रंश और प्राकृत की रचनाएँ हिन्दी प्रदेश की पूर्वी और पश्चिमी सीमान्तों और उसके बाहर अन्यत्र हुईं। हिन्दी का सिद्ध-साहित्य, जैन-साहित्य और प्रारम्भिक चारण-साहित्य अपभ्रंश में है या उससे प्रभावित है।

आदि युग का हिन्दी साहित्य डिंगल (पश्चिमी राजस्थान की भाषा), मगही, हिन्दवी या सरहिन्दी या सामान्य भाषा या सन्त भाषा और पुरानी हिन्दी में मिलता है। पुरानी हिन्दी जैन-साहित्य की भाषा है। पं० चन्द्रधर गुलेरी इसे हिन्दी का ही पुराना रूप मानते हैं परन्तु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मत में यह भाषा नागर अपभ्रंश है। डा० धीरेन्द्र वर्मा मगही में प्राप्त रचनाओं को भी अपभ्रंश का एक रूप अर्धमागधी अपभ्रंश मानते हैं। इस तरह सिद्ध और जैन साहित्य को अपनाने के विषय में मतभेद है। साधारणतयः भाषायें

१००० ई० से पहले अपभ्रंश ही की दशा को प्राप्त हैं। वह समय अपभ्रंश के उत्कर्ष का था। अतः स्वभावतः उस समय हिन्दी की उपस्थिति बहुत कुछ कल्पना का विषय ही कही जा सकती है। गोरखनाथ की भाषा के सम्बन्ध में इतनी सामग्री नहीं मिली है कि यह जाना जा सके कि उसका कितना अंश हिन्दी है।

उपसंहार

सातवीं शताब्दी में पूर्वीय भारत (युक्त प्रान्त, बिहार, बंगाल, आसाम और नैपाल) में बौद्ध धर्म काफ़ी प्रबल था परन्तु वह महायान शाखा से अधिक प्रभावित था जो सन् ई० की पहली शताब्दी से प्राचीन बौद्ध धर्म से अलग हो गई थी। मुसलमानों के आक्रमण के समय भी इसका अस्तित्व था। ८वीं शताब्दी में बंगाल में जो पालवंश का राज्य स्थापित हुआ वही बौद्ध धर्म का अन्तिम राजाश्रय था।

महायान सम्प्रदाय में लोक-धारणाओं को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला था। इसके फलस्वरूप धीरे-धीरे तन्त्र, मन्त्र, जादू-टोना, धारणा, ध्यान और अन्त में अभिचार, मारण, वशीकरण, उच्चाटन और तंत्र-जंत्रवाद धीरे-धीरे बौद्ध धर्म में प्रवेश कर गये और उसका एक विशिष्ट अंग बन गये। जन-साधारण धर्म के ऊँचे सिद्धान्तों तक नहीं उठ सकता था तो धर्म ही नीचे उतर आया और उसने रहस्यपूर्ण तांत्रिक अनुष्ठानों से जनता का हृदय जीतना चाहा। इसका फल यह हुआ कि बौद्ध साधकों का एक दल सुधार के लिए उठ खड़ा हुआ। यह सिद्धों का दल था।

महायान के अन्तिम रूप वज्रयान और सहजयान थे। वज्रयान में योग का अंश अधिक था। कष्टपूर्ण व्रत, संयम, जप-तप आदि को इसमें महत्त्वपूर्ण स्थान मिला था। सहजयान ठीक इसके विपरीत था। इसमें पांडित्य, योग और कष्टपूर्ण साधना का स्थान नहीं था। वास्तव में मूल महायान और उसके दोनों अन्तिम रूपों का प्रभाव हिन्दी साहित्य पर है। बज्रयान की साधनाओं से शैव साधनाओं का मेल होने से नाथ-सम्प्रदाय की साधनाओं का जन्म हुआ। हिन्दी की प्रारम्भिक रचनाएँ इन्हीं साधनाओं को हमारे सामने रखती हैं। सहजयान की साधना नाथ सम्प्रदाय की साधना के मुक़ाबले में सन्तमार्ग या सहजमत के रूप में हमारे सामने आई। दोनों पर महायान के सिद्धान्तों और उसके तात्त्विक चिन्तन का प्रभाव लक्षित है।

इस प्रकार हिन्दी साहित्य के आरम्भ काल में धार्मिक क्षेत्र में महायान और उसमें सुधार करनेवाली शक्तियाँ अधिक प्रबल थीं। महायान प्रचलित

जनमत था जिसमें नामजप, अवतारवाद, भक्तिवाद, तंत्र-मंत्र, अभिचार आदि का प्रमुख स्थान था। परन्तु धीरे-धीरे अन्य धार्मिक शक्तियाँ क्षेत्र में आईं। इन्हें एक शब्द में "स्मार्त" कह सकते हैं। इनका प्रमुख रूप ब्रह्मा, विष्णु, महेश (त्रिदेवों) की उपासना था। इस स्मार्त-पुनुरुत्थान पर बौद्ध धर्म के सभी प्रचलित मतों का प्रभाव पड़ा। स्मार्त-भावधारा में विष्णु की प्रधानता होने के कारण हम उसे वैष्णव भी कह सकते हैं। भावना की दृष्टि से यह धारा भक्ति-मूलक थी। इसमें महायानी भक्ति का प्रभाव था। जिसमें आत्म-विस्मृति की भावना अधिक थी। चिन्तन की दृष्टि से इसका मूल प्रस्थानत्रयी (वादरायण का ब्रह्मसूत्र, उपनिषद और गीता) में था।

इस तरह हम देखते हैं कि आदि काल में तीन धर्मिक धाराएँ चल रही थीं। पहली धारा सहजयानी सिद्धों की थी जिसने हिन्दी की संतधारा पर भी प्रभाव डाला और जो मूल रूप में बौद्ध थी। दूसरी धारा हठयोगी नाथों की थी। इसी का परिवर्तित और परिवर्द्धित रूप कबीर आदि की निर्गुण या संतधारा है। यह दोनों धारायें लोकापेक्षित थीं। तीसरी धारा स्मार्त वैष्णवों की थी। इसके ब्राह्म और शैवरूप भी थे। यह धारा शास्त्रपेक्षित थी इनके अतिरिक्त संस्कृत साहित्य का अध्ययन करने से दो और साहित्यिक धाराओं का पता चलता है जिन्होंने मध्ययुग के हिन्दी साहित्य में विशेष रूप से योग दिया। इन धाराओं का सम्बन्ध शैली से अधिक है। एक ने स्तोत्र साहित्य को जन्म दिया जिसका स्पष्ट प्रभाव हम बाद में विद्यापति और तुलसी की रचनाओं में देखते हैं। दूसरी ने उस मुक्तक शैली में लिखे हुए साहित्य को जन्म दिया जिसमें विषय नीति और शृङ्गार थे। और जो लोक-जीवन मिला कर चलता था। इसने रहीम आदि दरबारी कवियों और तुलसी आदि भक्त कवियों के नीति-सम्बन्धी साहित्य को प्रभावित किया एवं फुटकर छन्दों और सतसई की परम्परा में प्रकाशित साहित्य को बल दिया।

हिन्दी प्रदेश की पश्चिमी सीमा में चारण कवियों के मुख से क्षत्रिय दर्प और वीरता का वर्णन हो रहा था यद्यपि इन कवियों की दृष्टि विराट नहीं थी। ये अधिकतर अपने आश्रयदाताओं के वीरत्व का वर्णन करते थे जो पारस्परिक युद्धों के रूप में प्रगट होता था। यह युद्ध कुलाभिमान और राज-कुमारों की विलास-प्रियता की तुष्टि के लिए किये जाते थे। यह साहित्य इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि संस्कृत के बीच में लोक-भाषा यहीं पहली बार स्वीकार की गई।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अगले युग में धर्म और साहित्य के क्षेत्र में जो आन्दोलन हुए उनका मुख जनता की ओर था और उनका विकास स्वाभाविक था। उनमें लोक-संघर्ष से भागने की भावना नहीं थी, न पराजय की प्रतिक्रिया। विदेशी आक्रमण के बहुत पहले ही भारतीय चिन्तन और साधना की प्रवृत्तियाँ अन्तर्मुखी हो चली थीं। इन साधनाओं का लक्ष्य व्यक्ति की दुष्प्रवृत्तियों का नाश और सद्प्रवृत्तियों का उत्थान था। विदेशी प्रभाव भारतीय साधना-क्षेत्र को अधिक प्रभावित नहीं कर सका। केवल सूफ़ी और संत-साहित्य तक सीमित रहा। हाँ, वातावरण का थोड़ा बहुत प्रभाव पड़ना आवश्यक था और हम इस प्रभाव को परम्परागत मूल धार्मिक और साहित्य-प्रवृत्तियों से अलग कर सकते हैं।

अ—सिद्ध-साहित्य* १, २, ३

सिद्ध-साहित्य का उद्घाटन अभी १० वर्ष पहले त्रिपिटकाचार्य राहुल साकृत्यायन ने किया है। इनकी खोजों से पता चला है कि सिद्ध कवि ७०० ई० में वर्तमान थे। सिद्ध-धारा १२०० ई० तक अपने पूर्ण बल के साथ चलती रही। इस धारा में योग देनेवाले ८४ सिद्धों के नाम इस प्रकार उल्लिखित मिलते हैं—लूहीपा, लीलापा, विरूपा, डौंभिपा, शवरीपा, सरहपा, कंकालीपा, मीनपा, गोरक्षपा, चौरंगीपा, वीणापा, शांतिपा, तंतिपा, चमरिपा, खड्गपा, नागार्जुन, कण्हपा, कर्णरिपा, थगनपा, नारोपा, शीलपा, तीलोपा, छत्रपा, भद्रपा, दोखंधिपा, आजोगिपा, कालपा, धोम्भीपा, कंकणपा, कमरिपा, डोंगिपा, भदेपा, तंधेपा, कुक्कुरिपा, कुचिपा, धर्मपा, महीपा, अचिंतिपा, भल्लहपा, नलिनपा, भूसुकुपा, इंद्रभूति, कुठालिपा, कमरिपा, जालंधरपा, राहुलपा, धर्वरिपा, धोकरिपा, मेदनीपा, पंकजपा, घंटापा, जोगीपा, चेलुकपा, गुडरिपा, लुचिकपा, निर्गुणपा, जयानंत, चर्पटीपा, चम्पकपा, भिखनपा, भलिपा, कुमरिपा, चंवरिपा, मणिभद्रा (योगिनी), कनखलापा (योगिनी) कलकलपा, कंतालीपा, धहुरिपा, उधरिपा, कपालपा, किलपा, सागरपा, सर्वभक्षपा, नागबोधिपा, दारिकपा, पुतुलिपा, पनहपा, कोकालिपा, अनंगपा, लक्ष्मीकरा (योगिनी), समुदा, भलिपा। इनमें सरह (सरहपाद या सरहा या सरोजवज्र), शवरि,

*सिद्ध-साहित्य के विशेष अध्ययन के लिए देखिए—

१—हिन्दी के प्राचीनतम कवि और उनकी कविताएँ—
राहुल सांकृत्यायन (गंगा-पुरातत्त्वांक)

२—मंत्रयान, वज्रयान और चौरासी सिद्ध (वही)

३—चौरासी सिद्ध—ले० वही ('सरस्वती', जून १९३१)

लूहि, दारिक, वज्रघंटा, जालंधर, कराहपा (कन्हपा) और शान्तिपा मुख्य हैं।

सिद्धों का सम्बन्ध नालन्दा और विक्रमशिला के बौद्ध शिक्षा-केन्द्रों से है। ये लोग वज्रसत्व के उपासक थे और उनका साहित्य धार्मिक साहित्य के अन्तर्गत आता है। सिद्ध-साहित्य मगही में है जो मागधी अपभ्रंश से निकली है। सिद्धों के समय में यह पूर्वी बिहार की जनता की भाषा थी। सिद्धों ने प्रचार-कार्य को सामने रखते हुए इसी का उपयोग किया। भोटिया भाषा का एक संग्रह-ग्रन्थ तजूर में है। आज जो हमें सिद्ध कवितायें मिली हैं, वे इसी भाषा में अनुवाद के रूप में मिली हैं। इन रचनाओं में साहित्यिकता की मात्रा बहुत कम है। इस खोज के अनुसार हिन्दी के प्रथम कवि लेखक सरहा या सरहपा माने जा सकते हैं जिनका समय राहुल सांकृत्यायन के अनुसार ७६९ ई० है। समय की दृष्टि से सिद्ध-साहित्य की धारा हिन्दी साहित्य में सब से प्राचीन है।

समस्या यह है कि आदि युग में जो सिद्ध-साहित्य लिखा गया वह हिन्दी के अन्तर्गत है या नहीं। मन्त्रयान और वज्रयान की सामग्री अभी पूर्णतः उपलब्ध नहीं हुई है। यह सामग्री ४०० ई० से ८०० ई० तक और ८०० ई० से १२०० ई० तक की है या नहीं, इसकी भी परीक्षा नहीं हो सकी है। इस ऐतिहासिक कठिनाई के अतिरिक्त दो और कठिनाइयाँ साहित्य-सम्बन्धी हैं। पहली कठिनाई भाषा-संबंधी है। जो उद्धरण उपस्थित किये गये हैं उनकी परीक्षा करने पर यह प्रतीत होता है कि वे हिन्दी के प्राचीन रूप न होकर अपभ्रंश के प्राचीन रूप हैं। यह मागधी अपभ्रंश से समन्वित जान पड़ते हैं। इनमें संयुक्त अक्षरों का विशेष प्रयोग मिलता है और व्याकरण के रूपों में संयोगात्मकता है। दूसरी कठिनाई भाषा-संबन्धी है। सिद्ध-साहित्य की रचनाओं में साहित्य के मूल तत्त्व लालित्य (साहित्यिकता) की मात्रा बहुत की कम है। वह एकदम धार्मिक साहित्य है। यह अवश्य है कि हमारे साहित्य में धार्मिक साहित्य की प्रधानता है, परन्तु सूर, तुलसी और कबीर आदि का काव्य धार्मिक साहित्य होते हुए भी ललित साहित्य के अन्तर्गत आ जाता है। वहाँ भी किसी-किसी कवि के सम्बन्ध में यह कठिनाई अवश्य पड़ती है। परन्तु यहाँ सारे सिद्ध-साहित्य के संबन्ध में यह कठिनाई उपस्थित है। वह साहित्य है भी ? यदि है तो भाषा की दृष्टि से वह हिन्दी के अन्तर्गत आता है या अपभ्रंश के ? जब तक अतिरिक्त सामग्री प्राप्त नहीं होती, तब तक ये दोनों प्रश्न बने ही रहेंगे।

वज्रयान

उत्तरकालीन बौद्ध धर्म में मन्त्रयान नाम का एक सम्प्रदाय स्थापित हुआ था। इसका समय ४०० ई० से ७०० ई० तक है। उसमें योग और तन्त्र दोनों का समावेश किया गया था। इसके केन्द्र मगध, बङ्गाल, नैपाल की तराई और पूर्वी हिन्दी प्रदेश थे। यह मध्यमार्ग का अनुसरण करता था। न कृच्छ्र-साधन, न भोगवाद। मन्त्रयान का ही परिवर्तित रूप या उसे उसका उत्तराधिकारी कहिये, वज्रयान है। यह एक प्रकार का वाममार्ग है, मन्त्रयान में ही हम मन्त्रयोग आदि से परिचित हो जाते हैं। परन्तु इनका विशेष विस्तार वज्रयान में ही मिलता है। मन्त्रयान और वज्रयान से संबंध रखने वाले अनेक सिद्ध हो गये हैं। हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि वज्रयान, सहजयान, मन्त्रयान और तन्त्र-यान महायान की अन्तिम शाखाएँ थीं।

सिद्ध-धारा वज्रयान से सम्बन्धित है इसलिए इस पर विस्तार-पूर्वक विचार करना ठीक होगा।

वज्रयान में अन्तःसाधना की ओर विशेष बल दिया जाता था। यह अंतः-साधना बहुत कुछ हठयोग की साधनाओं से मिलती-जुलती है, परंतु इसमें संयम का स्थान उतना नहीं है। वास्तव में वह वामाचार को स्वीकार करती है। हठयोग की तरह वह भी घट (शरीर) को महत्त्व देती है और उसी में निर्वाण (मोक्ष) के महासुख (महासुह) के प्राप्त करने का दावा करती है। इस महासुख के प्राप्त करने पर साधक आवागमन से छुटकारा पा जाता है। वज्रयानी योगमार्गीय बौद्धों ने ईश्वरत्व की भावना का शुद्ध आरोपण किया है। इस प्रकार वे सगुणवाद के निकट हैं परंतु साधना के लिए वे निर्गुणवाद को ही स्वीकार करते हैं। सरहपा का कहना है—

> जहि मन पवन न सञ्चरइ रवि ससि नाह पवेस
> तहि वट चित्त विसाम करु सरहे कहिअ उवेस

यह शून्य देश (सुन्न) है। जहाँ पहुँच कर साधक महासुख की प्राप्ति करता है। इस देश में पहुँचने का मार्ग इडा (गङ्गा) और पिंगला (यमुना) के बीच की सुषुम्ना नाड़ी है।

परन्तु जहाँ पतंजलि का योग (जिससे वज्रयान प्रभावित जान पड़ता है) दक्षिण (ऋजु) मार्ग से चलता है। वहाँ वज्रयान वाममार्ग को प्रश्रय देता है[४]

४—उजुरे उजु छाड़ि मा लेहु रे बंक। निअहि बोहि मा जाहु रे लङ्क॥ (सरह)

और पंचमकारों (१ मानिक, २ मदिरा, ३ मच्छ, ४ मांस, ५ मैथुन) के सेवन को साधक के लिए आवश्यक समझता है। साधना-प्राप्त महासुख की अवस्था को स्थिर करने के लिए वारुणी सेवन को स्वीकार किया गया है। (सहजे थिर करि वारुणी साध—विरूपा)। गृहिणी के साथ कामकेलि को मंत्र-तंत्र से ऊँचा माना गया है।[५] निव्वाण का महासुह सहवास सुख के द्वारा अनुभव एवं पुष्ट किया जाता है। परनारियों विशेषकर नीची जाति की नारियों (डोमिनी, रजकी आदि) को लेकर मद्यपान द्वारा उत्तेजित इन्द्रियों के साथ कामशास्त्र द्वारा प्रतिष्ठित अनेक आसनों का उपभोग करते हुए साधक महासुख की प्राप्ति करे।[६] साधन-मार्ग में माता, सास, बहिन, पुत्री आदि भी वर्जनीय नहीं समझी जाती थीं। परवर्ती काल में जो परकीया उपासना चली और जिसने बङ्गाल की राधा को भी विकृत कर दिया। उसका मूल भी वज्रमार्गीय सिद्धों में ही मिलता है। सिद्धों की कविता में हम अभिसार के गीत पाते हैं और सास ननद की निन्दा सुनते हैं।[७] अनहदनाद की प्राप्ति का भी उपदेश है (अनह डमरु वाजई वीर नादे)। गुरु का महत्त्व है (का आ नावड़ि मन करिआला सद्गुरु वअणे धर पतवाल) परन्तु प्रतीक (स्त्री-पुरुष के आलिगन सुख) को वास्तविक रूप में ग्रहण करने (जिमि लोण विलिज्जइ पाणि एहि तिमि धरणी लइ चित्त) और कायिक सुख को आध्यात्मिक सुख मान लेने एवं गुरु की प्रतिष्ठा के कारण वज्रयान कदाचित् अपने समय में भी दूषित एवम् निंद्य रहा होगा। इसी से साधना को छिपाने की पद्धति चली और प्रतीकों का प्रयोग बहुतायत से हुआ। इसके

५—एक ण किज्जई मंत्र ण तंत। णिअ घरणी लइ केलि करंत।
णिअ घर घरणी जाव ण मज्जइ। ताव कि पञ्चवर्ण विहरिज्जइ॥

६—नगर बाहिरे डोंबी तोहरि कुड़िया छइ   (कण्हपा)
छोइ जाइ सो ब्राह्म नाड़िया।
आलो डोंबि ! तोए सम करिब म सांग। (वही)
गंगा जंउना माझेरे बहइ नाईं।
तहि बुड़िलि मातंगि पोइआ लीले पार करेइ।
बाहुत डोंबी, बाहलो डोंबी बाट तभइल उछारा।
सद्गुरु पाअ पए जाइ पुणु जिणउरा॥

७—राग देस मोह लाइअ छार। परम मोख लवए मुत्तिहार।
मरिअ सासु नणंद घरे शाली। माअ मारिया, कण्ह, भइअ कबाली।

ातिरिक्ति उलटबाँसियों का भी जन्म हुआ। जान पड़ता है कि बहुत समय
क यह साधना-पद्धति खुले रूप से जन-समाज के सामने न आ सकी होगी
ौर इसी लिए इसे छिपाने की आवश्यकता समझी गई और इसके लिए
ंध्या-भाषा' का प्रयोग हुआ एवं मिथ्या रहस्यवाद की सृष्टि हुई।[८]

सिद्ध-साहित्य की धारा जहाँ इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि वह हमारी ाहित्य की आदि धारा है वहाँ वह परवर्ती साहित्य-धाराओं और मध्य युग की ार्मिक चिन्ता के अध्ययन के लिए भी कोई कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इस धारा ; अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी साहित्य की मूल शक्ति ंदी प्रदेश की जनता की धार्मिक भावना रही है। पहले यह भावना शून्य ौर फिर निर्गुण ब्रह्म की ओर उन्मुख रही, परन्तु धीरे-धीरे इसकी विरोधी श्चिमी हिंदी-प्रदेश में अप्रगट रूप से बहने वाली सगुण वैष्णव धारा ने महत्ता ाप्त कर ली और प्राचीन शास्त्रों और धर्म-ग्रन्थों का सहारा लेकर एक नए कार के साहित्य की सृष्टि की जिसके आश्रय राम और कृष्ण थे। यह भी ता चलता है कि संत-धारा की तरह सिद्ध-धारा का रूप भी बड़ा व्यापक था ौर उसमें अधिकतः निम्न वर्ग के लोग सम्मिलित थे, यद्यपि सरहपा ब्राह्मण ौभिपा जैसे क्षत्री भी उसमें दीक्षित थे। शून्यवाद के प्रचार और अंतर्साधना ी अभिव्यक्ति के कारण सिद्ध-साहित्य में प्रतीकों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में आ और परवर्ती नाथ और संत-साहित्य ने अनेक प्रतीक इसी से लिये।

यही नहीं, सिद्धों ने ही पहली बार आध्यात्मिक साधना को स्पष्ट करने के िए प्रकृति के व्यापारों का सहारा लिया। संत साहित्य में अपने भीतर अमृत ; बादल बरसते देखता है। उसका हृदय किसी विशेष साधना की सफलता र वसन्त बन जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि संत-साहित्य में अंत-ाधना को प्राकृतिक व्यापारों की परिभाषा में प्रगट करने की जो चाल थी वह िद्धों से आती हुई एक प्राचीन परम्परा पर आश्रित थी। इसके अतिरिक्त ोहा-चौपाई और रागों से बँधे हुए पद की यह परम्परा जो कबीर, तुलसी और ृष्ण-कवियों के काव्य में प्रस्फुटित हुई है पीछे चल कर इन सिद्ध कवियों पर ी रुकती है। सिद्ध-साहित्य में हमारी परिचित भैरवी, पटमंजरी, कामोद, राग-ागनियों और हमारे अपरिचित देशाख, रामकी, गवड़ा, वरावड़ा, मल्लारी,

---

८—बेंग संसार बाड्हिल जाअ। दहिल दूध कि बेंटे समाअ।
बलद बिआएल गविआ बाँझे। पिटा दुहिए एतिना साँझे।

वज्रगीतिका, शवरी, और देवकी जैसी अनेक राग-रागनियों का प्रयोग हुआ है।

आ—नाग-साहित्य (नाथ-साहित्य)

सिद्ध-पंथ के वामाचारों की प्रतिक्रिया के रूप में उसी के अंतर्गत एक ऐसा वर्ग उठ खड़ा जान पड़ता है जिसने उसमें सुधार की चेष्टा की। कदाचित् यह सुधारक वर्ग सफल नहीं हुआ, अतः उसने सिद्धों से सम्बंध-विच्छेद कर लिया और शैवमत का अनुयायी हो गया। इस प्रकार नागपंथ या नाथ-पंथ का जन्म हुआ जो विचार-धारा की दृष्टि से हिंदू धर्म के भीतर आता है।

नाथपंथ के आदि गुरु आदि नाथ अर्थात् भगवान् शंकर माने जाते हैं परंतु लौकिक रूप से इसके प्रवर्तक मत्स्येंद्र (मछुंदरनाथ) थे। यद्यपि इस पंथ को ठीक-ठीक स्वरूप देने का श्रेय उनके शिष्य गोरखनाथ को ही होगा। एक धारणा यह है कि गोरखनाथ ने ही वज्रयान में ही विशेष सुधार किया। उन्होंने वेदविहित असंयत वामाचारों को निंद्य बताया और शंकराद्वैत और पतंजलि के योग का आश्रय लिया। ८४ सिद्धों में गोरखनाथ का भी स्थान है। गोरखनाथ ने बुद्ध के स्थान पर शिव को रखा और हठयोग के द्वारा उनकी प्राप्ति संभव कही। परंतु वह शिव के साथ शक्ति की भावना को अलग नहीं कर सके, इसलिए उन्हें भी शृंगार को प्रतीक बना कर उपस्थित करना पड़ा। परंतु फिर भी उनका पंथ दक्षिण मार्ग पर चलता था और शास्त्र-सम्मत था।

नाथपंथ का अध्ययन करने पर वह सिद्ध-पंथ की परम्परा ही जान पड़ता है। परन्तु उसका रूप बौद्ध धर्म से मिलता-जुलता रहने पर भी शैव ही अधिक है। कथा प्रसिद्ध है कि गोरखनाथ पहले बौद्ध थे, बाद में शैव हो गए। नाथपंथ १०वीं-११वीं शताब्दी से १४वीं शताब्दी के अंत तक हिंदी के पश्चिमी क्षेत्र में प्रमुख रहा, यद्यपि मुसलमान लेखक नाथों का अस्तित्व बलख़-बुखारा तक बतलाते हैं और सारे भारत में दंतकथाओं, लोकगीतों, मठों और टीलों के रूप में इनके अवशेष चिह्न मिलते हैं।

गोरखनाथ

गोरखनाथ सिद्ध-सम्प्रदाय के अन्तर्गत योग-धारा के प्रवर्तक कहे जाते हैं। इनकी निश्चित तिथि का निर्देश विवाद-ग्रस्त है।[१] यही नहीं, वह किस शताब्दी

१—गोरखनाथ का समय ('हिन्दुस्तानी', जनवरी)

में हुए, इस विषय में भी मतभेद कम नहीं है। डा० बड़थ्वाल[10] इनका समय ११वीं शताब्दी मानते हैं, डा० मोहनसिंह[11] ९वीं-१०वीं और डा० रामकुमार वर्मा[12] १३वीं शताब्दी का मध्य भाग। जार्ज डबल्यू ब्रिग्ज़ का कहना है कि गोरखनाथ का समय १००० ई० से पीछे रहा होगा, कदाचित् वे ११वीं शताब्दी में रहे हों। अधिकांश विद्वान् १२वीं शताब्दी मानकर इन मतों से सामञ्जस्य उपस्थित करना चाहते हैं। एक मत यह भी है कि गोरखनाथ का समय ८वीं शताब्दी से १२वीं शताब्दी तक कहीं होगा। क्योंकि इसी बीच में बौद्धमत की अवनति और शैवमत की उन्नति हुई।[13] यह निश्चित है कि १४०० ई० के पहले ये वर्तमान थे। इस विषय में प्रायः सभी विद्वान् निर्विवाद हैं।

गोरखनाथ के जन्म-स्थान के सम्बन्ध में भी बड़ा मतभेद है। मि० ब्रिग्ज़ उनका जन्म-स्थान पूर्व बङ्गाल मानते हैं[14] परन्तु जन-श्रुतियाँ नैपाल और गोरखपुर[15] को यह श्रेय देती हैं। वैसे वे भारतवर्ष के प्रत्येक स्थान में कभी न कभी पहुँचे मालूम होते हैं।[16] वास्तव में नागपन्थी बड़े पर्यटनशील थे। यह जहाँ गये, वहाँ अलौकिक चमत्कारों की गाथायें लेते गये। इन्होंने ही संत विचार-धारा की भूमिका तैयार की।

गोरखनाथ ने पच्चीस संस्कृत ग्रन्थ और तीन भाषा-ग्रन्थ लिखे। संस्कृत ग्रन्थों में 'गोरक्षशतक' विशेष महत्त्वपूर्ण है। भाषा-ग्रन्थों में केवल एक ही उपलब्ध हुआ है। यही एक प्रकाशित ग्रन्थ है। इस ग्रंथ का निर्माण-काल आचार्य शुक्ल जी ने १३५० लिखा है किन्तु साथ ही उन्होंने यह भी लिखा

१०—दि निर्गुन स्कूल आफ हिन्दी पोयटरी।

११—गोरखनाथ एण्ड मेडिवियल मिस्टिसिज्म, पृ० २१

१२—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० १३५

१३—गोरखनाथ एण्ड दि कनफटा योगीज़ (जार्ज डबल्यू ब्रिग्ज़), पृष्ठ २५०। ब्रिग्ज़ ने परम्पराओं और रूढ़ कथाओं के विस्तृत अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला है।

१४—शंकराचार्य का समय ७८६ ई० —८५० ई० है। इन्होंने ही बुद्धमत के ऊपर शैवमत की दार्शनिक महत्ता स्थापित की। शैवों और बौद्धों का विरोध दक्षिण में १ शताब्दी पहले ही आरम्भ हो गया था। वहाँ से यह उत्तर में आया।

१५—ब्रिग्ज़, पृष्ठ २५०

१६—डा० एस० के० चटर्जी, Dr. C. R. Stulpmaget, सर जार्ज ग्रियर्सन और टेसीटरी गोरखनाथ का जन्म-स्थान पंजाब में किसी स्थान पर मानते है (डा० मोहनसिंह की पुस्तक देखिये, पृ० २२)। डा० मोहनसिंह ने रावलपिंडी ज़िले के एक गाँव गोरखपुर का उल्लेख किया है। वे स्वयम् गोरख का जन्म-स्थान पेशावर के आस-पास मानते है (वही, पृ० वही)।

है कि लिपिकाल १७९८ है । इससे पूर्व की लिखी पुस्तकें उन्हें नहीं मिलीं । डा० मोहनसिंह ने १७०१ की पोथी के आधार पर इस ग्रन्थ का सम्पादन किया है । समस्या है कि यह उपलब्ध सामग्री मूल हो अथवा मौखिक रूप से हम तक आई हो । इस विचार से भाव और विषय की दृष्टि से गोरखनाथ के ग्रंथों की परिस्थिति बहुत सन्दिग्ध और भ्रामक है । इन ग्रन्थों की भाषा पंजाबी, राजस्थानी और पूर्वी मिली प्राचीन खड़ी बोली है । इसे हिन्दवी कहा जा सकता है । कुछ लोग इसे संत-भाषा भी कहते हैं । मिश्र-बन्धुओं ने इनकी भाषा के उद्धरण दिये हैं किन्तु ये उद्धरण सन्दिग्ध हैं । इनके आधार पर उन्होंने गोरख को हिंदी गद्य का प्रथम लेखक कहा है । यह अप्रयाप्य प्रमाणों के होते हुए अनुचित है ।

गोरखनाथ के सिद्धांतों के विषय में भी मतभेद है । राहुलजी का मत है कि वे मंत्रयान (वज्रयान ?) शाखा के ही एक आचार्य थे ।[१७] कोई-कोई उन्हें शैवमतावलम्बी मानते हैं । कुछ लोगों का कहना है कि उन्होंने बौद्ध विचार-धारा का शैव विचार-धारा से योग स्थापित किया । मि० ब्रिग्ज़ का कहना है—'जान यह पड़ता है कि गोरखनाथ आरम्भ में वज्रायण बौद्ध थे, जिन्हें मत्स्येन्द्रनाथ ने शैवमत में दीक्षित किया ।[१८] डा० मोहनसिंह के अनुसार गोरखनाथ के विचार उपनिषद के अधिक निकट हैं । सहज समाधि के द्वारा शब्द अथवा ज्योति की प्राप्ति उनका लक्ष्य है । वे उन्हें अवधूत या योगी कहते हैं ।[१९] यह मतभेद इसलिए स्वाभाविक है कि गोरखनाथ के सब ग्रंथ हमारे सामने नहीं हैं । जो हैं, वे भी सन्दिग्ध हैं ।

नाथ-सम्प्रदाय

नाथपन्थ के आदि प्रवर्तक आदि नाथ (शिव) हैं । इनके शिष्य मत्स्येन्द्र हैं । इनके कितने ही शिष्य हुए जिन्होंने अपनी विद्वत्ता और व्यक्तिगत प्रभाव द्वारा योग के नये रूप को सारे भारतवर्ष में प्रतिष्ठित किया । इनमें सबसे प्रधान गोरक्षनाथ (गोरखनाथ) थे । गोरक्षनाथ के भी अनेक शिष्य थे जिनमें बालानाथ, हालीकपाव (हाड़िपा) या जालन्धरनाथ, भालीपाव, मैनावती और गाहिनीनाथ मुख्य हैं । यह मैनावती बंगाल के प्रसिद्ध राजा गोपीचन्द्र की माता थीं । जालन्धरनाथ के सबसे प्रसिद्ध शिष्य राजा भरथरी

१७—मन्त्रयान, वज्रयान और चौरासी सिद्ध (गंगा का पुरातत्त्वांक, पृ० २२१)

१८—ब्रिग्ज़, पृष्ठ २२९

१९—गोरखनाथ एण्ड मेडिवियल मिस्टिसिज्म, पृ० २५-३०

(भर्तृहरि) हुए। गाहिनीनाथ के शिष्य ज्ञाननाथ (ज्ञानेश्वर) थे जिनका समय १३वीं शताब्दी है।

नाथपंथ का हठयोग

नाथपंथ में हठयोग को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला। साथ ही उसमें सिद्धों के सुन्न और अनहदनाद का भी महत्त्व था। सुन्न (शून्य) का महत्त्व महायान में भी कम नहीं था। वज्रयानियों ने सुन्न को ही विश्व का मूल तत्त्व माना है। नाथपंथ में भी "निरञ्जन", "अखिल निरञ्जन", "अलख निरञ्जन", "सुन्न" आदि नामों से उसका महत्त्वपूर्ण स्थान रहा।

पतंजलि ने योग की परिभाषा देते हुए लिखा है—"योगः कर्मसु कौशलम्"। इससे पता चलता है कि पतंजलि के समय में योग कर्ममार्ग का साधन माना जाता था और उसका महत्त्व इतना हो गया था कि उन्हें उसके लिए एक साधन-पद्धति की योजना करनी पड़ी। भगवान् कृष्ण की भगवद्गीता में योग एक स्वतंत्र मार्ग है। यद्यपि गीता में योग को शास्त्रसम्मत कहा गया है तदपि गीता का प्रतिपाद्य विषय निष्काम कर्म की स्थापना है। इस प्रकार गीता में कर्मकाण्ड को परिष्कृत किया गया है। उसमें भक्तियोग की भी महत्ता है। परन्तु जिस योग से हमारा सम्बन्ध है वह सन् ई० की दूसरी शताब्दी के लगभग हठयोग और तंत्राचार के रूप में प्रकाशित हुआ।

हठयोग मूलतः देह-शुद्धि की क्रिया थी, अतः हम उसे राजयोग की भूमिका कह सकते हैं जो योगी का उद्देश्य था। हठयोग में देह-शुद्धि की छः क्रियाएँ थीं—(१) धौति, (२) वस्ति, (३) नेति, (४) त्राटक, (५) नौलि, (६) कपालभीति। इन क्रियाओं को षट्कर्म भी कहते हैं। इनके अतिरिक्त देह की दृढ़ता के लिए आसन और मुद्राएँ, और शारीरिक धीरता के लिए प्रत्याहार। देह-शुद्धि के बाद प्राणायाम द्वारा लघुता प्राप्त करके मन को स्थिर किया जाता था। ध्यान और समाधि योग की अन्तिम क्रियाएँ थीं जिनका फल क्रमशः आत्मप्रत्यक्ष और निर्लेपता थी।

परंतु साधक का उद्देश्य यहीं समाप्त नहीं हो जाता। उसका उद्देश्य 'कुण्डलिनी' को जागृत और ऊर्ध्व मुख (उद्बुद्ध) करना है। योग-साधकों ने दृश्यमान जगत् के दो भाग किये हैं—सम्पूर्ण सृष्टि (समष्टि) और व्यक्ति (व्यष्टि)। उनके अनुसार व्यष्टि समष्टि का ही लघु रूपक है। इसे यों भी कहते हैं कि पिंड में अंड है अथवा घट में ब्रह्मांड है। इन साधकों ने कहा कि सम्पूर्ण सृष्टि में एक शक्ति परिव्याप्त है। इसे उन्होंने महाकुण्डलिनी कहा।

यही शक्ति सीमित रूप में व्यक्ति में भी व्यक्त हुई है। इसका नाम कुण्डलिनी है। वास्तव में दोनों शक्तियों में प्रकार का भेद नहीं, मात्रा का भेद है।

सभी जीवों में दो शक्तियाँ होती हैं कुण्डलिनी शक्ति और प्राण-शक्ति। साधारण अवस्थाओं (जागृति, सुषुप्ति और स्वप्न) में मनुष्य प्राण-शक्ति से परिचालित होता हुआ जीवित रहता है। प्राण इडा (इंगला) और पिंगला नाम की दो नाड़ियों में होकर बारी-बारी चलता है। इसी पर जीवन सम्भव है। परंतु साधना में योगी को देह के भीतर अन्य सुप्त शक्तियाँ भी परिचालित करनी होती हैं।

देह की प्रधान शक्ति कुण्डलिनी है। साधारण मनुष्यों में यह सुप्ता-वस्था में रहती है, परंतु योगी इसे संचालित करता है, एवं अपनी साधना का यंत्र बनाता है। कुण्डलिनी का निवास-स्थान अग्निचक्र है। यह त्रिकोण के रूप में होता है। इस त्रिकोण में स्थित स्वयंभू लिंग से कुण्डलिनी लिपटी रहती है। यह सर्प की भाँति है। इसके तीन वलय या वृत्त हैं। साधारण दशा में इसका मुख नीचे रहता है अर्थात् यह अधोमुखी है। अग्निचक्र के ऊपर चार दलों का एक कमल है। इसे मूलाधार चक्र कहते हैं। फिर नाभि के पास मणिपुर चक्र है जिसके दस दल हैं। इन दोनों चक्रों के बीच में छः दल वाले कमल के रूप में स्वाधिष्ठान चक्र है। हृदय के पास अनाहद चक्र है जिसमें १२ दल हैं। कंठ के पास विशुद्धाख्य चक्र है इसमें १६ दल हैं। इसके ऊपर भ्रूमध्य में दो दल वाला आज्ञा चक्र है। ये षट् चक्र हुए। सबसे ऊपर मस्तिष्क में शून्य चक्र (सहस्रार) है। इसमें एक सहस्र दल हैं। षट् कमल सुषुम्ना पर अवस्थित हैं। सुषुम्ना के भीतर वज्रा, उसके भीतर चित्रिणी और उसके भीतर ब्रह्मनाड़ी है। कुण्डलिनी जब ऊर्ध्वमूल और गतिशील हो जाती है तो ब्रह्मनाड़ी में होकर ऊपर उठती है और सहस्रार तक पहुँचती है। योग की अनेक साधनाएँ इसी कुण्डलिनी के जगाने के हेतु हैं। कुण्डलिनी जाग्रत (उद्बुद्ध) होकर जब ऊपर उठती है तो उससे स्फोट उत्पन्न होता है। इसे नाद कहते हैं। नाद से प्रकाश होता है। प्रकाश का व्यक्तरूप महाविन्दु है। यह विन्दु तीन प्रकार का होता है—इच्छा, ज्ञान और क्रिया। इसे ही पारिभाषिक रूप से सूर्य, चन्द्र और अग्नि एवं ब्रह्मा, विष्णु और शिव कहा गया है।

गोरखनाथ के हठयोग के सिद्धांत ऊपर दिये हुए सिद्धांतों से थोड़े भिन्न हैं। यहाँ हम उनके ग्रन्थ गोरक्षशतक का आश्रय लेंगे। गोरखनाथ के अनुसार योग के छः अंग हैं— (१) आसन, (२) प्राण-संवरोध, (३) प्रत्याहार,

(४) धारणा, (५) ध्यान, (६) समाधि । असंख्य आसनों में ८४ आसन श्रेष्ठ हैं । उनमें भी दो सिद्ध आसन और कमलासन श्रेष्ठतम हैं । इन आसनों का उद्देश्य शरीर की शक्तियों का संग्रह और नियमन है । इस शरीर में छः चक्र, १६ आधार, ३ लाख नाड़ियाँ, ५ व्योम, ९ द्वार और ५ अधि देवता हैं । चक्र पद्म के रूप में हैं । गुदा-स्थान पर आधार चक्र नाम का चतुर्दल पद्म है । इसके ऊपर स्वाधिष्ठान नाम का षट्दल पद्म है । दोनों के बीच में योनि-स्थान या कामरूप है । नाभि के स्थान पर मणिपुर नाम का दस दल पद्म है । इसी प्रकार हृदय में द्वादश दल पद्म, कंठ में षोडश दल पद्म भ्रूवों के मध्य में द्विदल पद्म और शीर्ष-स्थान पर सहस्रदल पद्म (सहस्रार) है ।

नाड़ियाँ द्विसप्तीह: (७२०००) हैं । इनमें मुख्य ७२ हैं, इनमें भी दस अधिक प्रमुख हैं । प्रत्येक नाड़ी एक द्वार से सम्बन्धित है । ये नाड़ियाँ हैं इडा, पिंगला, हस्तिजिह्वा, पूष, यशस्विनी, अलम्बुषा, कुहुश, शंखिनी, सुषुम्ना और गांधारी । अंतिम दो नाड़ियाँ इस संख्या को १२ बना देती हैं ।

योग का प्रधान सम्बन्ध श्वास से है । वायु दस हैं—प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कर्क, देवदत्त और धनञ्जय । इनमें से पहली पाँच अधिक महत्त्वपूर्ण हैं । ऊपर की पाँच नाड़ियों में भी प्राण और अपान अधिक प्रमुख हैं । इडा, पिंगला, और सुषुम्ना प्राण की वाहक हैं । उनके देवता क्रमशः चन्द्र, सूर्य और अग्नि हैं । अंतिम पाँच प्रकार की वायु समस्त नाड़ियों के मार्ग से चलती है । प्राण और अपान में परस्पर आकर्षण चलता रहता है । प्राण अपान को खींचता है, अपान प्राण को । जीव प्राण और अपान के वश में है । वह इस आकर्षण के कारण स्थिर होकर बैठ नहीं पाता, इडा और पिंगला में बराबर उतरता चढ़ता रहता है । उसे शांति नहीं मिलती । योग के द्वारा प्राण और अपान में संयोग (मेल) स्थापित किया जाता है ।

जीव निरंतर 'हंस' मंत्र का जाप करता रहता है । 'ह' के साथ जीव प्राण के रूप में बाहर जाता है और 'स' के साथ फिर शरीर में प्रवेश करता है । गायत्री (अजपा) मोक्षदायिनी है और कुण्डलिनी से सम्भूत होती है । कुण्डलिनी शक्ति कंठ के ऊपर स्थित है । इसके ८ चक्र होते हैं (अष्टधा) । यह ब्रह्मद्वार (सुषुम्ना का निम्न सिरा) को अपने मुँह से आच्छादित किये सुप्तावस्था में रहती है । बुद्धि (अग्नि) और कुण्डलिनी (प्राण) के योग से मनस् जागृत होता है और सुषुम्ना में होकर इस प्रकार ऊपर की ओर खिंचता है, जिस प्रकार सूची में गुण । अग्नि से योग के कारण कुण्डलिनी

या मनस् शक्ति जागृत होती है और सूर्य की भाँति सुषुम्ना के ऊपर उठती है।

मुक्ति-आकांक्षी योगी को महामुद्रा, नभोमुद्रा (खेचरी मुद्रा) उड्डीयान जलंधर, मूलबंध नाम की मुद्राएँ जाननी चाहिये। हठयोग का ध्यान-मंत्र (बीजम्) ओम् है। भूः, भुवः, स्वः लोक और सोम, सूर्य, अग्नि देवता इसीमें स्थित हैं। क्रिया, इच्छा, ज्ञान (ब्राह्मी, रौद्री और वैष्णवी शक्तियाँ) भी इसी में सन्निहित हैं। यही ओम् परम ज्योति है। सोम और सूर्य का ध्यान करते हुए योगी को बायें नासिका-रन्ध्र से प्राण को भीतर खींचना चाहिये और दक्षिण नासिका-रन्ध्र से बाहर फेंकना। फिर प्राण को दक्षिण नासिका-रन्ध्र से भीतर खींचना चाहिये और बायें नासिका-रन्ध्र से बाहर फेंकना। इस प्रकार तीन मास तक करने से योगी की नाड़ियाँ शुद्ध हो जाती हैं जिसका फल यह होता है कि वह प्राण को इच्छानुसार धारण कर सकता है। वायु प्रदीप्त हो जाती है, (अनहद) नाद अभिव्यक्त होता है और शरीर समस्त रोगों से मुक्त होकर आरोग्य को प्राप्त होता है।

योगपन्थ में गुरु का बड़ा महत्त्व है। बात यह है कि योग की साधना-पद्धति इतनी जटिल है कि साधक के लिए बड़ी सावधानी की आवश्यकता है। थोड़ी सी भूल-चूक होने पर योगी पथभ्रष्ट हो सकता है, सम्भव है कि विकलितांग हो जाय। इसीलिए सद्गुरु की आवश्यकता है। वास्तव में गुरु का महत्त्व इससे बहुत पहले सिद्धपंथ में ही स्थापित हो चुका था।

परन्तु गोरखनाथ का हठयोग ईश्वर-प्राप्ति का एकमात्र साधन नहीं था। वह ईश्वर-प्राप्ति में सहायक केवल एक साधन था। जहाँ तक खोज से पता चलता है, गोरखनाथ ने भक्ति को अवश्य आश्रय दिया था।[२०] कदाचित् वही मुख्य साधन था, अन्य उसके आश्रित थे। कष्टसाध्य हठयोग के आसनों, मुद्राओं आदि का वर्णन करते हुए भी अनेक स्थान पर योग-साहित्य में ऐसे कथन मिलते हैं जिनसे स्पष्ट है कि उन्होंने देह-कष्ट को प्रधानता नहीं दी होगी—

हसिबा खेलिबा गाइबा गीत
दृढ़ करि राषि आपना चीत

(गोरखनाथ)

थोड़ो खाइ तो कलपै झलपै, घणो खाइ तो रोगी
दहूँ पषा की संधि विचारै ते को बिरला जोगी

(जालंधरनाथ)

२०—Hindusthan Review, Vol. LXXII p. 312

चरपट चीर चक्र मन कंथा,
चित्त जमाऊँ करना
ऐसी करनी करो रे अवधू,
ज्यूँ बहुरि न होई मरना
(चरपटनाथ)

जान पड़ता है, नागपंथी हठयोग को मन की एकाग्रता की उपलब्धि के लिए पहली सीढ़ी मानते थे, परंतु वह इसी को सब कुछ नहीं समझते थे। उन्होंने योग की निष्फलता के सम्बंध में भी कहा है—

आसंण पवन उपद्रव करै
निसदिन आरंभ पचि पचि मरै
(गोरखनाथ)

सच तो यह है योगधारा संतधारा की तरह ही बाह्य-साधनों की ओर से हट कर अंतःशुद्धि की ओर दृष्टि करती है।

संतों की तरह गोरखनाथ भी कहते हैं—

हबकि न बोलिबा ठबकि न चलिबा धीरे धरिबा पावं
गरब न करिबा सहजैं रहिबा भणत गोरखरावं

इस अंतःशुद्धि में हठयोग जहाँ तक सहायक हो, वहाँ तक संग्रह-योग्य है। इस अंतःशुद्धि की चरम अवस्था भक्ति की प्राप्ति है।

चरपट ने गोरख के योग को "आत्मयोग" कहा है, कुछ विद्वान् इसे "नादानुसंधान" अथवा "सुरत-शब्दयोग" भी कहते हैं। परवर्ती संत-साहित्य में भी योग को सुरत, शब्द आदि से सम्बंधित पाते हैं। जान पड़ता है कि यह सम्बंध पहले-पहले गोरखनाथ द्वारा ही स्थापित हुआ। स्पष्ट है कि इस प्रकार के योग में मन की साधना ही प्रधान है; देह की साधना या हठयोग की आवश्यकता केवल इतनी ही समझी गई है कि उसके द्वारा साधना का माध्यम मन नियंत्रण में रखा जा सके और इंद्रियाँ संयमित रहें। विश्लेषण करने पर गोरखनाथ का योग उपनिषदों के राजयोग से बहुत दूर नहीं पड़ता। उसके साधन के लिए जननेन्द्रिय का दमन अधिक आवश्यक नहीं। जननेन्द्रिय के दमन के लिए भी कष्ट-कृच्छ्र साधनों की अपेक्षा "अजपा जाप" को ही अधिक श्रेय मिला है। सिद्धों के योग में तांत्रिक साधनाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान था, परंतु गोरखपंथियों के योग में उसे किञ्चित भी स्थान प्राप्त नहीं। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय साधना क्रमशः अधिक सरल

(सहज) होती आ रही है और इस "सहजीकरण" की प्रक्रिया में गोरखनाथ और उनके पंथ ने भी योग दिया है।

योग-धारा

जैसा ऊपर कहा जा चुका है योग-काव्य-धारा के प्रवर्तक गोरखनाथ थे।[२१] उनके बाद उनकी शिष्य-परंपरा में योग-विषयक रचना बराबर होती रही। "हिंदी कविता में योग प्रवाह" शीर्षक अपने एक लेख में डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने जलंधरनाथ[२२], घोड़ाचोली[२३], चौरणीनाथ,[२४] कणेरीपाव[२५] और चणकर नाथ[२६] नाम के गोरखनाथ के समकालीन योगियों की रचनाओं से उदाहरण

२१—आओ माई धरि-धरि जाओ गोरख बाल भरि-भरि खाओ।
झरै न पारा बाजै नाद, ससिहर सूर न बाद विवाद
पवन गोटिका रहणि अकास महियल अंतरि गगन कविलास
पयाल नी डीबी सुन्नि चढ़ाई कथत गोरखनाथ मछीन्द्र बताई
(गोरखनाथ)

२२—थोडो खाइ तो कलपै झलपै, घणो खाइ तो रोगी
दहूँ पषा की सन्धि बिचारै ते को बिरला जोगी
यह संसार कुबधि का खेत, जब लगि जीवे तब लगि चेत
आँख्या देखै, कान सुणै, जेसा बाहै तैसा लुणै

२३—रावल ते जे चालै राह, उलटी लहरि समावै माँह
पंचतत्त का जाणै भेव, ते तो रावल परतिष देव
नखसिख पूरि रहीले पौन, आया दूध-मात तो खाए कौन
मेर-डंड काठा करि बंधि, वाई षेलै चौसठि सन्धि

२४—मारिबा तौ मन मार मारिबा, लूटिबा पवन भँडार
साधवा तौ पंच तत सधिबा, सेइबा तो निरंजन निराकार
माली लौ मल माली लौ सींचै सहज कियारी
उनमनि कला एक पहूपन पाईं ले आवागमन निवारी

२५—आछै आछै महिरे मडलि कोई सूरा,
मार्‍या मनवा नै समझावै रेलो
मनवा नै दाणवा येणे मनवै व्यापा,
मनवा ने कोई ल्यावे रेलो
जोति देखि देखी पड़े रे पतंगा,
नादै लीन कुरंगा रेलो
यहि रस लुब्धी मैगल मातौ,
स्वादि पुरिष तैं भौंरा रेलो

२६—साधी सूधी के गुरु मेरे, बाई सूं ब्यंद गगन मैं फेरै

दिये हैं। इतिहास इनके विषय में चुप है। चरपटनाथ का समय १२८० ई०—१३३० ई० के लगभग माना जाता है। बालानाथ और देवलनाथ पंजाब से सम्बंधित है जहाँ बालानाथ का टीला प्रसिद्ध है। इनके अनंतर धूंधलीमल आते हैं जिनका समय १००० ई० के लगभग है। इनके शिष्य गरीबनाथ का समय १४४९ ई० है। यह योग-काव्य-धारा कबीर के समय में तथा उनके पश्चात् भी चलती रही। कबीर के साहित्य में योगियों के अनेक निर्देश हैं और हमें पृथ्वीनाथ की रचनाएं उपलब्ध हैं जिनमें कबीर का उल्लेख भूत-कालिक क्रिया में किया गया है।

इन योगियों के काव्य को परवर्ती संतकाव्य से मिलाने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि योगधारा धीरे-धीरे निर्गुण संतधारा में विलीन हो गई। यह बात गोरखनाथ के इस पद को संतों के साहित्य से मिलाने पर स्पष्ट हो जायेगी—

अनत न भरमो सिधा कांइआं मधे सार। रहाउ। बोलते का खोज करना। जीवते ही उलटि मरना। सहिज ही अकास चरना। काहे जम का डंड भरना उतर परना पार ॥१॥

महल की जब खबरि पाई, सोध लीने प्रान बाई
मइआ परचा मिटी धाई, बिना मूरति प्रिसरि आई
अलख अगम अपार ॥२॥

सिखर भीतरि नाद बाजे, जरा मिरत उपाधि भाजै
सुनि सो धुनि डोरी लागै, ततु सबदु झुणकार
बिखै दीन जगत बासी, अगयु गडु बसिउ संनिआसी ॥३॥
भणे गोरख सुनहु उदासी, चेतिआ निरंकारि ॥४॥

"गोरखबोध" के अध्ययन से यह साम्य और भी अधिक स्पष्ट होगा।

गोरखनाथ—कुण मुखि बैसे कुण मुखि चले। कुण मुखि बोलै कुणि मुखि मिलै। कैसे बाला देही ही में रहै। सतगुरु होइ सु पूछया कहै ॥९१॥

मछिन्द्रनाथ—सुरति मुखि बैसे सुरति मुखि चलै। सुरति मुखि बोलै सुरति मुखि मिलै। निरति सुरति ले ओझे रहै। ऐसा विचार मछंद्र कहै ॥९२॥

गो०—कौण सबद कौण सुरति। कौण सो निरति कौण सो बंध। दुबध्या मेटिर कैसे रहै। सतगुर होई सु बुझया कहै ॥९३॥

मनका बाकुल चुणिया,बोलै, साधी ऊपर क्यों मन डोलै
बाई बंध्या सयल जग बाई किनहुँ न बंध
बाइ बिहूणा ढहि पड़े जोरै कोइ न सन्ध

म०—शब्द अनहद सुरति सुचित । निरति निरालंभ लागै बंध । दुब्ध्या मेटि एकै रहै, ऐसा विचार मछंद्र कहै ॥९४॥

ऊपर के उद्धरण से स्पष्ट हो जायगा कि सन्तों ने उन्हीं पारिभाषिक शब्दों (सतगुरु, निरति, सुरति, सबद, दुबिधा, अनहद आदि) का प्रयोग किया है जिनका गोरखपंथियों के साहित्य में प्रचुर प्रयोग मिलता है। साधारणतः नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल भावनाओं में भी कोई विशेष अंतर नहीं है। "गोरखबोध" में मत्स्येन्द्रनाथ का यह कथन—

संतोष आसण विचार सु ज्ञान
काया तजि करि धरिये ध्यान
गुरु मुखि अवगति का सुख लहै
ऐसा विचार मछंद्र कहै ॥९८॥

संतों के पदों में अनेक बार सुन पड़ता है।

इ—जैन-साहित्य

जैन-साहित्य की धारा का सम्बन्ध पश्चिमी मध्य देश से है। गुजरात, राजस्थान आदि इसके केन्द्र रहे हैं। बहुत दिन हुए पं० चंद्रधर गुलेरी ने नागरी प्रचारिणी पत्रिका में 'पुरानी हिन्दी' शीर्षक से एक लेख-माला प्रकाशित कराई थी और प्राप्त सामग्री की ओर ध्यान दिलाया था। उन्होंने छः कवियों का उल्लेख किया था। बाद की खोजों, विशेषकर श्री नाथूराम प्रेमी के उद्योग से, जैन-साहित्य पर अधिक प्रकाश पड़ा है।[२७]

जैन-साहित्य के लेखक जैन आचार्य हैं जो सभी संस्कृत अपभ्रंश और प्राकृत के लेखक हैं। इन्होंने मध्य काल की धार्मिक चिन्तना के जैन रूप को हमारे सामने उपस्थित किया है। विषय की दृष्टि से जैन-साहित्य आंशिक रूप से साहित्यिक है। उसमें लेखक की दृष्टि काव्य की ओर नहीं है, धर्म-प्रचार की ओर है। भाषा की दृष्टि से भी परिस्थिति सन्दिग्ध है। आचार्य पं० रामचंद्र शुक्ल ने जैन-साहित्य की भाषा को अपभ्रंश माना है परन्तु उन्होंने उसे अपने साहित्य के इतिहास में स्थान दिया है। बाबू श्यामसुन्दरदास ने इस साहित्य का उल्लेख भी नहीं किया है जिससे यह सिद्ध होता है कि वह इसकी भाषा को हिन्दी का पुराना रूप नहीं मानते। डा० धीरेन्द्र वर्मा का मत

२७—जैन कवियों और लेखकों द्वारा हिन्दी-साहित्य-सेवा के विशेष अध्ययन के लिए नाथूराम जी की पुस्तक 'हिन्दी जैन-साहित्य का इतिहास' देखिए।

है कि जैन-साहित्य की सामग्री हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत नहीं आती, विषय और भाषा दोनों की दृष्टि से। डा० रामकुमार वर्मा जैन-साहित्य की भाषा को प्राचीन हिन्दी मानने की ओर अधिक झुके हुए दिखाई देते हैं। उनका कहना है, 'अपभ्रंश से निकली हुई हिंदी के प्राचीन रूप हमें इस समय की भाषा में मिलते हैं। इसमें विशेषकर नागर अपभ्रंश का अधिक प्रभाव है।' परंतु हमारे मत में जहाँ विद्वानों का आग्रह जैन-साहित्य की भाषा को अपभ्रंश मान कर उसे हिंदी के क्षेत्र से बाहर करने पर है वहाँ उन्हें यह भी स्मरण रखना होगा कि ऐसी दशा में सिद्ध, नाथ और डिंगल साहित्य का प्रारम्भिक साहित्य बहुत कुछ अपभ्रंश की ओर ही झुक रहा है और वहाँ भी यही परिस्थिति दीख पड़ती है। इस साहित्य की विचारधारा का सम्बन्ध हिन्दी प्रदेश से ही है। यह विचारधारा पूर्वी हिन्दी प्रदेश में जन्मी परंतु पूर्वी प्रदेश में बौद्धमत का आधिपत्य हो जाने के कारण यह पश्चिम और दक्षिण को हट गई।

अब तक जो ग्रंथ उपलब्ध हुए हैं वे सब दिगम्बर सम्प्रदाय के हैं श्वेताम्बर सम्प्रदाय का कोई ग्रंथ अभी तक नहीं मिला। गुजराती में इस सम्प्रदाय का विशेष साहित्य सुरक्षित है। सम्भव है यह इस कारण हो कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय हिंदी प्रवेश में अधिक बलशाली नहीं था। हो सकता है खोज से इस सम्प्रदाय के भी ग्रंथ प्राप्त हों। जैन-साहित्य की भाषा के सम्बंध में हम ऊपर विचार कर चुके। इसमें मुख्यतः अपभ्रंश परंतु उत्तर काल में पुरानी हिंदी के रूप भी मिलते हैं। सारा साहित्य शांत रस के उदाहरण-स्वरूप उपस्थित किया जा सकता है यद्यपि कि कहीं-कहीं अलंकार के रूप में और ऐतिहासिक व्यक्तियों के चरित्र के साथ शृङ्गार रस के दर्शन भी हो जाते हैं। इस साहित्य में अनुवादित ग्रंथ ही अधिक हैं, स्वतंत्र कम। यह साहित्य मुक्तक और प्रबंध दोनों रूपों में हमारे सामने आया। मुक्तक के छंद उद्धरण के रूप में उपस्थित किये गये हैं। प्रबंध-काव्य प्रथमानुयोग (तीर्थङ्करों की जीवनियाँ), चरणानुयोग (श्रावकों का चित्रण), दृष्टांत कथाएँ (जैन जातक) और ऐतिहासिक व्यक्तियों के चरित्र। अथवा रासो के रूप में है। इस प्रकार के साहित्य का ऐतिहासिक महत्त्व है। यों तो सारा जैन साहित्य भाषा-विज्ञान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि हम उसी में साहित्यिक भाषा को अपभ्रंश से हिंदी की ओर संक्रमण करते हुए देखते हैं।

जैन-साहित्य की धारा १०वीं शताब्दी से १४वीं शताब्दी तक चलती रही और उसने प्रचुर मात्रा में साहित्य उपस्थित किया। कोई-कोई विद्वान् हेमचंद्र

(११वीं-१२वीं शताब्दी) को इस धारा का पहला लेखक मानते हैं। परंतु वास्तव में जैन-लेखकों की परम्परा को देवसेनाचार्य (१०वीं शताब्दी) तक पीछे ले जाया जा सकता है। १०वीं शताब्दी में देवसेनाचार्य (दव्व-सहाय पयास, श्रावकाचार और दर्शनसार) और महाकवि धवल (जैन हरि-वंश पुराण), ११वीं शताब्दी में महाकवि पुष्पदन्त (महापुराण, नागकुमार चरित), धनपाल कवि (भविष्यवत्त चरित्र), श्री चंद्रमुनि, श्री जिनवल्लभ सूरि (वृद्ध नवकार) १२वीं शताब्दी में योगचंद्र मुनि (योगसार), हेमचंद्र (सिद्ध हैम या सिद्ध हेमचंद्र शब्दानुशासन और कुमारपाल चरित्र), सोम प्रभाचार्य (सोमशतक) और १३वीं शताब्दी में सोमप्रभ सूरि (कुमार-पाल प्रतिबोध), धर्मसूरि (जम्बू स्वामी रासा, १२०६), विजयसेन सूरि (रेवतगिरि रासा, १२३१) और विनयचंद्र सूरि (नेमिनाथ चउपई, १२३१) प्रसिद्ध जैन-लेखक और कवि हो गये हैं। १४वीं शताब्दी तक अपभ्रंश ने बहुत कुछ पुरानी हिंदी का रूप धारण कर लिया था। उसमें फुटकल रचनाओं के साथ वीर गाथायें भी मिलने लगीं। इस समय की हिंदी को अपभ्रंश-मिली पुरानी हिंदी कहना ठीक होगा। १४वीं शताब्दी में मेरुतुंगाचार्य ने प्रबंध चिंतामणि की रचना की। इस ग्रंथ में उन्होंने प्राचीन राजाओं के आख्यान संग्रह किये हैं। इन आख्यानों के बीच-बीच में उनके सम्बंध में प्रचलित जन-गीत (दोहे) हैं। जिनसे हमें भाषा की परिस्थिति के सम्बंध में बहुत ज्ञान होता है। विशेषकर वे दोहे जो मुंज ने कहे हैं पुरानी हिंदी के ही नमूने कहे जा सकते हैं। इनके अतिरिक्त एक अन्य प्रसिद्ध कवि और सूत्रकार शारङ्गधर (१३०० ई० के बाद) हैं। जिनके दो मुख्य ग्रंथ शारङ्गधर पद्धति और प्राकृतारण हैं। यह प्रसिद्ध है कि इन्होंने हम्मीर रासो नामक एक वीर-काव्य की भी रचना की। यह ग्रंथ उपलब्ध नहीं है परंतु आचार्य शुक्ल जी को 'प्राकृत पिंगलसूत्र' में छंदों के उदाहरण-स्वरूप हम्मीर रासो के कुछ पद्य मिले हैं।[२८]

---

२८ हेमचंद्र ने अपने व्याकरण में रासाओं से जो उदाहरण दिये हैं, उनसे यह स्पष्ट है कि १२वीं शताब्दी के अपभ्रंश और रासो की भाषा में बहुत भेद नहीं है—

ढोल्ला मइं तुहुं बारिया मा कुरु दीहा माणु।
निद्दए गमिही रत्तडी दडवड होइ विहाणु॥
भल्ला हुआ जु मारिआ बहिणि महारा कन्तु।
लेज्जज्जंतु वयंसिअहु जइ भग्गा घरु एन्तु॥

डिंगल कवियों की तरह जैन कवियों ने भी उपर्युक्त दोहों की भाषा की बराबर रक्षा

ई—चारण-साहित्य

चारण-साहित्य का सम्बंध पश्चिमी हिंदी प्रदेश से है। इसे देश-भाषा काव्य भी कहते हैं। यह विशेष राजनीतिक परिस्थितियों की उपज था इसके लेखक या कवि हिंदू राजपूत राजाश्रय में रहने वाले चारण या भाट कवि थे। इनकी परम्परा किसी-न-किसी रूप में १८वीं शताब्दी तक चली आती है।

१२०० ई० के लगभग चार राजपूत राज्य हिंदी प्रदेश में मौजूद थे। एक कन्नौज का गहरवारवंश या राठौरवंश जिसकी राजधानी कन्नौज (कान्यकुब्ज) और काशी थी। दूसरा इस राज्य के दक्षिण में बुंदेलखंड में चन्देलों का राज था। इसका अन्तिम राजा परिमाल देव या परमाद्रि देव था। तीसरा राज्य राजपूताने में चौहानों का था जिसकी राजधानी अजमेर थी। इसका अंतिम राजा वीसल देव था। चौथा, दिल्ली में तोमरवंश राज्य करता था जिसका अंतिम राजा अनंगपाल था। जिस समय का हम उल्लेख कर रहे हैं उस समय वीसल देव ने दिल्ली के अनंगपाल को पराजित कर लिया था और उसका पुत्र पृथ्वीराज दिल्ली और अजमेर दोनों का राजा था।

करने का प्रयत्न किया है अतएव बाद के आचार्यों की भाषा का रूप परंपराबद्ध हो जाने के कारण तत्कालीन जन-भाषा पर कोई प्रकाश नहीं डालता

जिण चउविस पय नमेवि गुरु चरण नमेवि।
जंबू स्वामिहिं तणूं चरिय भविउ निसुणेवि॥
करि सानिध सरसत्ति देवि जीयरयं कहाणउ।
जंबू स्वामिहिं (सु) गुहगहण संखेव वखाणउ॥
(जंबू स्वामी रासा, सं० १२६६)

सोहग सुन्दरु घण लायन्नु, सुमरवि सामिउ साम लवन्नु।
सखि पति राजल चडि उत्तरिय, बार मास सुणि जिम बज्जरिय॥
नेमि कुमर सुमरवि गिरनारि, सिद्धी राजल कन्न कुमारि।
श्रावणि सरवणि कडुए मेहु, गज्जइ विरहि रिझिज्जहु देहु॥
(नेमिनाथ चउपई)

जा मति पाछइ संपजइ, सा मति पहिली होइ।
मुंजु भणइ मुणालवइ, विधन न वेढ़इ कोइ॥
मुंजु भणइ मुणालवइ, जुव्वणु गयउ न झूरि।
जइ सक्कर समखंड थिय, तोइ स मीठी चूरि॥
(प्रबंधचिन्तामणि, सन् १३०४)

इन राज्यों में संस्कृत का बड़ा मान था और संस्कृत के कवियों को राजाश्रय मिलता था। कान्यकुब्ज के केन्द्र से सम्बंध रखनेवाले संस्कृत काव्य मिलते हैं। परन्तु संस्कृत के साथ देशी भाषा को भी बहुत पहले से राजाश्रय मिलने लगा था। अपभ्रंश के राजकवियों के सम्बंध में हमें प्रर्याप्त ज्ञान है। कन्नौज का चारण-साहित्य उपलब्ध नहीं है। जयचंद के दरबार में मधुकर नाम के कवि का होना सुना जाता है किन्तु अभी तक उनकी कोई सामग्री नहीं मिलती। इस दरबार के आश्रय में एक दूसरे कवि केदार का नाम लिया जाता है। बुन्देलखण्ड से सम्बंध रखनेवाला ग्रन्थ आल्हाखंड है किंतु उसकी कोई प्राचीन प्रति उपलब्ध नहीं है। आल्हा-ऊदल की कथा और परमाल के सामंतो की कथा मौखिक रूप से चारणों में चलती रही और १६वीं शताब्दी में लिखी गई। इस प्रकार इसमें दूषित या मिश्रित रूप अधिक है। आजकल जो आल्हा मिलता है वह किसी लेखक ने कन्नौज में लेखबद्ध कराया था। १२वीं शताब्दी की मौलिक सामग्री हमें उपलब्ध नहीं है। अजमेर केन्द्र से हमें दो ग्रन्थ प्राप्त होते हैं—एक दलपति का खुमान रासो है जो अप्रकाशित है और दूसरा वीमल देव रासो जो एक छोटा-सा गीति-काव्य है। यही कदाचित् सर्वप्रथम निश्चित सामग्री है। दिल्ली के केन्द्र से सम्बंध रखनेवाला ग्रंथ चंद का पृथ्वीराज रासो है।

चारण-साहित्य का महत्त्व ऐतिहासिक है। यह पूर्णतः लौकिक है और इसमें राजपूत राजाओं के पारस्परिक एवं विदेशी जाति (मुसलमानों) से युद्ध के उल्लेख सुरक्षित हैं। इस साहित्य के विषय में दो भ्रम चल रहे हैं। पहला भ्रम यह है कि यह वीर-काव्य है जिसका आरम्भ राजस्थान में हुआ। दूसरा भ्रम यह है कि इसे एक प्रकार से राष्ट्रीय साहित्य कहा जा सकता है। ये दोनों बातें ठीक नहीं हैं। चारण ग्रन्थों में अभी तीन ही प्रमुख ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं—वीमलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो और आल्हाखंड। इनमें वीमलदेव की रचना राजस्थान में हुई और शेष दो ग्रंथों का सम्बंध गङ्गा की घाटी या हिंदी प्रदेश से है। इस साहित्य की मूल-धारणा क्या थी—क्या वीरता? क्या शृंगार? सच तो यह है कि दोनों प्रधान हैं। उस समय हिन्दू जाति एकदम निःसत्व नहीं हो गई थी। हम वीरता को शृंगार से परिचालित देखते हैं और वीरता का परिणाम शृङ्गार है। वीसलदेव रासो में वीसलदेव के शौर्य का केवल संकेतमात्र है, अधिकाश शृङ्गार-रसपूर्ण है। पृथ्वीराज रासो में युद्धों का कारण विवाह और मृगया है। एक प्रकार से शृङ्गार की धारा संस्कृत के उत्तर काल से ही चली आ

रही थी। जिस वातावरण में चारण-साहित्य की रचना हुई वह शृङ्गार-प्रधान था और जिन लोगों के लिए यह साहित्य रचा जा रहा था वह शृङ्गार-प्रिय ऐश्वर्यशाली व्यक्ति थे, लोकनायक नहीं। इन बातों को ध्यान में रखते हुए यह स्पष्ट है कि चारण-साहित्य को वीरगाथा साहित्य कहना अधिक उपयुक्त नहीं। यह साहित्य राष्ट्रीय साहित्य नहीं कहला सकता क्योंकि उसके मूल में राष्ट्रीयता की भावना भी नहीं है। इस साहित्य का अध्ययन करने पर हमें विदेशी संघर्ष के विशेष चित्र नहीं मिलते। ११९२ ई० से १२०६ ई० तक हिन्दू प्रदेश को मुसलमानों ने अपने अधिकार में कर लिया। इस प्रकार संघर्ष-काल केवल १४ वर्ष तक रहा। इसलिए यह कल्पना करना कि हिंदी कविता को इस क्षणिक संघर्ष ने इतना प्रभावित कर दिया था कि वीर-काव्य या राष्ट्रीय साहित्य की उत्पत्ति हुई, समीचीन नहीं दिखाई पड़ता।

१२०० ई०के पश्चात् हिंदी प्रदेश में हिन्दू राजाओं के मूलोच्छेदन हो जाने के कारण राजाश्रय का भी अभाव हो गया और प्रजाश्रय में धार्मिक और लौकिक साहित्य की विशेष रचना हुई। आदि युग में जो धार्मिक सुधार और भक्ति आन्दोलन की सास्कृतिक धाराएँ बहुत कुछ क्षीण गति से चल रही थीं विशेष बल को प्राप्त हुईं। हिन्दू राजाश्रयों में पनपनेवाला चारण-साहित्य बहुत कुछ चाटुकारिता और परम्परा के परिपालन तक ही सीमित रहा। वह हिन्दी प्रदेश के पश्चिमी भाग से हटकर दक्षिण-पश्चिम अर्थात् राजस्थान के सीमात में केन्द्रस्थ हो गया।

डिंगल

चारण-साहित्य की भाषा डिंगल कही जाती है। इस नाम के सम्बन्ध में अनेक मतभेद हैं। टेसीटरी के मत में वह केवल एक विशेषण है जो असंस्कृत अथवा अनियमित ('गड़बड़') भाषा के लिए प्रयोग में आया है। उसका अर्थ है उच्च कवित्वगुणहीन भाषा। कुछ विद्वान् डिंगल शब्द का सम्बन्ध डगर शब्द से बताते हैं, कुछ उसकी उत्पत्ति डमरू की ध्वनि डिम या डम से जो उत्साह और क्रोध के प्रतीक के रूप में ली गई है। कुछ अन्य लोगों का कथन है कि डिंगल शब्द का प्रयोग पिंगल शब्द के अनुकरण पर हुआ है जिसका प्रयोग ब्रजभाषा कविता के लिए होता था। परतु स्वयम् ब्रजभाषा का नाम पिंगल क्यों रखा गया, यह भी विवादग्रस्त विषय है। सच तो यह है कि अभी इस विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता। डिंगल की कविता ब्रजभाषा से प्राचीन है, इस अवस्था में उसका नाम ब्रजभाषा

कविता के नाम के अनुकरण में क्यों पड़ने लगा, फिर पिंगल का अर्थ छंदशास्त्र है और ब्रजभाषा और डिंगल भाषा दोनों के काव्यों में छंदों का वैभिन्न्य है और उनके नियमों के पालन करने पर ध्यान रखा गया है।

रासो

डिंगल भाषा के प्रबंध-काव्यों के लिए रासो शब्द का प्रयोग हुआ है। इस शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बंध में भी अनेक मत हैं। कुछ लोग इसकी उत्पत्ति 'रहस्य' से मानते हैं। आचार्य शुक्ल जी का मत है कि बीसल देव रासो में काव्य के अर्थ में जिस रसायन शब्द का प्रयोग हुआ है, वही कालांतर में रासो हो गया है। दोनों सिद्धांतों का आधार कल्पना है, अतः निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। जैन-साहित्य में रास-छंद का प्रयोग हुआ है और चरित्र ग्रंथों को रासा कहा गया है। यह भी कल्पना की जा सकती है कि चारण रासो का सम्बंध जैन रासा से हो। रासा भी चरित्र-ग्रंथ है।

चारण-साहित्य दो रूपों में है। पृथ्वीराज रासो प्रबंध-काव्य के रूप में है और बीसल देव रासो तथा आल्हा वीरगीत हैं। प्रबंध-काव्य की रचना खंड-काव्यों और महाकाव्यों के रूप में हुई है। उनमें अनेक छंद हैं और उन्हें काव्य गुण से पुष्ट करने की चेष्टा की गई है। वीर-गीत उत्सव-समारोह के अवसर पर गाने के लिए रचे गये। वे लोक-गीतों के अधिक निकट हैं। कई सौ वर्ष साधारण जनता के द्वारा गाये जाने के कारण उनकी भाषा अपने मूल रूप में नहीं रह सकी है। उनमें अधिकतः एक ही छन्द का प्रयोग किया गया है जो विशेष रूप से गीतात्मक है और जिसमें काव्य-गुण की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया गया है।

दलपति विजय का खुमान रासो

दलपति विजय नाम का कोई कवि ८१३ ई०—८४३ ई० तक चित्तौड़ पर शासन करने वाले खुम्माण द्वितीय का समकालीन था। कर्नल टाड ने इसके ग्रन्थ खुमान रासो के आधार पर उस समय के मेवाड़ का इतिहास लिखा है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से जाँचने पर इसमें कई भूलें जान पड़ती हैं। टाड ने तीन खुम्माणों के जीवन को एक सूत्र में गूँथ दिया है। यदि यह वर्णन दलपति विजय के खुमान रासो पर पूर्णतः आश्रित है तो इस भ्रान्ति के रहने से लेखक समकालीन नहीं ठहरता। इस ग्रन्थ की जो प्रति प्राप्त हुई है उसमें महाराणा प्रतापसिंह के समय तक का वर्णन है। अतः इसका जो रूप आज हमें मिलता

है वह कई शताब्दियों के परिमार्जन और परिवर्द्धन का फल है। ऐसी दशा में इस ग्रन्थ के विषय में विशेष नहीं कहा जा सकता।

नरपति नाल्ह का वीसलदेव रासो

इस ग्रन्थ की तीन पोथियाँ उपलब्ध हुई हैं। एक १६१२ ई० की, दूसरी १६०२ ई० की, तीसरी १००० ई० के लगभग की। पहली दो पोथियों के आधार पर इसका सम्पादन हो चुका है। लेखक ने ग्रन्थ में रचना-काल दिया है। जो इस प्रकार है—

"बारह से बरहोत्तरा मंझार"

मिश्रबन्धु ने इसे संवत् १२२० लाला सीताराम ने १२७२, और सत्यजीवन वर्मा तथा पं० रामचन्द्र शुक्ल ने १२१२ माना है। बीकानेर के श्री गजराज ओझा ने एक प्राचीन हस्तलिखित प्रति में १०७३ वि० रचना-काल देखा है। उनके आधार पर डा० रामकुमार वर्मा भी यही संवत् इतिहास से अधिक निकट मानते हैं।

वीसलदेव रासो २००० चरणों और चार खण्डों में है। पहले खंड में मालवा के अधिपति श्री भोज परमार की लड़की राजमती का वीसलदेव संभार के साथ विवाह, दूसरे खंड में वीसलदेव की उड़ीसा की ओर रणयात्रा, तीसरे खंड में राजमती का वियोग-वर्णन और वीसलदेव का चित्तौड़ागमन, चौथे खण्ड में भोजराज का आकर अपनी कन्या को ले जाना और वीसलदेव का पुनः राजमती को ले आने का वर्णन है। वीसलदेव रासो का रूप गीति-काव्य का है, परन्तु उसमें एक प्रबन्ध भी चल रहा है। हम उसे प्रबन्धात्मक गीति-काव्य कह सकते हैं। यद्यपि हमने इस ग्रन्थ को वीर-काव्य के अन्तर्गत रखा है परन्तु वास्तव में कवि को शृंगार-रस से ही मूल प्रेरणा मिली है। भाषा असंस्कृत है और रचना में साहित्यिक सौन्दर्य कम है, परन्तु इस ग्रन्थ की प्राचीनता इसे वह महत्त्व दे देती है जो अन्य दशा में इसे प्राप्त नहीं हो सकता था। मौखिक रूप में चलते रहने के कारण इसकी भाषा का रूप भी अवश्य स्थिर नहीं रह सका होगा, परन्तु जिस रूप में यह आज हमें प्राप्त है, उस रूप में भी वह भाषा-विज्ञान के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सामग्री उपस्थित करता है।

चंदबरदाई का पृथ्वीराज रासो

पृथ्वीराज रासो के विषय में बड़ा मतभेद चल रहा है, दो मत हैं। पहले मत के अनुसार यह सम्पूर्ण ग्रन्थ मान्य नहीं है। वे इसे पूरा जाली मानते हैं। दूसरे

मत के लोग उसका कुछ अंश मौलिक मानते हैं और कुछ प्रक्षिप्त। १६०० ई० में रायल एशियाटिक सोसाइटी ने इस ग्रन्थ को सम्पादित करना चाहा, उस समय ही यह ग्रन्थ वाद-विवाद का विषय बन गया। इसलिए सोसाइटी ने इसका प्रकाशन रुकवा दिया। इसके अनन्तर इसको लेकर इतिहासज्ञों और साहित्य-समीक्षकों के दो वर्ग हो गए। इतिहास लेखक साँवलदास, ओझा और हीरालाल शास्त्री इसकी घटनाओं को इतिहास पर परख कर इसे बहुत बाद की रचना सिद्ध करते हैं। मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, श्यामसुन्दरदास और हरिप्रसाद शास्त्री पुस्तक को पूर्णतया सन्दिग्ध नहीं मानते। पं० रामचन्द्र शुक्ल और डा० धीरेन्द्र वर्मा इन दोनों मतावलम्बियों के बीच का मार्ग ग्रहण करते हैं। डा० धीरेन्द्र वर्मा रासो का वर्तमान रूप बहुत सन्दिग्ध मानते हैं, उन्हें इसमें भी सन्देह है कि चन्द नाम का कोई कवि पृथ्वीराज के दरबार में भी था। आचार्य शुक्ल जी का कहना है—

"अधिक संभव यह जान पड़ता है कि पृथ्वीराज के पुत्र गोविंदराज या उनके भाई हरिराज अथवा इन दोनों में से किसी के वशंज के यहाँ चंद नाम का कोई भट्ट कवि रहा हो। जिसने उनके पूर्वज पृथ्वीराज की वीरता आदि के वर्णन में कुछ रचना की हो। पीछे जो बहुत-सा कल्पित "भट्ट भणंत" तैयार होता गया उन सब को लेकर चन्द को पृथ्वीराज का समसामयिक मान उसी के नाम पर "रासो" नाम की यह बड़ी इमारत खड़ी की गई है।"

जिन आधारों पर पृथ्वीराज रासो को सन्दिग्ध माना जाता है वे निश्चित ऐतिहासिक घटनायें शिलालेख और जयानक कविकृत पृथ्वीराज विजय नामक संस्कृत महाकाव्य के उपलब्ध अंश हैं। यह सामग्री रासो से अधिक प्रामाणिक है और इसमें और रासो में बड़ा भेद है। रासो के वंश का क्रम अशुद्ध है। रासो के अनुसार चौहान अग्निवंशी थे किन्तु शिलालेखों के अनुसार ये लोग सूर्यवंशी थे। रासो के अनुसार पृथ्वीराज की माता अनंगपाल की लड़की कमला थी। इतिहास के अनुसार माता का नाम कर्पूरदेवी था और वह चेदि के राजा की लड़की थी। रासो के सब संवत् अशुद्ध सिद्ध हुए हैं। उदाहरण के लिए रासो के अनुसार पृथ्वीराज का जन्म-काल ११३९ ई० ठहरता है, परन्तु इतिहास के अनुसार ११६६ ई०, यद्यपि इतिहास का दिया सन् भी अधिक निश्चित नहीं है। तीसरी बात कथानक के सम्बन्ध में है जो जाँच करने पर अनैतिहासिक ठहरता है। रासो के अनुसार पृथ्वीराज की बहिन पृथा का विवाह मेवाड़ के राजा समरसिंह से हुआ था जिन्हें इतिहास पृथ्वीराज का समकालीन नहीं मानता। पृथ्वीराज का दिल्ली गोद लिया जाना इतिहास-विरुद्ध है। रासो के अनुसार गोरी की

मृत्यु पृथ्वीराज के द्वारा ग़ज़नी में हुई, परन्तु इतिहास के अनुसार वह पहले ही मर चुका था। इस प्रकार वंशावली, संवतों और कथानक तीनों की जाँच करके हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि यह ग्रंथ यद्यपि सम्पूर्ण सन्दिग्ध तो नहीं है परन्तु प्रामाणिक भी नहीं है। भाषा का अध्ययन करने पर भी परिस्थिति कुछ डावाँडोल दिखाई देती है। रासो की भाषा का रूप पूर्वी राजस्थानी और ब्रजभाषा मिश्रित है। इस भाषा को हम १६वीं शताब्दी में रख सकते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि १६वीं शताब्दी का कोई राजस्थानी कवि अपभ्रंश की शैली का अनुकरण कर रहा है। वास्तव में चारण-काव्य में अपभ्रंश की शैली का अनुकरण बहुत बाद तक चलता रहा। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि रासो की भाषा न मूल अपभ्रंश है न मूल राजस्थानी।

अन्य ग्रंथ

पृथ्वीराज रासो के बाद भट्ट केदार के जयचन्द प्रकाश और मधुकर के जयचन्द्र जसचन्द्रिका नाम के ग्रन्थ आते हैं। ये ग्रन्थ अप्राप्य हैं, अतः इनके सम्बन्ध में विशेष कुछ नहीं कहा जा सकता। वास्तव में प्रारम्भिक चारण-काल के बहुत कम ग्रन्थ हमें उपलब्ध हैं और जो हैं भी वे भी अत्यंत सन्दिग्ध रूप में हैं। उन सन्दिग्ध ग्रन्थों में जो हमें प्राप्य है सबसे महत्त्वपूर्ण आल्हा खण्ड है जिसमें पृथ्वीराज और महोबा के आल्हा-ऊदल आदि महाराज परमाल के आश्रय में रहनेवाले वीरों की युद्धों की कथा है। इसकी कोई प्राचीन प्रति नहीं मिलती। जो प्रतियाँ प्राप्त हैं वह १६वीं शताब्दी से पीछे नहीं जातीं और इसीलिए उनकी भाषा अत्यन्त सन्दिग्ध है। मौखिक रूप से चले आने के कारण इसका पाठ ही विकृत नहीं हुआ, समय-समय पर इसमें अनेक प्रसङ्ग जोड़ दिये गये हैं और उनकी सख्या कदाचित् इतनी बड़ी है कि ग्रंथ का मूल रूप छिप गया है।

आल्हा खण्ड के अतिरिक्त शारङ्गधर (१३०० ई० के लगभग) का हम्मीर रासो और नल्लसिंह भट्ट (१२९८ ई० के लगभग) का विजयपाल रासो दूसरे दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। पहले में रणथम्भौर के राजा हम्मीर और अलाउद्दीन ख़िलज़ी के युद्ध का वर्णन है और दूसरे में करौली के राजा विजयपाल के युद्धों का वर्णन है। हम्मीर रासो की जिस प्रति से प्रकाशित पुस्तक का सम्पादन हुआ है, उसकी भाषा उसे निश्चित रूप से बहुत बाद में लिपिबद्ध प्रमाणित करती है। विजयपाल रासो की स्थिति अधिक निश्चित है परंतु उसकी भाषा में भी परवर्ती सम्मिश्रण के स्पष्ट चिन्ह उपस्थित हैं।

उ—हिन्दवी साहित्य

नवीं शताब्दी में मुसलमानों के भारतवर्ष में आ जाने और कुछ दिनों

बाद पंजाब और पश्चिमी हिन्दी प्रदेश में बड़ी संख्या में बस जाने के कारण भाषा के सम्बन्ध में एक नई परिस्थिति उत्पन्न हो गई। गुप्तकाल (३१६ ई०—४६८ ई०) में उत्तरी भारत में शौरसेनी, मागधी, पैशाची, अपभ्रंश और महाराष्ट्री भाषाएँ चल रही थीं और परस्पर व्यवहार के द्वारा इन भाषाओं के सामान्य रूपों को लेकर एक सामान्य भाषा ने जन्म लिया। सातवीं शताब्दी में राजपूत-गुर्जर सामंतों में इस भाषा का बहुत प्रचार हुआ और अनेक राजपूत-गुर्जर ध्वनियों का समावेश हो गया। इस भाषा को अभी कोई नाम नहीं दिया गया है परंतु चंद की 'षट् भाषा' का बहुत कुछ ढाँचा इस भाषा पर खड़ा होगा। राजपूत काल (६०० ई०—१२०० ई०) में यह भाषा सारे उत्तर भारत और दक्षिण में कोंकन प्रदेश तक सामान्य आदान-प्रदान की भाषा रही होगी। इसे हम प्राचीन हिंदवी या प्राचीनतम खड़ीबोली कह सकते हैं। अमीर ख़ुसरो (१२५३ ई०—१३२५ ई०) ने अपने समय की उत्तर भारत की भाषाओं में लाहौरी और दिल्ली और उसके आस-पास की भाषाओं का उल्लेख किया है। मुसलमानों के आने तक इस सामान्य भाषा का कोई साहित्य नहीं था। वह सामान्य बोलचाल की भाषा-मात्र थी। यह सामान्य भाषा लाहौर, मुलतान और दिल्ली की भाषाओं से बहुत कुछ मिलती-जुलती रही होगी। ग्यारहवीं शताब्दी तक पंचनद प्रदेश में इस्लाम धर्म का काफ़ी प्रचार हो गया था और हीनवर्ण हिंदू इस नये धर्म को बड़ी संख्या में अपनाने लगे थे। राहुल सांकृत्यायन ने 'हिंदी काव्यधारा' में मुलतान के जुलाहे हिंदी कवि अब्दुर्रहमान (१०१० ई०) का उल्लेख किया है। अब्दुर्रहमान (१०१०) से कुतबन (१४६३) तक की प्रायः पाँच शताब्दियों में हम किसी मुसलमान कवि की हिंदी रचना नहीं पाते।

परंतु इन ५०० वर्षों में मुसलमान राजपूत-गुर्जर सामान्य भाषा (हिंदवी) को लेकर थोड़ी-बहुत साहित्य रचना अवश्य कर रहे थे, इसके समर्थन के लिए प्रमाण ढूँढ़ना कोई कठिन काम नहीं है। जैसा राहुलजी ने लिखा है, हिंदुस्तान की खान से पैदा हुए सभी मुसलमानों के लिए अरबी फ़ारसी का पंडित होना संभव नहीं था। अतः वे सामान्य बोलचाल की भाषा की ओर झुके और उसी में उन्होंने इस्लाम मत का प्रचार किया। इस नई भाषा को अपनाने में काफ़ी समय लगा। इसी से हिंदवी काव्य महमूद ग़ज़नवी की विजयों के बहुत बाद शुरू होता है। डॉ० मोहनसिंह के अनुसार 'हिंदवी कविता' का समय ११७३ ई०—१५८० ई० है। इस हिंदवी कविता के अनेक कवियों की रचनाएँ अब उपलब्ध हो गई हैं। १४०० ई० तक प्रसिद्ध

हिंदवी कवि हैं मसूदी (१०४५—११२१, लाहौर), फ़रीद (११७३—१२६५, पकपत्तन), बूअली क़लन्दर (मृ० १३४३, पानीपत), ख़ुसरो (१२५३—१३२५, दिल्ली), शरफ़ुद्दीन यहिया मुनीरी (१२६३—१३८०), बुरहानुद्दीन ग़रीब (मृ० १३३७, दौलताबाद) और सैयद मुहम्मद गैसूदराज़ बन्दानवाज़ (मृ० १४८१, दकन)। इन कवियों में ख़ुसरो का ही हिंदवी साहित्य अधिक मात्रा में, पहेलियों, मुकरियों, दोसखुनों, ढकोसलों और गज़ल के रूप में हम तक चला आता है, परंतु मौखिक रूप में चलते रहने के कारण उसमें भाषा का पुराना रूप बहुत कम रह गया है। इन कवियों में से अधिकांश फ़ारसी-अरबी के विद्वान् थे और वे धर्मप्रचार के लिए लोक-भाषा में रचना करते थे। इन हिंदवी कवियों में से कितने ही 'पीर' थे। 'मसूद' और 'ख़ुसरो' की तरह कुछ केवल कवि ही थे, परंतु उन्होंने अपनी सर्वोत्तम रचना फ़ारसी में लिखी। हिंदवी कविता द्वारा वे केवल चलती-फिरती जन-भाषा में दो घड़ी जी बहला-भर लेते थे। लाहौर, दिल्ली और मुलतान इन दिनों मुसलमान धर्मप्रचारकों के केन्द्र थे और यह हिंदवी काव्य इन्हीं केन्द्रों से संबंधित है।

यह हिंदवी काव्य नाथपंथियों और पंतों के काव्य से बहुत भिन्न नहीं है। भाषा में अंतर केवल इतना है कि हिंदवी काव्य में अरबी-फ़ारसी के शब्द अधिक मात्रा में प्रयोग में आये हैं। दोनों का विषय धर्म है। हिंदवी काव्य में हिंदी छंदों का ही प्रयोग हुआ है। उपमा-उत्प्रेक्षाएँ भी भारतीय परंपरा से ली गई हैं। योग, वेदांत और आत्मबोध-संबंधी हिंदी और संस्कृत शब्दों का प्रयोग भी ख़ूब हुआ है। अरबी-फ़ारसी शब्द तद्भव रूप में आते हैं और छंदों के ढाँचे और शब्दों के प्रयोग में कवि-स्वतंत्रता से पूर्णतः काम लिया जाता है। शैली भी भारतीय है। कहीं प्रश्नोत्तर से काम लिया जाता है, कहीं कहानी से, कहीं भट्ट-भणंत से। वास्तव में अधिकांश हिंदवी साहित्य परिस्थिति-विशेष की उपज है। उसमें हिंदी-प्रदेश की चिंता नहीं मिलेगी। वह विदेशी धर्म के प्रचार और विदेशी संस्कृति और विदेशी भाषा में पले हुए हृदयों के मन-बहलाव का विषय है। उसका महत्त्व केवल ऐतिहासिक है। उत्तर भारत में उर्दू का जन्म किन परिस्थितियों में हुआ, उर्दू भाषा का प्रारम्भिक रूप हिंदी के कितना पास है, यह हम हिंदवी साहित्य के अध्ययन से ही जान सकेंगे। सूफ़ी विचारधारा के भारतीय रूप के विकास के लिए भी हमें इस साहित्य का ऋण स्वीकार करना पड़ेगा। बाबा फ़रीद की हिंदवी कविताओं को आदिग्रन्थ (१६०६ ई०) में महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है, इससे इस कविता के महत्त्व का पता चलता है। इनके बाद दूसरे

महत्वपूर्ण सूफ़ी बन्दानवाज़ गेसूदराज़ (१३१८-१४२१) हैं।" खड़ीबोली गद्य के इतिहास के लिए उनका ग्रन्थ, मैराजुल आशक़ीन (१३९८) महत्वपूर्ण है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आदि युग के साहित्य का बड़ा महत्त्व है। मध्य युग में जिन धार्मिक आन्दोलनों ने देश में हलचल मचा दी उनका श्रीगणेश इसी युग में हुआ। संतसाहित्य सिद्धों और नाथों की परंपरा को ही आगे बढ़ाता है। सूफ़ी-साहित्य का पहला चरण हमें आदि युग के हिंदवी साहित्य में ही मिलेगा। जैन साहित्य की कोई परम्परा नहीं चली। वह सामान्य भाषा को छोड़कर अपभ्रंश को पकड़ कर चलना चाहता था। इसीसे जन-संपर्क जाता रहा। चारण-साहित्य का विशेष विकास आगे चलकर डिंगल साहित्य के रूप में हुआ। मध्ययुग के राम और कृष्ण-सम्बंधी काव्य के कोई भी चिन्ह आदियुग में नहीं मिलते, ऐसी बात नहीं। जैन सामंतों के यहाँ राम और कृष्ण को लेकर दोहा-चौपाइयों में 'प्राकृत जनकाव्य' लिखे गये। स्वयंभू (७८० ई०) की दो कृतियों हरिवंश पुराण और रामायण (पउम चरिउ) और पुष्पदंत (९५९-९७२) के उत्तर पुराण (कृष्ण-चरित्र) में वीर सामंत के रूप में इन दोनों लोकनायकों का चित्रण हुआ है। पुष्पदंत की रचना में भागवत पुराण की छाया स्पष्ट है। 'प्राकृत पैङ्गल' (११७९ ई० में संग्रहीत) में कुछ ऐसी कविताएँ भी हैं जिनसे यह भी पता चलता है कि ईसा की १९वीं शताब्दी में राम और कृष्ण की दशावतार में स्थापना हो चली थी और वे स्तुति-पूजा के विषय थे।

परन्तु इस सारे आदिकाल का और भी अधिक महत्त्व हिंदी भाषा के विकास के इतिहास से सम्बन्ध रखता है। १४०० ई० के बाद हमें निश्चित रूप से अवधी, ब्रजभाषा, डिंगल और खड़ीबोली (हिंदवी, दकनी) में रचनाएँ मिलने लगती हैं। इस युग के साहित्य की भाषाओं के सम्बन्ध में अभी विशेष खोज नहीं हुई है परन्तु खोज होने पर, सम्भव है, किसी सामान्य भाषा का का पता चले। सिद्धों, नाथों, परवर्ती संतों की भाषा और हिंदवी में बहुत कुछ साम्य है। चारण-साहित्य की भाषा में हिंदवी या खड़ीबोली के रूप मिलते हैं। जैन-साहित्य अपभ्रंश की साहित्य-परंपरा को ही अधिक निभाता जान पड़ता है। जो हो, अपभ्रंश से हिंदी की ओर बढ़ते हुए यह आदि युग का साहित्य भाषा और विचारधारा दोनों की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण कड़ी उपस्थित करता है। इस युग के साहित्य और भाषा के अनुसंधान से अनेक समस्याओं का समाधान हो सकेगा।

पूर्व मध्य युग

१४०० ई०—१६०० ई०

राजनैतिक परिस्थिति

तांत्रिक काल के अन्त में ११९३ ई० से १२०६ ई० तक के अन्तर्गत हमारी राजनैतिक सत्ता विदेशी शासकों के आधीन हो गई। इसके पश्चात् उत्तरी भारत पर दो राजवंशों का शासन रहा। १२०६ ई० से १५५६ ई० तक सुलतान वंश और तदुपरान्त मुगल वंश। इसके अतिरिक्त दिल्ली के केन्द्र में विदेशी शासकों की ही शक्ति रही। परन्तु समस्त राजपूताना, बुन्देलखंड आदि में हिन्दू शासकों का ही राज्य रहा। अतएव आधे उत्तर भारत में स्वदेशी राज्य थे। देशी शासक पूर्णतयः लुप्त नहीं हुए थे। १५२७ ई० में राणा सांगा और बाबर में युद्ध हुआ और सांगा ने एक बार हिन्दू राज्य स्थापित करने का प्रयत्न किया परन्तु उसकी अभिलाषा स्वप्नमात्र ही रही। यह परिस्थिति लगभग १८०० ई० तक चलती रही। यद्यपि दिल्ली के साम्राज्य के अन्तर्गत बसनेवाली प्रजा राजनीतिक दृष्टि से विदेशी सत्ता के आधीन थी परन्तु एक तरह से ग्रामीण जनता विदेशी सत्ता के सम्पर्क में नहीं आ सकी थी। वह कर देकर ही निश्चिन्त रहती थी। ग्रामीण पंचायत ही ग्रामीण द्वन्दों का निर्णय कर देती थी। सन् १५२७ में राजनीतिक क्षेत्र में परिवर्तन हुआ। अन्तिम सुलतान इब्राहीम लोधी के समय में बाबर का आक्रमण, पानीपत के क्षेत्र में बाबर की विजय और फलतः मुग़ल साम्राज्य की स्थापना हुई जो लगभग १८०० ई० तक रहा।

सांस्कृतिक परिस्थिति

संस्कृति की दृष्टि से सुलतानों ने न तो भारतीय संस्कृति को ही समझने का प्रयत्न किया और न उन्होंने उसमें हस्तक्षेप किया किन्तु मुग़लों ने इसके विपरीत इस ओर विशेष ध्यान दिया और मिश्रित (ईरानी-भारतीय) संस्कृति की स्थापना की। इनके पूर्व भी तथा इनके काल में भी जो हिन्दू जनता धर्म-परिवर्तन करके मुसलमान हो गई थी उसने अपनी हिन्दू संस्कृति को ही सुरक्षित रखना इष्ट समझा। इस प्रकार मुसलमानों के भी दो दल विदेशी मुस्लिम और नव मुस्लिम हो गये। ईरानी संस्कृति के प्रभाव के कारण मुग़ल शासकों में भारतीय संस्कृति के प्रति सहानुभूति रही क्योंकि ईरानी संस्कृति भारतीय आर्य संस्कृति का ही एक अंग थी।

सामाजिक परिस्थिति

पिछले काल में व्यवसाय और स्थान की दृष्टि से इस देश में अनेक उपजातियाँ हो गई थीं जैसे स्थान की दृष्टि से माथुर, सरयूपारीण आदि और व्यवसाय की दृष्टि से चमार, तेली, धोबी आदि। इस काल में बिरादरी की संस्था निश्चित रूप से विकसित हो गई थी। भक्ति-काल में उपजातियों का संगठन हुआ। इन उपजातियों में परस्पर खान-पान इत्यादि भेद मुसलमानों के समय में ही बढ़ा। इस सम्बन्ध में दो दृष्टिकोण मिलते हैं। पहला दृष्टिकोण यह है कि यह उपजाति व्यवस्था ही हमारे राजकीय पतन का मुख्य कारण थी। क्योंकि इस प्रकार देश अनेक भागों में विभक्त हो गया और फिर संगठित न हो सका। दूसरा दृष्टिकोण यह है कि इस उपजाति व्यवस्था के कारण हमारी संस्कृति को बहुत सहायता मिली। १२०० ई० के पूर्व भारतीय समाज, धर्म और शिक्षा आदि की व्यवस्था हमारे ही शासकों के हाथ में थी परन्तु तत्पश्चात् ये व्यवस्थाएँ अभिज्ञ या देशी संस्कृति से अनभिज्ञ शक्तियों के हाथ में चली गई। इस परिस्थिति में यदि बिरादरी की संस्था न बनाई जाती तो भारत की प्राचीन संस्कृति के चिह्न भी न मिलते। इन बिरादरी की संस्थाओं ने विदेशी संस्थाओं के प्रति एक प्रकार का असहयोग आन्दोलन किया। असहयोग का ध्येय अपनी संस्कृति को सुरक्षित रखना था। प्रादेशिक सम्प्रदाय इसलिए स्थापित हुए कि इस प्रकार संस्कृति की रक्षा अधिक सरलता से हो सकती थी। दंड का विधान किया गया और समाज को ही अपने हाथों दंड देने का अधिकार देना पड़ा। इससे विवाह-सम्बन्धी समस्याएँ जटिल बन गईं। बाल-विवाह, विधवा-विवाह का बहिष्कार और सती-प्रथा आदि कुप्रथाएँ विशेष रूप से इस काल में प्रचलित थीं। पर्दे की प्रथा मुसलमानों के ही सम्पर्क से आई। उच्चश्रेणी के धनीमानी मुसलमानों की स्त्रियाँ पर्दे में चलती थीं। उनकी देखा-देखी पर्दा यहाँ भी चल पड़ा; विशेषकर उत्तर भारत के नगरों के उच्चवर्ग के हिन्दुओं में। परन्तु जो प्रान्त मुसलमानों के सम्पर्क में अधिक नहीं आये थे वे इस प्रथा से मुक्त थे।

धार्मिक परिस्थिति

इस्लाम धर्म और राजा का धर्म एक हो गया था, अतः यह स्वाभाविक था कि इसका प्रचार शीघ्रता से होता। इस नवीन धर्म ने भारतीय समाज में एक नई परिस्थिति उत्पन्न कर दी थी। परन्तु मुख्य धार्मिक धाराएँ हिन्दू जनता को ही लेकर चलती थीं।

भक्ति-काल में हिन्दी प्रदेश में पाँच धार्मिक धाराएँ चल रही थीं—

(१) मुसलमानी एकेश्वरवादी धारा, जिसे शासकों का सहारा मिल रहा था।

(२) सूफी प्रेमाश्रयी धारा, जिसे ईरानी संस्कृति और इस्लामी विचार-धारा का सहारा मिला था।

(३) हठयोग की धारा, जिसका विशेष विवरण हम पीछे कर आये हैं।

(४) सहजयोगी निर्गुण मत की ज्ञानाश्रयी धारा, जिसमें प्रेम का भी सहयोग था।

(५) वैष्णव धारा, जिसमें भक्ति का प्रधान स्थान था। इसके कई रूप विकसित हुए—विष्णुभक्ति, रामभक्ति, कृष्णभक्ति, राधाभक्ति। इन पाँचों धाराओं ने एक दूसरे को प्रभावित किया। ये धाराएँ बराबर समानान्तर चलती रहीं। रीति-काल के आरम्भ तक हम इनमें से लगभग सभी धाराओं को चलता हुआ पाते हैं। फिर धीरे-धीरे इनमें से कुछ का बल घट गया परन्तु किसी का भी लोप नहीं हुआ। भक्तिकाल की जिस विचारधारा का प्रकाशन साहित्य में हुआ, उसका परिचय प्राप्त करने के लिए इनमें से प्रत्येक का समझना आवश्यक है।

भारतवर्ष में जब इस्लाम का प्रचार हुआ तो उसके अन्तर्गत केवल धार्मिक भावनाएँ ही सीमित नहीं थीं। अतएव भारत के मुसलमानों के सम्पर्क में आने पर भारतीयों पर केवल धार्मिक विचारावली का ही प्रभाव न पड़ा, प्रत्युत् इस्लामी संस्कृति का भी प्रभाव पड़ा; यह प्रभाव अनेक रूपों में विकसित हुआ। कुछ हिन्दुओं ने तो हिन्दू धर्म को त्याग कर इस्लाम धर्म स्वीकृत कर लिया। उत्तर भारत में ही अधिकांश धर्म-परिवर्तन हुए। पंजाब में ५० प्रतिशत जनता ने, बंगाल में ५० प्रतिशत जनता ने और मध्यप्रदेश में २५ प्रतिशत जनता ने धर्म-परिवर्तन किया। हिन्दी प्रदेश में कुछ विशेष परिस्थिति के कारण इस्लाम का अधिक प्रचार नहीं हो सका। कुछ हिन्दुओं ने धर्म-परिवर्तन तो नहीं किया परन्तु उन्होंने इस्लामी संस्कृति को स्वीकार कर लिया अर्थात् उनपर संस्कृति का ही प्रभाव पड़ा। फ़ारसी का पठन-पाठन, मुसलमानों का रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा आदि इन्होंने अपनाये, इस वर्ग के अन्तर्गत अधिकांश संख्या में कायस्थ और काश्मीरी थे। जनता की विचारावली पर भी इस्लामी प्रभाव पड़ा। उदाहरणार्थ इस्लाम धर्म में एकेश्वरवाद पर अटल विश्वास था। यद्यपि हमारे यहाँ प्राचीन काल से ही

ईश्वर को एक माना जाता था, परंतु मुसलमानों के आने तक हिन्दी प्रदेश में अनैकेश्वरवाद का प्रचार था। इस्लाम धर्म के प्रभाव से जनता में एक बार फिर एकेश्वरवाद पर आस्था हो गई।

इस्लाम धर्म में पैग़म्बर की कल्पना थी। इसी के अनुसार भारतवर्ष में भी भक्तिकाल के अनेक सम्प्रदायों के संचालक व्यक्तियों को भी मुहम्मद का-सा ही स्थान दिया गया। तदनुसार वल्लभाचार्य, रामानुज, कबीर, नानक आदि को ईश्वर तक पहुँचाने में सहायक मानकर उन पर बड़ी श्रद्धा की गई। मुसलमानी एकेश्वरवादी धारा का साहित्य हिंदी में नहीं है। उसका थोड़ा सा प्रभाव ही साहित्य में लक्षित है। जैसे, मूर्तिखंडन, अवतारवाद का विरोध, ऐकेश्वरवाद का कट्टर समर्थन, यद्यपि निर्गुण संतमत के एकेश्वरवाद में और मुसलमानी एकेश्वरवाद में मौलिक अंतर है। मुसलमानी एकेश्वरवाद में ईश्वर के ऐश्वर्य की ही प्रधानता है और मनुष्य से उसका संबंध भय और दण्ड का है, सन्तों का एकेश्वरवाद सूफ़ी भावना से प्रवाहित होकर माधुर्य और प्रेम पर खड़ा है।

सूफ़ी प्रेमाश्रयी धारा के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि वह भारतीय अद्वैतवाद और भक्ति से प्रभावित है, जिसका प्रवेश बहुत पहले ईरान में हुआ था। इसमें साधक-भक्त विरह की साधना से ईश्वर के नैकट्य को प्राप्त करना चाहता था।

भक्तिकाल की धार्मिक धाराओं में सबसे महत्त्वपूर्ण वैष्णव धारा है। भक्ति-काल के धार्मिक क्षेत्र में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस काल में पौराणिक धर्म अर्थात् वैष्णव धर्म को एक नूतन रूप मिलता है। अतएव भक्ति-सम्प्रदाओं का मूल प्राचीन काल के वासुदेव धर्म में मिलता है। इस काल की वैष्णव भक्ति का विकास तीन भागों में किया जा सकता है :

क—वासुदेव सुधार-काल—इसका समय ६०० पूर्व ई० से २०० पू० ई० तक है। नारायणीधर्म या वैष्णव धर्म इसके ही पर्यायवाची हैं। इस काल के अन्तर्गत इसका प्रचार उत्तर भारत में हुआ। इसके पश्चात् यहाँ वैष्णव धर्म लुप्त तो नहीं हो गया परन्तु कुछ क्षीण-सा हो गया।

ख—२०० पू० ई० के पश्चात् वैष्णव धर्म दक्षिण भारत में चला गया। दक्षिण भारत में शैवधर्म प्रबल था। सम्भवत: मथुरा के निकटवर्ती कुछ वैष्णव दक्षिण की ओर गये और उन्होंने वहाँ वैष्णवमत का प्रचार किया। २०० पू० ई० से १२०० ई० तक वैष्णव धर्म दक्षिण में ही प्रमुख

रूप से रहा। दक्षिण में वैष्णवधर्म से सम्बन्ध रखनेवाले कुछ लेखक हुए हैं जिनमें अलवार प्रसिद्ध हैं। यह पाँचवीं-छठी शताब्दी में वर्तमान थे। ये संत थे और भक्ति-प्रधान पदों की रचना करते थे। १००० ई० और १३०० ई० के बीच में दक्षिण में चार महान् आचार्य हुए—निम्बार्क, मध्वाचार्य, रामानुज और विष्णुस्वामी। इन्होंने वैष्णवधर्म सम्बन्धी धार्मिक ग्रन्थों की रचना की और स्वयम् वैष्णवधर्म के प्रचार में सहायक हुए।

ग—भक्ति के विकास में तृतीय काल १३०० ई० से १८०० ई० तक माना जाता है। उत्तर भारत में रामानन्द, वल्लभाचार्य, हितहरिवंश आदि विशेष रूप से भक्ति-सम्प्रदायों के प्रवर्तक हुए। रामानन्द रामानुज की, वल्लभाचार्य विष्णुस्वामी की, हितहरिवश मध्वाचार्य की और विद्यापति निम्बार्काचार्य की भक्तिपरम्परा के भक्त थे। इनके द्वारा अनेक भक्ति-सम्प्रदाओं की स्थापना हुई। इन सभी सम्प्रदायों में विष्णु के किसी न किसी रूप की उपासना होती थी अथवा किसी न किसी अवतार की पूजा होती थी। यद्यपि आरम्भ में राम, कृष्ण आदि विष्णु के अवतार माने गये, परन्तु धीरे-धीरे इसमें परिवर्तन हुआ और वे सीधे परब्रह्म के रूप माने जाने लगे। तुलसी, सूर आदि भक्त कवियों ने अपने आराध्य देव राम या कृष्ण को विष्णु से भी बढ़कर परब्रह्म-स्वरूप माना है। उनकी उपासना विष्णु द्वारा भी कराई गई है। दार्शनिक दृष्टि से इन सभी सम्प्रदायों के मत अद्वैत से सम्बन्ध रखते हैं। षट्दर्शनों में वेदान्त अथवा अद्वैत से ही इनका सम्बन्ध अधिक है और ये सभी ईश्वरवादी हैं।

समस्त भक्ति-सम्प्रदायों में भक्त और भगवान् के सम्बन्ध में उपासना के स्थान में भक्ति की भावना अधिक महत्त्वपूर्ण हो गई। उपासना का अर्थ है परमात्मा के समीप बैठना। योगी भी परमात्मा के निकट योगसाधन से पहुँचता है, अतएव वह भी उपासक हो सकता है, परन्तु इन भक्तों में यौगिक उपासना से भिन्न भक्ति-भावना को ही महत्त्व प्राप्त हुआ है। भक्ति-भावना में भजन, प्रार्थना आदि के अतिरिक्त आत्मसमर्पण की भावना भी है। इस प्रकार की भक्ति का उदय उत्तर महायान में ही हो चुका था। परन्तु शीघ्र ही वैष्णवधर्म ने उसी प्रकार की भक्ति का विकास कर लिया जिस प्रकार की भक्ति महायानियों में प्रचलित थी। आत्मसमर्पण-प्रधान भक्ति-साहित्य पहले-पहल दक्षिण में ही मिलता है। यद्यपि संहिताओं में भी किंचित रूप में इसका परिचय मिलता है। कुछ लोगों का यह मत है कि भक्ति की भावना ईसाई मत के प्रचारकों से दक्षिणवालों ने ली होगी, क्योंकि उस समय दक्षिण में

कुछ रोमन कैथलिक चर्च वर्तमान थे, परन्तु वर्तमान खोजों ने इस प्रभाव को असिद्ध अथवा नगण्य बता दिया है।

भक्ति का सम्बन्ध संस्कृति के प्रत्येक अंग से था। साम्य भाव की भी इसमें अवस्थिति थी। क्योंकि भक्तों का विश्वास था कि भगवान् की दृष्टि में सब एक समान हैं। उनकी दृष्टि में न कोई नीचा है न ऊँचा। "जाति-पाँति पूछै नहिं कोई। हरि का भजै सो हरि का होई।" वैष्णव सम्प्रदाय में उदारता की भावना भी विशेष रूप से मिलती है। अन्य सम्प्रदायों का खण्डन करना किसी भी वैष्णव सम्प्रदाय का दृष्टिकोण नहीं रहा। प्रादेशिक भाषाओं के द्वारा सब सम्प्रदायों ने अपने-अपने मत का प्रचार किया क्योंकि उनका ध्येय था कि उनका मत सर्वसाधारण में फैल जाय। अतएव सर्वसाधारण की भाषा ही उनके प्रचार का साधन और माध्यम हो सकती थी। सभी ग्रन्थ बोली जानेवाली भाषा में लिखे गये, अतएव साहित्य और भाषा पर भी भक्ति का प्रभाव पड़ा और उसके द्वारा इनका प्रचार हुआ। आरम्भ में इन सभी सम्प्रदायों ने कर्मकांड और नैतिक आदर्श को ऊँचा स्थान नहीं दिया। परन्तु धीरे-धीरे इनकी ओर भी विशेष ध्यान दिया जाने लगा और कर्मकांड को विशेष ध्यान दिया जाने लगा।

उपसंहार

ऊपर हम भक्ति-काल की चार भक्ति-धाराओं का उल्लेख कर चुके हैं—(१) निर्गुण धारा (२) राम भक्ति धारा (३) कृष्ण-भक्ति धारा (४) निर्गुण प्रेम या सूफ़ी धारा। इन चारों धाराओं ने मध्य युग के पूर्वार्द्ध में एक बड़े साहित्य का निर्माण किया। भाषा और भाव दोनों की दृष्टि से यह साहित्य महत्त्वपूर्ण है।

भाषा के विचार से एक विचित्र रोचक परिस्थिति मिलती है। संत कवियों ने खड़ीबोली का एक विशिष्ट रूप लेकर अपनी विचारधारा व्यक्त की। यह हिन्दवी थी। किन्तु यह विशुद्ध खड़ीबोली न थी, प्रत्युत इसमें अनेक बोलियों के व्याकरण रूपों और शब्दों को आश्रय मिला था। यद्यपि ढाँचा मुख्यतः खड़ीबोली का था इसीलिए संत कवियों की भाषा पर विचार करने पर अनेक भेद हो जाते हैं। उसमें प्रादेशिक बोलियों के रूप का स्वतंत्रतापूर्वक प्रयोग हुआ है। सगुण भक्ति की कृष्ण-शाखा में भाषा की दृष्टि से विशेष रूप से ब्रजभाषा का उपयोग हुआ है। ब्रजभाषा से पूर्व शौरसेनी प्राकृत और शौरसेनी अपभ्रंश दोनों का साहित्य में प्रयोग होता था। ब्रजभाषा

शौरसेनी अपभ्रंश से ही निकली है। वल्लभाचार्य के पूर्व हमें ब्रज की बोली का साहित्यिक प्रयोग नहीं मिलता। रामभक्ति-साहित्य प्रमुख रूप से अवधी में लिखा गया। अवधी से पूर्व इस प्रदेश में अर्धमागधी अपभ्रंश का प्रयोग होता था। इस प्रकार अवधी का साहित्य में प्रयोग कोई नवीन प्रणाली सिद्ध नहीं होता; वरन् वह प्राचीन प्रणाली का ही रूपान्तर मात्र था। राम-साहित्य में पश्चिमी अवधी का ही प्रयोग हुआ। रामचरितमानस में गोस्वामी तुलसीदास ने अवधी के इसी रूप का ही प्रयोग किया। प्रेममार्गीय सूफ़ियों के साहित्य में पूर्वी अवधी का प्रयोग हुआ है और उसकी भाषा जनता के अधिक निकट है।

संत-साहित्य साखी और शब्दों के रूप में प्रगट हुआ। साखी का छन्द दोहा था। दोहरा अथवा दोहा प्राकृत में ही अधिक प्रयुक्त हुआ था। अपभ्रंश और पुरानी हिन्दी में भी इसका प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ। शब्द या पद भी एक लौकिक शैली थी। जहाँ तक खोज हुई है यह सिद्ध हुआ है कि यह शैली प्रादेशिक थी, साहित्यिक नहीं और साधारण जन-समाज में लोक-गीतों के रूप में चल रही थी। इस प्रकार संत-साहित्य अपने देश की साहित्यिक परम्परा का वाह्य और अन्तरंग दृष्टिकोण से अर्थात् भाषा विषय-विवेचन की दृष्टि से प्रतिनिधि नहीं था। शेष ब्रज-साहित्य और राम-साहित्य प्राचीन परम्परा के अधिक निकट हैं। ब्रज-साहित्य पद के रूप में है जिसका प्रयोग जयदेव के खंड-काव्य गीतगोविन्दम् के अतिरिक्त और किसी ग्रन्थ में नहीं मिलता। अनुमान यह होता है कि जयदेव ने लौकिक शैली को अपने काव्य का माध्यम बना लिया था। अवधी साहित्य में जिन मात्रिक छन्दों दोहा, कवित्त, चौपाई आदि का प्रयोग हुआ, उनका प्रयोग प्राकृत और अपभ्रंश काल में हो चुका था। इन छन्दों का मूल रूप प्राकृत का है, संस्कृत का नहीं। इस प्रकार वाह्य रूप से अर्थात् छन्द और भाषा के स्वरूप की दृष्टि से यह भक्ति-साहित्य प्राचीन साहित्य से मेल नहीं खाता, किन्तु विषय की दृष्टि से राम और कृष्ण की सगुण भावना पौराणिक है और इस साहित्य पर गीत-गोविन्द की छाप है, विशेषकर कृष्ण-साहित्य पर। मानस का वाह्य रूप (छन्द) संस्कृत की परिपाटी से भिन्न है परन्तु विषय की दृष्टि से उसमें जो राम की भावना है वह प्राचीन थी यद्यपि मानस के राम और वाल्मीकि अथवा अध्यात्म के राम में सूक्ष्म भेद भी अवश्य है।

जायसी ने जनता के बीच में प्रचलित ऐतिहासिक कथाओं को अपना विषय चुना। ये कथाएँ जन-भावनाओं के प्रवेश के कारण रूपान्तर प्राप्त कर

चुकी थीं, अतः जायसी और उनका अनुकरण करनेवाले सूफ़ी कवियों में ऐतिहासिकता का रूप विकृत हो गया है। जायसी की रचना फ़ारसी मसनवियों की रूपरेखा से प्रभावित है। उनका सबसे बड़ा महत्त्व यह है कि उनकी शैली ने हमारे सब से बड़े कवि और मध्ययुग के सब से महत्त्वपूर्ण धर्म-ग्रन्थ पर प्रभाव डाला। इस प्रकार हम देखते हैं कि सूफी-साहित्य का विषय लौकिक और जनता में प्रचलित था यद्यपि भावधारा और शैली की दृष्टि से उस पर बहुत गहरा विदेशी प्रभाव था।

धार्मिक दृष्टि से निर्गुणधारा का सम्बन्ध सिद्ध-साहित्य से था। यह धारा मूलतः बौद्ध धर्म से प्रभावित थी परन्तु इस पर अन्य प्रादेशिक प्रभाव भी पड़े थे। इस प्राचीन योगधारा के अतिरिक्त इस काव्य की विचारा-वली के प्रमुख भाव भक्ति पर तत्कालीन भक्ति-आन्दोलन का भी प्रभाव था। एक प्रकार से इसमें रामानन्दी भक्ति का सम्मिश्रण हो गया था। सगुण भक्ति की कृष्ण-शाखा पर दो प्रभाव मुख्य हैं। एक तो स्वामिभक्ति आंदोलन का प्रभाव और दूसरे स्मार्त विचारावली का प्रभाव। प्राचीन स्मृतियों और पुराणों में जिन प्राचीन धार्मिक विचारों का विधान है और जिन्हें विदेशी लेखकों ने ब्रह्मनिज़्म (ब्राह्मण मत) कहा है, उसने इस काव्य को विशेष रूप से प्रभावित किया। सगुण भक्ति की रामा शाखा में भी ये दोनों प्रभाव मिलते हैं। मानस का कोई भी पाठक उसके स्मार्त भाव की प्रबलता से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। परन्तु उसमें भक्ति का स्थान भी न्यून या गौण नहीं है। यदि हम तुलसी या सूरदास की तुलना करें तो हमें तुलसी में सनातनी विचारधारा की अधिकता दिखाई देगी। इन दोनों राम कृष्ण भक्ति-धाराओं पर मुसलमानों का प्रभाव बहुत कम पड़ा। निर्गुण प्रेममार्गी साहित्य में सूफ़ी भावना प्रमुख थी। परन्तु इसके साथ भारतीय विचारावली (पुराण और अद्वैत दर्शन) का अद्भुत सम्मिश्रण था।

भक्ति-साहित्य की दार्शनिक और धार्मिक पृष्ठभूमि

भक्ति-साहित्य को समझने के लिए उसके काव्य-गुण की विवेचना ही पर्याप्त नहीं है क्योंकि उस साहित्य में विषय का महत्त्व काव्य-गुण से कम नहीं है। वास्तव में भक्तों का ध्येय एक विशेष धार्मिक जगत् की सृष्टि करना रहा है। उनका साहित्य जहाँ एक ओर उनकी साधना को व्यक्त करता है, वहाँ दूसरी ओर उसमें किसी हद तक प्रचार की भावना भी सन्निहित है। उसके दो दृढ़ आधार हैं। एक, दर्शन जिसकी प्रतिष्ठा आचार्य करते थे और

जिसमें ब्रह्म, जीव और संसार एवं इन तीनों के सम्बन्ध पर विचार किया जाता था; दूसरे, वे धर्मभाव जो उस समय जन-साधारण में विशेष परिस्थितियों के कारण चल रहे थे और जिन्हें समय-समय पर आचार्यों और धर्म-नेताओं ने निचले स्तर से ऊपर उठाने की चेष्टा की है।

१—दार्शनिक पृष्ठभूमि

भक्ति-काल के प्रारम्भिक दार्शनिक विचारों के मूल में बौद्ध दर्शन को परास्त करने की चेष्टा स्पष्ट दिखलाई देती है। अतः पहले बौद्ध दर्शन की रूपरेखा दे देना उचित होगा।

बौद्ध दर्शन

१—बौद्ध धर्म ब्राह्मण-युग के यज्ञ, याग, पशुबलि और कर्मकांड के विरुद्ध उठ खड़ा हुआ था। वह कर्मकांड विरोधी और अहिंसक था। अतएव बौद्ध दर्शन अहिंसा को परम धर्म मानता था। उसके अनुसार शील, समाधि और प्रज्ञा-यज्ञ ही उत्कृष्ट यज्ञ हैं।

२—जीवन दुखमय है। जीवन और उसके सुखों की लालसा दुख-मूलक है। उस लालसा के नष्ट हो जाने से दुःख का नाश होता है। पवित्र जीवन से यह लालसा नष्ट हो जाती है।

३—सब दुःखों का मूल कारण तृष्णा है। काम अथवा तृष्णा का सब प्रकार से परित्याग करने से दुख का निरोध होता है। इस तृष्णा के नाश का नाम ही निर्वाण है। यह निर्वाण जीवित अवस्था में ही प्राप्त हो सकता है।

४—मनुष्य पंच स्कन्धों का बना हुआ विशेष प्रकार का एक संघ है जिसमें विज्ञान स्कन्ध ही मुख्य है। हिन्दू दर्शन में जिसे आत्मा कहा गया है, उसे ही बौद्ध दर्शन विज्ञान स्कन्ध कहता है। यही पंच स्कन्धों का संघ कर्मों के अनुसार भिन्न-भिन्न रूपों में शरीर धारण करता है। इसी का नाम पुनर्जन्म है। विशेष साधनों के अनुष्ठान से इन स्कन्धों का अपने मौलिक तत्त्वों में अन्तर-भाव होना ही महानिर्वाण है।

५—बौद्ध दर्शन मूलतः अनीश्वरवादी है। साथ ही वह नास्तिक भी है। वह वेदों पर कोई आस्था नहीं रखता। उसने 'शून्य' का महत्त्व अवश्य मानाहै। वास्तव में बौद्ध दर्शन में शून्य का स्थान वही है जो हिन्दू दर्शन में ब्रह्म का है। बौद्ध दर्शन के सिद्धान्त चतुष्टय में निहित हैं—'सर्वं क्षणिकं' 'सर्वं शून्यं' आदि।

६—बौद्ध दर्शन संयास-प्रधान है। यद्यपि शंकर के समय तक उसका रूप विकृत हो गया था परन्तु आरम्भ में उसका प्रचार संन्यासियों और संन्यासिनियों (भिक्षु और भिक्षुणियों) द्वारा ही हुआ।

परन्तु धीरे-धीरे बौद्ध दर्शन का प्रारम्भिक रूप बदल गया। उसमें कई दार्शनिक सम्प्रदाय प्रतिष्ठित हो गये। महायान में बोधिसत्त्व की कल्पना हुई। बोधिसत्त्व की प्राप्ति के लिए सम्यक् संबाधि में चित्र को प्रतिष्ठित करना आवश्यक समझा गया। इसके लिए-पूजा विधानों का आयोजन हुआ—वंदना, पूजा, पापदेशना, पुण्यानुमोदन, अध्येषणा, बोधिचितोत्पाद तथा परिणामना। इन अनुष्ठानों के साथ मन की परिष्कृति के लिए दान, शील, शान्ति, वीर्य, ध्यान और प्रज्ञा का उपार्जन आवश्यक था। प्रज्ञा की उत्पत्ति के बाद किसी प्रकार का व्यवहार करने को नहीं रह जाता। उस समय इस परमार्थ सत्य की प्रतीति होती है कि यह दृश्यमान वस्तुजगत माया के सदृश है, तथा स्वप्न की तरह अलीक और मिथ्या है। इसकी व्यावहारिक सत्ता ही है, पारमार्थिक सत्ता नहीं। इस प्रतीति से समुत्पन्न बोधि चित्त निःस्वभाव, निरालम्ब, सर्वशून्य, निरालय, होता है। वह शून्यता का अनुभव करता है। यही शून्यवाद है। प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन निरीश्वरवादी, शुष्क, निवृत्ति-प्रधान था, परन्तु महायानी दर्शन बोधिसत्त्व की भक्ति और शरणागति का उपदेश करता था। वह एक प्रकार से ईश्वरवादी और प्रवृत्ति-प्रधान था। महायान के इस रूप का भी विकास हुआ। तंत्र-मंत्र की भी प्रतिष्ठा हुई जिसने मंत्रयान की नींव डाली जिसके आधार पर धरणियों का एक बड़ा साहित्य ही खड़ा हो गया। आगे चलकर मंत्रयान से वज्रयान की उत्पत्ति हुई—जिसमें मद्य, मन्त्र, हठयोग तथा मैथुन की शिक्षाएँ प्रधान विषय हैं। वज्रयान तांत्रिक बुद्ध धर्म का विकसित रूप है। दार्शनिक दृष्टि से यह "शून्यवादी" ही है—

दृढं सारमसौशौर्यमच्छेद्याभेद्यलक्षणम्।
अदाहि अविनाशी च शून्यता वज्रमुच्यते ॥

(अद्वयवज्र-संग्रह, पृ० २३)

(अविनाशी तथा सारभूत होने के कारण शून्यता ही "वज्र" का वाच्यार्थ है।)

शांकर अद्वैत

बौद्ध दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रति शंकराचार्य के जन्म से बहुत पहले ही प्रतिक्रिया प्रारम्भ हो गई थी। जब बौद्ध धर्म का राजाश्रय लुप्त हो गया और धर्म का प्रभाव जनता पर से शिथिल होने लगा तब बौद्ध धर्म को परास्त करके प्राचीन हिन्दू-भाव उभरने लगे। दार्शनिकों ने यह परिस्थिति देखी। उन्होंने उभरते हुए भावों को दर्शन का सहारा दिया। इस तरह उन्होंने

बौद्ध-धर्म के मूल आधार पर चोट की। भारत में धर्म और दर्शन साथ साथ चलते हैं। दार्शनिकों ने धर्म की ओर मुड़कर देखा है और धर्म ने दार्शनिकों का सहारा पाकर ऊँचे स्तर पर उठकर जन-भावों के परिमार्जन की चेष्टा की है।

प्राचीन पराजित ब्राह्मणधर्म को पुनः स्थापित करने के लिए जहाँ बौद्ध दर्शन को आत्मसात कर लिया गया है, वहाँ उसकी नास्तिकता के विरुद्ध युद्ध किया गया। शांकर अद्वैत को बादरायण के सिद्धान्तों से मिलाने पर उसमें बौद्ध दर्शन की प्रतिक्रिया स्पष्ट लक्षित होती है। शंकर के ब्रह्म की कल्पना बौद्धों के शून्य से मिल जाती है। उनके अद्वैत का मूल तत्त्व है "सर्वं खल्विदम् ब्रह्म नेह नानास्ति किंचनः"। उनके सिद्धान्त वाक्य हैं—"तत्त्वमसि," "अहं ब्रह्मास्मि," "सद सद्भ्यां अनिर्वचनीय ब्रह्म"। शंकर के ब्रह्म की यह परिभाषा बौद्धों के 'शून्य' से मिल जाती है और इसीलिए शंकराचार्य को 'प्रच्छन्न बौद्ध' कहा गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि शंकर ने बौद्धों से उनकी ज़मीन पर ही मोर्चा लिया और उन्हीं के सिद्धांत-वाक्यों का दूसरी भाषा में प्रयोग किया। सर राधाकृष्णन् का कथन है—"यह कहा जाता है कि ब्राह्मण मत ने बौद्ध मत को गले से लगाकर उसके प्राण ले लिए। इस बात में झूठ है भी नहीं।" शंकर ने चरमसत्ता के तीन रूप माने हैं, पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रातिभाषिक। वस्तुतः पारमार्थिक रूप ही सत्य है। शंकर का ब्रह्म एक प्रकार से निर्गुण ब्रह्म ही है, जिसमें माया का भी योग हुआ है। व्यावहारिक सत्ता के आधार पर उन्होंने व्यवहार के लिए विष्णु को माना है। पारमार्थिक और व्यावहारिक सत्ता में कोई विशेष संबंध नहीं है, परंतु मनुष्यमात्र पारमार्थिक सत्ता की कल्पना तक उठ नहीं सकते। अतः व्यावहारिक सत्ता की योजना की गई है। सांख्ययोग में प्रकृति का जो स्थान है वही शांकर अद्वैत में माया का है। प्रकृति और जीव भी ब्रह्म ही हैं, भेद का कारण विवृत या आभास है जैसे रस्सी में साँप का आभास या सीप में चाँदी का। इस विवृत या आभास का कारण माया है जिसका एक रूप अविद्या भी है।

अद्वैतवाद में सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से भक्ति को स्थान नहीं मिल सकता था परन्तु शंकर की भक्तिपूर्ण रचनाएँ उपलब्ध हैं जिनमें यह स्पष्ट होता है कि वह व्यावहारिक रूप से द्वैत-भावना (ईश्वर-जीव के भेद) के भी पोषक थे। सच तो यह है कि बौद्ध-धर्म के परवर्ती रूप महायान ने साधारण जनता में

भक्ति-भावना इतनी भर दी थी कि कोई भी व्यक्ति उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता था।

शंकर ने भारतीय चिन्तन को दो मुख्य बातें दी हैं—एक ज्ञान को दृष्टमान और अदृश्य जगत् का मापदण्ड मानना और दूसरे अद्वैतवाद। परन्तु अपने तर्कमूलक ज्ञान से अद्वैतवाद की स्थापना करने के लिए शंकर को मायावाद का आविष्कार करना पड़ा। साधारण जनता में उनका यह मायावाद विकृत रूप में पहुँचा। "यह सब दृश्य जगत् असत्य है, नाशवान है, माया है।" उनके ज्ञानमूलक दृष्टिकोण ने संत-सुधार को और योगियों को प्रभावित किया। कई शताब्दियों तक भारतीय सुधारक और चिन्तक इस ज्ञान में भक्ति का योग देने में लगे रहे। शंकर ने जनता में वैदिक धर्म की आस्था और वेद के प्रति अत्यन्त श्रद्धा का भाव भर दिया। दार्शनिक क्षेत्र में उन्होंने अपने दर्शन को प्रस्थानत्रयी (ब्रह्मसूत्र, उपनिषद और गीता) इन तीनों पर स्थिर कर बाद के आचार्यों के लिए यह समस्या उत्पन्न कर दी कि वे भी अपने सिद्धान्तों को इन्हीं तीन ग्रन्थों पर आरोपित करें। दार्शनिक क्षेत्र में इन ग्रन्थों की ऐसी मान्यता शंकर ही के कारण थी। वास्तव में टीका-युग की त्रयी की टीकाएँ टीकाएँ नहीं हैं, मौलिक मत को मान्य पुस्तकों पर आश्रित करने की चेष्टा मात्र हैं।

परन्तु जनता में भक्ति का आन्दोलन निरन्तर बढ़ रहा था। परिस्थिति विशेष एवं वैयक्तिक भावनाओं के कारण अगले आचार्य शंकर की दार्शनिक मान्यता के विरुद्ध उठ खड़े हुए। शंकर ने व्यावहारिक और पारमार्थिक सत्ताओं की कल्पना करके व्यवहार के लिए पंचदेवताओं की पूजा और भक्ति को स्वीकार कर लिया था परन्तु परवर्ती आचार्यों ने इस प्रकार के दो दृष्टिकोण बनाना उचित नहीं समझा। भक्ति के विकास के साथ भिन्न-भिन्न देवताओं की प्रतिष्ठा हो गई थी। उन्हें ध्यान में रखकर इन आचार्यों ने अद्वैत के विभिन्न रूप स्थिर किये और उन्हें धीरे-धीरे द्वैत तक ले गये जो भक्ति-भावना को दृढ़ करने के लिए अत्यन्त आवश्यक था। यदि हम मध्य युग की दर्शन-चिन्तना के क्रमिक विकास पर ध्यान दें तो हमें अद्वैत से द्वैत की ओर संक्रमण करने और द्वैत तथा अद्वैत सिद्धान्तों में सामंजस्य उपस्थित करने की चेष्टा स्पष्ट दिखलाई देगी। १२वीं शताब्दी में रामानुज ने विशिष्टाद्वैत निंबार्क ने द्वैताद्वैत, १३वीं शताब्दी में विष्णुस्वामी ने शुद्धाद्वैत, १४वीं शताब्दी में मध्वाचार्य ने द्वैत और १६वीं शताब्दी में वल्लभाचार्य ने शुद्धाद्वैत के सिद्धांतों का प्रतिपादन किया। इन सभी परवर्ती दार्शनिक चिन्तनाओं में ब्रह्म

का निरूपण अद्वैतवाद से किसी न किसी रूप में भिन्न है। वास्तव में जन-साधारण निर्गुण, अनिर्वचनीय ब्रह्म की उपासना के लिए अधिक समय तक उत्साहित नहीं रह सकता था। मूल अद्वैती दृष्टिकोण में व्यावहारिक दृष्टि से भक्ति का योग था। परंतु उसमें परिवर्तन उपस्थित करने का कारण इस युग की भक्ति-भावना ही है। अत्यंत प्राचीन काल से ईश्वर पर विश्वास रखते हुए और उसकी भक्ति करते हुए आर्य जाति का चिरकाल तक निर्गुणवादी बना रहना बहुत कठिन था।

रामानुज का विशिष्टाद्वैत

विशिष्टाद्वैत के प्रवर्तक रामानुज थे जिनका जन्म संवत् १०७४ है। शंकर ने अद्वैतवाद की कल्पना को पुष्ट करने के लिए माया की अवतारणा की थी परंतु उनके अद्वैतवाद से बौद्ध शून्य की भावना का योग होने के कारण माया की भावना शीघ्र ही जनता में घुस गई। अन्य भक्तों ने इसे भक्ति में बाधक मानकर इसे दूर करने की चेष्टा की परन्तु यह माया की भावना आज तक जनता में चली आ रही है। दार्शनिक सिद्धांतों में सबसे पहले विशिष्टाद्वैत ने माया को अग्राह्य बताया। विशिष्टाद्वैत के अनुसार जीव, ब्रह्म और प्रकृति (परब्रह्म, चित् और अचित् या दृश्यम्) तीनों की सत्ता सत्य है। इसीलिए इस सिद्धांत में माया की आवश्यकता नहीं। ये "पदार्थ त्रियम्" सत्य हैं। ब्रह्म और चित् एक ही तत्त्व से निर्मित हैं। उनका अंतर माया-जनित नहीं है। रामानुज के सिद्धांत के अनुसार ब्रह्म की अभिव्यक्ति पाँच प्रकार से होती है—१. अंतर्यामिन्, २. सूक्ष्म, ३. पूर्णावतार, ४. अंशावतार, ५. अर्चावतार (मूर्ति)। वास्तव में ये ब्रह्म के क्रमागत स्थूलीकरण की चेष्टा है जिसमें युग की सारी जनमान्यताओं का आश्चर्यजनक रीति से समावेश हो गया है। परंतु जहाँ इनमें से प्रत्येक स्वयम् ब्रह्म होने के कारण उपास्य है, वहाँ यह क्रमशः साधक की भिन्न-भिन्न अवस्थायें भी सूचित करते हैं। मूर्तिपूजा, अंशावतार पूजा, पूर्णावतार पूजा और सूक्ष्म की उपासना को क्रमशः पार करके साधक हृदय में अंतर्यामिन् की अनुभूति प्राप्त करता है।

रामानुज का मत है कि सृजन से पहले चरमसत्ता अत्यंत सूक्ष्मरूप में रहती है और जब सृजन प्रारम्भ होता है तो वह सृष्टि का रूप धारण कर लेती है। इस प्रकार ब्रह्म सृष्टि का उपादान कारण है। इसके अतिरिक्त सृष्टि उसी की इच्छा से उत्पन्न होती है। यही ब्रह्म अंतर्यामिन् रूप में सृष्टि को परिचालित करता है। सृष्टि का बीज रूप प्रकृति कहलाता है। प्रकृति से अव्यक्त

की उत्पत्ति होती है। अव्यक्त से महत्। इसके बाद सृष्टि के विकास की कल्पना सांख्य के ढंग पर की गई है। महत् से अहंकार, अहंकार से मनस्, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच तन्मात्रायें जिनसे पंच भूतों की सृष्टि होती है। इस विकास का कारण भी ईश्वर या ब्रह्म ही है क्योंकि प्रकृति और तत्त्व उसी से परिचालित हैं। ईश्वर ब्रह्म का वह रूप है जो गुणों को जन्म देता है और उनमें प्रगट होता है। रामानुज के अनुसार ईश्वर पाँच रूपों में प्रकट होता है—पहला, पर—इस रूप में वह वैकुण्ठ में निवास करता है। यह उसका महत्तम रूप है। दूसरा, व्यूह—यह पर के ही चार रूप हैं। वैकुण्ठवासी पर ईश्वर-भक्तों की सुविधा एवं सृष्टि के लिए वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनुरुद्ध रूप में प्रकट होता है। वासुदेव में छः गुण हैं—ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति, तेजस। शेष तीनों रूपों के दो दो गुण हैं। संकर्षण के गुण हैं ज्ञान और बल, प्रद्युम्न के ऐश्वर्य और वीर्य और अनुरुद्ध के शक्ति और तेजस्, तीसरा विभव जिसका प्रधान गुण विभूति या ऐश्वर्य है। इसी के अन्तर्गत दस अवतार आते हैं। चौथा अन्तर्यामी, जिस रूप में ईश्वर मनुष्य मात्र के हृदय में रहता है। पाँचवाँ अर्चावतार अर्थात् ईश्वर का वह रूप जिसमें वह मूर्तियों में निवास करता है।

शंकर जीवात्मा की स्थिति को नहीं मानते, अतः उन्होंने जीवात्मा के गुणों पर विचार नहीं किया। रामानुज जीव की स्वतंत्र सत्ता को मानते हैं। उनके अनुसार जीव नित्य, प्रकाशवान, चिदानन्द है। वह अपनी सत्ता के लिए ब्रह्म का आश्रित है एवं उसी का विकास है। जीव तीन प्रकार के हैं—बद्ध, मुक्त, और नित्य। बद्ध जीव भी दो प्रकार के हैं। विषयी और कमकाण्डी और ज्ञानवान तथा अज्ञान। बद्ध जीव का लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति होना चाहिए। रामानुज ज्ञान पर बल देते हैं। पहले जीव ज्ञान प्राप्त करे, फिर कर्मों के द्वारा पुण्य उपार्जित करे और अन्त में भक्ति या प्रपत्ति का आश्रय ले। भक्ति की व्यवस्था उच्च वर्णों के लिए की गई थी और प्रपत्ति की व्यवस्था सवर्ण और अवर्ण दोनों के लिए थी। रामानुज भक्ति को प्रपत्ति से अधिक महत्त्व देते थे परन्तु यह पता लगता है कि उनके शिष्य, 'भक्ति और प्रपत्ति की तुलना में कौन बड़ा है?' इस विषय में अनिश्चित मत रखते थे। प्रपत्ति का अर्थ है आत्म-समर्पण। प्रपन्न स्वयम् को भगवान् की शरणागत-वत्सलता पर छोड़ देता है। भक्त की तरह वह स्वयम् भगवान् की ओर क्रियाशील नहीं होता। जहाँ भक्त को पूजा और उपासना-सम्बन्धी कर्मकाण्डों का पालन करना पड़ता है, वहाँ प्रपन्न को कुछ भी नहीं करना पड़ता।

मध्वाचार्य का द्वैतवाद

मध्वाचार्य के मत में ब्रह्म सगुण और सविशेष है। उनके अनुसार पदार्थ या तत्व दो प्रकार का है—स्वतंत्र और अस्वतंत्र। भगवान् स्वतंत्र हैं, और जड़ जगत अस्वतंत्र है। मध्व के अनुसार जीव भगवान् का दास है और भगवान् की प्रसन्नता प्राप्त करना ही जीव का मात्र पुरुषार्थ है। वह ज्ञान को आवश्यक मानते हैं और अङ्कन, नामस्मरण और भजन को ज्ञान-प्राप्ति का साधन। उनके अनुसार जीव ब्रह्म नहीं हो सकता। ऐसा विचार करना ही अधोगति को प्राप्त होना है। वे जिस प्रकार जीव की सत्ता को मानते हैं उसी प्रकार जगत की सत्यता भी सिद्ध करते हैं। उनका कहना है कि विकार होने से ही जगत असत्य नहीं हो सकता। जगत ज्ञान का विषय है और मिथ्या ज्ञान का विषय नहीं होता, अतः ज्ञान सत्य है। ब्रह्म और जीव तथा ब्रह्म और प्रकृति में मूलतः भेद स्वीकार कर लेने के कारण माध्व-दर्शन में माया का स्थान नहीं मिला। आचार्य के मत में जीव चेतन है परन्तु उसका ज्ञान ससीम है और उसे ईश्वर पर निर्भर रहना पड़ता है जो स्वयम् पूर्ण ज्ञानवान्, चेतन और स्वतंत्र है—यही ब्रह्म और जीव का अन्तर है। जीव दो प्रकार के हैं—मुक्ति के योग्य और मुक्ति के अयोग्य।

मध्व निर्वाण-प्राप्ति को लक्ष्य नहीं मानते। उनके मत में वैकुण्ठ-प्राप्ति मुक्ति है। मुक्ति का साधन ज्ञान है। जीव और ब्रह्म पृथक हैं और इन दोनों में सेवक-सेव्य का सम्बन्ध है, यह ज्ञान मुक्ति का कारण है। आचार्य भक्ति को भी ज्ञान के समान ही स्थान देते हैं। उनकी भक्ति की परिभाषा है—सम्पूर्ण रूप से भगवान् के प्रति आत्मसमर्पण।

निम्बार्काचार्य का द्वैताद्वैतवाद

निम्बार्क के मत में ब्रह्म सर्वशक्तिमान और मुख्यतः सगुण है। वही सृष्टि का निमित्त और उपादान कारण है। ब्रह्म जगत रूप में परिणत हुआ है और प्रलय होने पर जगत ब्रह्म में लीन हो जाता है। परन्तु जगत रूप में परिणित होने पर भी ब्रह्म स्वरूपतः निर्गुण और निर्विकार है। जीव ब्रह्म का अंश है, ब्रह्म अंश ही है। इस प्रकार अंश-अंशी होने के कारण जीव और ब्रह्म में भेद है, परंतु यह भेद इस प्रकार का है कि ये दोनों भिन्न भी हैं और अभिन्न भी। जीव और ब्रह्म की यह भिन्नता इतनी अधिक है कि मुक्तावस्था में भी जीव जीव ही है, वह ब्रह्म नहीं हो जाता। यह भिन्नता होते हुए भी मुक्त जीव ब्रह्म और जगत की अभिन्नता का अनुभव

करता है। अर्थात् स्वयं अपने को और जगत को ब्रह्म रूप देखता है। आचार्य के अनुसार जीव दो प्रकार के हैं—बद्ध और मुक्त। मुक्ति का साधन भक्ति है, परन्तु इस भक्ति का रूप उपासना जैसा है। निम्बार्क ब्रह्म के सगुण और निर्गुण दोनों रूप उपासना के लिए उपयोगी समझते हैं। इनमें से किसी भी रूप पर विचार किया जा सकता है।

चैतन्य का अचिंत्य भेदाभेद

चैतन्य मत पर मध्व, निम्बार्क और वल्लभ का प्रभाव पड़ा मालूम होता है। वल्लभ की पुष्टि-साधना और गौड़ीय वैष्णवों की मधुर भाव की साधना में विशेष अन्तर नहीं है। निम्बार्क की भाँति चैतन्य भी द्वैताद्वैत सिद्धान्त को मानते हैं।

चैतन्य मत के अनुसार ब्रह्म सगुण और सविशेष है। जीव सेवक और भगवान् सेव्य है। भगवान् के प्रसाद से ही जीव की मुक्ति होती है। जगत सत्य है और ब्रह्म का परिणाम है। जीव और ब्रह्म चिर भिन्न है, मुक्तावस्था में जीव ब्रह्म से भिन्न रहता है। यहाँ तक चैतन्य और मध्व के मत में साम्य है, परन्तु मध्व के मत में दास्य के अतिरिक्त शान्त, सख्य, वात्सल्य और मधुर भाव को भी स्थान मिला है।

वल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैत

वल्लभाचार्य का मत शुद्धाद्वैत कहलाता है क्योंकि उसमें रामानुज के विशिष्टाद्वैत की विशिष्टता हटा कर अद्वैतवाद शुद्ध किया गया है। इनके मत के अनुसार सत् चित् और आनन्द स्वरूप ब्रह्म अपनी इच्छानुसार इन तीनों रूपों का आविर्भाव करता है। जड़ जगत भी ब्रह्म ही है, परन्तु अपने चित और आनन्द स्वरूपों का पूर्ण तिरोभाव किये हुए तथा सत् स्वरूप का कुछ अंशतः आविर्भाव किये हुए। चेतन जगत भी ब्रह्म ही है जिसमें सत्, चित, आनन्द इन तीनों रूपों में से सत् और चित गुणों का प्रादुर्भाव हुआ है परन्तु आनन्द-तत्त्व तिरोभूत हो गया है। इस प्रकार सत्-चित-आनन्द ब्रह्म से सत्-चित् आत्मा और चित् प्रकृति का जन्म हुआ। वास्तव में तीनों तरह की यही भिन्नता जीव, प्रकृति और परमात्मा के भेदों का कारण है। यह त्रिगुणात्मक ब्रह्म अपने गुणों के आविर्भाव और तिरोभाव से इस संसार के रूप में प्रगट हुआ।

वल्लभ के अनुसार ऐश्वर्य, वीर्य्य, यशस्, श्री, ज्ञान और वैराग्य ब्रह्म की विशेषताएँ हैं। दीनत्व, सर्व-दुःख-सहन, सर्वहीनत्व, जन्मादिसर्वापद्विषयत्व, देहादिस्वहंबुद्धि और विषयासक्ति। परमात्मा से आत्मा (जीव) का उसी

प्रकार हुआ जिस प्रकार अग्नि से चिनगारी प्रगट होती है। यह काम ब्रह्म की अपनी ही शक्ति से ही हुआ, इसमें माया का कोई हाथ नहीं। वल्लभाचार्य के मत में जीव भी उतना ही सत्य है जितना ब्रह्म। वास्तव में जीव और ब्रह्म एक ही हैं क्योंकि ब्रह्म जीव का उपादान कारण भी है। जीवात्मा परमात्मा का प्रतिबिम्ब नहीं है। वह उसका अंग है। आत्मा और परमात्मा (जीव और ब्रह्म) में अंतर केवल यही है कि जीव की शक्तियाँ अपनी सत्ता के कारण सीमित हैं। वल्लभाचार्य का मत है कि परमात्मा से आत्मा और प्रकृति के विकसित होने में माया का हाथ नहीं है। परंतु वह माया को अवश्य मानते हैं, यद्यपि उनकी परिभाषा नई है। माया ब्रह्म की शक्ति है जो उसी की इच्छा से संचालित होती है, अतः मायात्मक जगत मिथ्या नहीं है। शंकराचार्य के मत में जीवात्मा-परमात्मा में भिन्नता माया के कारण दिखाई पड़ती है। वास्तव में यह नानात्व मिथ्या है, परंतु वल्लभाचार्य के अनुसार जीवात्मा की परमात्मा से भिन्नता सत्य है और इस भिन्नता का कारण भी परमात्मा ही है। इनके अतिरिक्त शंकराचार्य से इनका यह भी भेद है कि वे प्रकृति की सत्ता को भी सत्य स्वीकार कर लेते हैं। मध्व के अनुसार जीव और प्रकृति परमात्मा से भिन्न हैं और एक प्रकार से परतंत्र हैं। परंतु वल्लभाचार्य के अनुसार जीव और प्रकृति वास्तव में परमात्मा की आंशिक अभिव्यक्ति हैं। परमात्मा से वे इसलिए भिन्न हैं कि उनमें उसके सारे गुण प्रगट नहीं होते।

वल्लभाचार्य के अनुसार आत्माएँ तीन प्रकार की है, (१) मुक्तियोगिन, (२) नित्य सखारिन्, (३) तमोयोग। नित्य सखारिन् आत्मा की मुक्ति नहीं होती। वह अनत काल तक आवागमन के चक्कर में पड़ी रहती है। तमोयोग आत्माएँ इनसे भी निकृष्ट हैं। संसार में जीवन-यापन करने के पश्चात् इन्हें अनंत काल के लिए अंधकार में जाना पड़ता है। मुक्तियोगिन आत्माएँ ही ऐसी आत्माएँ हैं जो मुक्ति प्राप्त कर पाती हैं। कौन आत्मा किस प्रकार की है यह पहले से ही निश्चित है।

मुक्तियोगिन आत्माएँ भी बिना परब्रह्म के अनुग्रह के मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकतीं। मुक्ति के साधन के विषय में वल्लभाचार्य ने मौलिक कल्पना की है। आचार्य का मत है कि भक्ति से कृष्ण की अनुभूति होती है। यही कृष्ण परब्रह्म हैं परन्तु उनकी भक्ति मनुष्य में किस प्रकार उत्पन्न हो? वास्तव में भक्त को भक्ति के उत्पन्न करने के लिए अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ता। वह भक्ति भगवान् की कृपा और अनुग्रह से ही प्राप्त हो सकती है। इसी अनुग्रह का

नाम वल्लभाचार्य ने पुष्टि रखा है। षोडशग्रन्थ में निरोध (अनुग्रह-द्वारा मुक्ति) का वर्णन करते हुए महाप्रभु लिखते हैं—

हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मग्ना भवसागरे।
ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमायात्दहर्निशं ॥

(जिन्हें भगवान् ने छोड़ दिया है वे भवसागर में डूब गये हैं और जो निरुद्ध किये गये हैं वे अहर्निश आनंद में लीन हैं)। इसी निरोधमार्ग (पुष्टिमार्ग) का वर्णन विस्तार रूप से "पुष्टि-प्रवाह-मर्य्यादा-भेद" में किया गया है। अणुभाष्य में भी उन्होंने अपने पुष्टिमत का विवेचन किया है। वे कहते हैं—

कृति साध्यं साधनम् ज्ञानं भक्तिशास्त्रेण बोध्यते । ताभ्यां विहिताभ्याम् मुक्तिर्मर्यादा । तद्रहितानामपि स्व स्वरूप बलेन स्वप्रापणं पुष्टिरित्युच्यते ॥

इससे यह पता चलता है कि महाप्रभु के मतानुसार मुक्ति के दो मार्ग हैं— एक ज्ञान और साधना का जिसे उन्होंने मर्यादा का नाम दिया है और दूसरा भगवान के अनुग्रह का जिसे उन्होंने पुष्टि का नाम दिया है। ज्ञान-प्राप्ति के लिए "कष्ट कृच्छ्र" साधनाओं की आवश्यकता है और वे साधन सर्वसुगम नहीं हैं। इसी से जन-साधारण के हित के लिए मर्यादा-मार्ग के साथ पुष्टिमार्ग की अवतारणा की गई। परंतु वल्लभाचार्य का यह भी कहना है कि पुष्टिमार्ग मर्यादा-मार्ग से कहीं ऊँचा है। ज्ञान और योग द्वारा जिस मुक्ति की प्राप्ति होती है वह भगवत्-अनुग्रह द्वारा प्राप्त मुक्ति ही मनुष्य मात्र का लक्ष्य होना चाहिये। इसके लिए अधिक साधन की आवश्यकता नहीं। भक्त को परमेश्वर के प्रति आत्मसमर्पण करना चाहिये और उसके अनुग्रह की प्रतीक्षा करनी चाहिये। पुष्टि द्वारा मुक्ति प्राप्त करने बाद जीवात्मा परमात्मा के सन्निकट गोलोक में पहुँच जाती है और उसकी लीला में भाग लेने लगती है।

वल्लभाचार्य ने पुष्टि चार प्रकार की बताई है। प्रवाह पुष्टि, मर्यादा पुष्टि, पुष्टि पुष्टि और शुद्ध पुष्टि। प्रवाह पुष्टि के अनुसार भक्त संसार में रहता हुआ भी श्रीकृष्ण की भक्ति करता है। मर्यादा पुष्टि के अनुसार भक्त संसार के समस्त सुखों से अपना हृदय खींच लेता है और श्रीकृष्ण के गुण-गान और कीर्तन द्वारा भक्ति की साधना करता है। इस प्रकार प्रभाव पुष्टि और मर्यादा पुष्टि, पुष्टि की निम्न श्रेणियाँ है जिनमें भक्त परमात्मा का अनुग्रह प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होता है। पुष्टि पुष्टि में श्रीकृष्ण का अनुग्रह प्राप्त हो जाता है किन्तु साथ ही भक्त की साधना भी बनी रहती

है। इस प्रकार की पुष्टि में भक्त और भगवान् दोनों क्रियाशील रहते हैं। वास्तव में सब से ऊँची श्रेणी की पुष्टि शुद्ध पुष्टि है जो वल्लभाचार्य और उनके सम्प्रदाय का चरम उद्देश्य थी। भक्त अपने भगवान् पर पूर्णतः आश्रित हो जाता है। भगवान् अनुग्रह करते हैं। इस अनुग्रह के प्राप्त होने पर भक्त के हृदय में श्रीकृष्ण के प्रति इतनी अनुभूति हो जाती है कि वह भगवान् की लीलाओं से अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है। उसका हृदय श्रीकृष्ण की लीला-भूमि बन जाता है। गो, गोप, यमुना, गोपी, कदम्ब और राधाकृष्ण उसके आराध्य ही नहीं वरन् उसके अत्यन्त निकट की वस्तुएँ हो जाती हैं। वह वात्सल्यासक्ति, सख्यासक्ति, कांतासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयतासक्ति और अन्त में इष्टदेव में निवास करता है और इस प्रकार उसका जीवन सार्थक हो जाता है।

२—धार्मिक पृष्ठभूमि

हिंदी प्रदेश में हिंदी के आरम्भ काल में पूर्वी प्रदेश में धार्मिक चेतना के विशेष चिह्न दिखलाई पड़ते हैं। उत्तर-पूर्व में नालन्दा और विक्रमशिला (भागलपुर के पास) में महायान का भ्रष्ट रूप वज्रयान के नाम से चल रहा था। यह बौद्ध संन्यासियों का धर्म था जो राजकीय सहारा न मिलने पर किसी भी आंदोलन के अन्तिम आश्रय जनता की निचली श्रेणियों को आकृष्ट करने के लिए साधना के क्षेत्र में नीचे उतर रहे थे। "आठवीं-नवीं शताब्दि में बौद्ध महायान सम्प्रदाय लोकाकर्षण के रास्ते बड़ी तेजी से बढ़ने लगा। वह तंत्र, मंत्र, जादू, टोना, ध्यान, धारणा आदि से लोगों को आकृष्ट करता रहा।" सिद्ध-साहित्य के पीछे इसी धार्मिक आंदोलन का बल है।

"९वीं और १०वीं सदी में नैपाल की तराइयों में शैव और बौद्ध (वज्रयान) साधनाओं के सम्मिश्रण से नाथपंथी योगियों का एक नया सम्प्रदाय उठ खड़ा हुआ।" इस धार्मिक आंदोलन का समय ११वीं शताब्दी से १४वीं शताब्दी तक है। इसमें एक नये रूप से विकसित योग (हठयोग) की प्रधानता थी। इसी वैयक्तिक साधना ने आगे चलकर संत-धारा का रूप धारण कर लिया। "अतः संत-साहित्य का आदि (इन्हीं) सिद्धों को, मध्य नागपंथियों को और पूर्ण विकास कबीर से आरम्भ होने वाली संत-परम्परा में नानक, दादू, मलूक, सुन्दर आदि को मानना चाहिये।" बड़थ्वाल ने नागपंथियों और संतों की विस्तार-पूर्वक तुलना करके यह सिद्ध कर दिया है कि संतमत में योग-धारा की अनेक बातें अपना ली गई हैं जैसे निरञ्जन

कभी रास्ते में भेंट हो जाती है तो कोई गुरु कहकर हाथ उठाकर नमस्कार करता है तो मैं हँसता हुआ कहता हूँ "जीते रहो, क्या काम काज हो रहा है ?"

सोचते-सोचते चलता हूँ, नाम तो याद नहीं आता, कितने दिन पहिले छात्र था ? याददाश्त को लेकर खींचातानी करता हूँ, कैशोर का उसका चेहरा याद आकर भी नहीं याद आता। आना-जाना रोज़ का होता है, बहुत दिनों तक भेंट होती है, फिर भी वे याद क्यों नहीं रहते ? व्यक्ति जाकर झुंड में मिल जाता है, गले में माला पहिन लेने पर प्रत्येक फूल को भला कौन याद रख सकता है ?

इस जीवन पर तोड़-फोड़ मचाकर उसे हरा तथा सरस करते हुए छात्रों की धारा बह जाती है, वह फेनिलता तथा उच्छ्वास तुच्छ हो जाता है और कलरव विलीन हो जाता है। जब मैं बारपार देखता हूँ तो मेरे मन को घेरकर कुछ म्लान चेहरे जग उठते हैं, जो कलरवमय महोत्सव है वह तो सब भूल जाते हैं, किन्तु ये म्लान मुख याद रह जाते हैं।

कोई तो भूख से म्लान है, कोई रोग से अधमरा है, थकावट से किसी की चितवन करुण हो रही है। कोई बेत के डर से कोठरी में छिपा रहता है, किसी की आँखें नींद से कड़वी हैं। कोई क्लास में बैठकर जंगले से बाहर की ओर देखता है, मानों कोई पिंजरे में बन्द चिड़िया हो। आस्मान में पतंग को देखकर उसका मन उड़ान भरने लगता है, उसके चेहरे पर विषाद की उत्कट छाया पड़ती है। कोई खेल के मैदान को यादकर सबक भूल जाता है, किसी की बुद्धि में ही बात नहीं आती; कोई तो घर को तथा स्नेहभरे भाई-बहिनों को यादकर बारबार घड़ी की ओर देखता है।

उदार वायु स्वास्थ्य तथा आयु लेकर पुकारती है, वह इस पुकार को बन्द कमरे में बैठकर सुनती है। हाथ में स्याही मुँह में स्याही ऐसा बच्चा वैसा ही मालूम देता है मानों नन्हा-सा चाँद

वैष्णव धर्म का इतिहास

वैष्णव मत का मूल सिद्धांत भक्ति है। ऋग्वेद की वरुण-सम्बंधी रचनाओं में पहली बार भक्ति-भावना के दर्शन होते हैं। अन्य देवताओं के प्रति भी इसी प्रकार की भावना मिलती है।[१] वेद में कई स्थानों पर परमात्मा को परम पिता, माता अथवा पुत्र के सदृश प्रिय कहा है। ऋग्वेद में परमात्मा और जीवात्मा की तुलना दो पक्षियों से की गई जो एक दूसरे के परम मित्र अथवा सखा हैं। इस प्रकार यह दृष्टिगत होता है कि भक्ति की भावना अति प्राचीन है। कुछ विद्वानों का मत है कि परमात्मा-जीवात्मा के सम्बंध में भक्ति की भावना मूलतः द्रविड़ है। यदि यह सत्य है तो भक्ति की कल्पना वेदों से भी प्राचीन होगी। जहाँ तक खोज हुई है यह पता लगता है कि ज्ञान और भक्ति की दो धाराएँ हमारे देश में प्रागैतिहासिक काल से चली आती हैं। वैदिक साहित्य (निगम) के समय में ही हमें आगम साहित्य (तंत्र-साहित्य) के दर्शन होते हैं। कुछ लोगों का मत है कि यह साहित्य अभारतीय और अनार्य है। वह परमात्मा को माता रूप में देखता है। कदाचित् शक्ति-पूजा का प्रारम्भ इसी तंत्र-साहित्य से हुआ। उसने विधि-विधानमयी उपासना-पद्धति और मन्त्रों की सृष्टि की। धीरे-धीरे ये पद्धतियाँ और मंत्र-शैलियाँ शैव सम्प्रदाय और वैष्णव सम्प्रदाय में भी ग्रहण हुईं। वैष्णवों में पंचरात्र आगम का, विशेषकर नारद पंचरात्र का, बड़ा महत्त्व है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय भक्तिमार्ग पर निगम और आगम साहित्य का महत्त्वपूर्ण प्रभाव है। निगम साहित्य ने भक्तिमार्ग को भक्ति-भावना दी तो आगम साहित्य ने उसकी उपासना-पद्धति और मंत्रविधान को निश्चित किया। भक्तिमार्ग पर तीसरा प्रभाव पुराण-साहित्य का है। इसमें देवताओं के गुणों, उनकी क्रियाओं के अनुसार उनके आकार, आयुध, वाहनादि की कल्पना की गई और इस प्रकार नाम, रूप, लीला और धाम से पुष्ट देवताओं की भक्ति का प्रचार हुआ। भक्तिमार्ग अनेक देवी-देवताओं को उपास्य मान कर चला। इनमें नारायण, शिव या रुद्र शक्ति प्रधान थे। वैष्णव भक्ति का सम्बन्ध नारायण को प्रधान मानकर चलनेवाले भक्तिमार्ग से है।

१—अदितिर्माता स पिता। ऋक् १।८८-१०
द्यौः मे पिता। ऋक् १।१०४-३३।
इन्द्र क्रतुं न आभर पिता पुत्रेभ्यो यथा। साम १।६-२-२-७

वैष्णवमत में विष्णु और उनके अवतार महत्त्वपूर्ण हैं। विष्णु का निर्देश ऋग्वेद में ही मिलता है। वहाँ हम यह देखते हैं कि उनका प्रयोग सूर्य के साम्यवाची अर्थ में किया गया है। कहीं-कहीं उन्हें अग्नि भी माना है। उनमें इंद्र का आरोप भी किया गया है। ब्राह्मण-ग्रंथों तक आते-आते विष्णु का महत्त्व सूर्य, अग्नि और इंद्र सभी से बढ़ गया है। शतपथ ब्राह्मण में विष्णु के वामन रूप का निर्देश है। वे यज्ञ-रूप होकर असुर से सारी पृथ्वी ले लेते हैं। ऐत्रैय ब्राह्मण में विष्णु उच्चतम देवता माने गये हैं, अग्नि निम्नतम देवता हैं, अन्य देवता दोनों के मध्य में हैं। मनुस्मृति और वाल्मीकि रामायण के समय तक विष्णु को निश्चित रूप से सर्वोच्च स्थान नहीं मिल पाया था। उस समय नारायण और ब्रह्म का स्थान अधिक ऊँचा था। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त के ऋषि का नाम नारायण कहा गया है। परमात्मा का नारायण नाम पहले-पहल शतपथ ब्राह्मण में देखा जाता है और तैत्तरीय आरण्यक में तो विष्णु के साथ सम्बद्ध मिलता है। जान पड़ता है कि ब्राह्मणकाल तक पहुँचते-पहुँचते नारायण परम् दैवतं के रूप में माने जाने लगे हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों में विष्णु तथा नारायण का स्थान लगभग एक-सा दिखाई पड़ता है। महाभारत और पुराणों में दोनों को अभिन्न समझा गया है। विष्णु "सतोगुणी, दयालु, पोषक स्वयंभू और व्यापक हैं। इसीलिए उनका सम्बन्ध जल से है, जो सृष्टि के पूर्व सर्वव्यापक था। इस कारण वे नारायण हैं—जल के निवासी हैं। वे शेषशायी होकर जल पर शयन कर रहे हैं।" महाभारत में विष्णु स्रष्टा भी माने गये हैं और इस नाते उनका एक नाम प्रजापति भी है। वे ब्रह्म भी हैं। इस रूप में उनकी तीन स्थितियाँ हैं—(१) ब्रह्मा, जो उनके नाभि कमल से उत्पन्न हुआ है और जिसमें सृष्टि करने की शक्ति है; (२) विष्णु, जिस रूप में वे अवतार ग्रहण करके संसार की रचना करते हैं; (३) रुद्र, जो विष्णु के मस्तक से उत्पन्न हुए हैं और जो सृष्टि का विनाश करते हैं। रामायण के दूसरे संस्करण में विष्णु का रूप स्थिर हो चुका है और वह ब्रह्म के स्थान पर प्रतिष्ठित दिखलाई देते हैं। धीरे-धीरे विष्णु पुराण, ब्रह्मवैवर्त पुराण और अन्त में भागवत पुराण द्वारा विष्णु सर्वशक्तिमान मान लिये गये और उनके अवतारों की संख्या निर्धारित कर दी गई। पुराणों का अध्ययन करने से पता चलता है कि अवतारों की संख्या धीरे-धीरे बढ़ी है और अन्त में बौद्ध धर्म की उन्नति के समय २४ बुद्धों के स्थान पर २४ अवतारों की कल्पना निश्चित हो गई।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध धर्म के आविर्भाव के पहले वैष्णव धर्म का वह रूप प्रतिष्ठित था जिसे एकान्तिक कहा गया है। इस धर्म में नारायण या वासुदेव की पूजा होती थी और वह विष्णु अथवा नारायण माने जाते थे। इस धर्म की विशेषता यह थी कि इसमें सारी भक्ति-भावना और उपासना एक ही देवता के ऊपर न्योछावर की जाती थी, अन्य देवता किसी प्रकार भी मान्य नहीं थे। इस एकान्तिक या वासुदेवधर्म का आधार भगवद्गीता थी जिसमें वासुदेव कृष्ण के उपदेश लिपिबद्ध थे। जातक कथाओं में एक कथा यह भी है कि बुद्धदेव पूर्वजन्म में वासुदेव थे। इससे यह सिद्ध होता है कि जातक-रचना के समय वासुदेव की बड़ी महिमा थी और बुद्ध की महत्ता स्थापित करने के लिए इस प्रकार की कल्पना की गई। पाणिनी के एक सूत्र से पता लगता है कि वासुदेव उनके समय में देवता समझे जाते थे। पाँचवीं शताब्दी के लगभग महाभारत का पहला संग्रह हुआ। उस समय वासुदेव नारायण और विष्णु को एक ही देवता समझा जाने लगा था। उसमें वासुदेव कृष्ण के पहली बार दर्शन होते हैं। ईसा की पाँचवीं शताब्दी के प्रारम्भ से धार्मिक सुधार की तीन धाराएँ मध्य प्रदेश में बहने लगीं। इनमें वासुदेव सुधार की धारा सर्वप्राचीन थी। जैन और बौद्ध सुधारों का जन्म उसी समय हुआ था। वासुदेवधर्म के सम्बन्ध में अधिक पता नहीं लग सका। परन्तु यह निश्चित है कि वह ईश्वरवादी था और भक्ति को उसमें स्थान मिला करता था। जान पड़ता है कि बौद्ध धर्म के राजधर्म होने के पश्चात् वासुदेवधर्म का क्षेत्र संकुचित हो गया। बहुत काल तक वह पश्चिमीय और पश्चिम-दक्षिण मध्य प्रदेश को ही प्रभावित करता रहा। बौद्ध-सुधार का प्रारम्भ पूर्वीय प्रदेश से हुआ था लेकिन राजसत्ता का आश्रय मिलने से शीघ्र ही उसका रूप अखिल भारतीय हो गया।

बौद्ध-सुधार का प्रभाव वासुदेवमत पर भी पड़ा। उसमें भी भक्ति और अहिंसा की प्रधानता हुई। वास्तव में इस समय सारे हिन्दी प्रदेश में यज्ञ, बलि और कर्मकाण्ड का विरोध हो रहा था और बौद्ध, जैन और वासुदेवधर्म सुधार इसी विरोधभावना को हमारे सामने रखते हैं। इसी समय के वासुदेव का विकसित रूप पंचरात्र या भागवतधर्म के नाम से प्रसिद्ध हुआ। सात्वत नाम की एक क्षत्री जाति ने, जो मथुरा के आस-पास रहती थी, इसे विशेष रूप से अपनाया। ईसा से चार सौ वर्ष पूर्व मेगास्थनीज़ ने मथुरा, कृष्णपुर, यमुना, शौरसेन और हरिकुलीश का उल्लेख किया है। इस समय तक महाभारत का नारायणीय धर्म लिखा जा चुका था और चतुर्व्यूह की चर्चा भी चल पड़ी थी। धीरे-धीरे इस धर्म का प्रचार हुआ और कई वैष्णव सम्प्रदाय बन गये।

पद्मपुराण में वैष्णवधर्म के चार सम्प्रदायों का उल्लेख है। इसके बाद हमें घासुण्डी का शिलालेख मिलता है जो ईसा से २०० ई० पूर्व का माना जाता है। इसी समय के बेशनगर के शिलालेख में स्पष्ट लिखा है—"देव देवस वासुदेव गरुडध्वजो अयं कारितो..........हेलिऊ डोरेण भागवतेन दिवस पुत्रेण—तखशीलकेन"। इस प्रकार हम देखते हैं कि दूसरी शताब्दी पूर्व ई० तक वासुदेव और उनके व्यूहों, विशेषकर संकर्षण की पूजा हो चली थी और इनके मानने वाले भागवत कहलाते थे। पहली शताब्दी के नानाघाट वाले लेख में वासुदेव-संकर्षण का प्रयोग द्वन्द्वसमास के रूप में हुआ है। इस से यह समझा जा सकता है कि वासुदेव और संकर्षण एक माने जाने लगे थे। महाभारत के नारायणी विभाग के अन्तर्गत लिखा है कि जब नारद ने श्वेत-द्वीप की यात्रा की तो वासुदेव ने अपने धर्म का उपदेश इस प्रकार दिया—वासुदेव ही परमात्मा है, वही अंतर्यामिन् है, वही सृजनकर्ता है, संकर्षण वासुदेव का ही रूप है। संकर्षण से प्रद्युम्न या मनस् की उत्पत्ति होती है, प्रद्युम्न से अनिरुद्ध या चेतन की। जो मेरी भक्ति करते हैं वह मुझे प्राप्त करते हैं और मुक्ति पाते हैं। वासुदेव ने वाराह, नृसिंह और दाशरथि राम को अवतार कहा है। भण्डारकर का कथन है कि सात्वत वृष्णि जाति का नाम था और वासुदेव, संकर्षण और अनिरुद्ध इसी जाति के ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। जो हो, बौद्ध धर्म और जैन धर्म के साथ-साथ हिंदी प्रदेश के पश्चिम में मथुरा के आस-पास वैष्णवधर्म के वासुदेव रूप ने जन्म ले लिया था। बौद्ध-धर्म और जैनधर्म अनीश्वरवादी और नास्तिक थे। इनके विपरीत वासुदेवधर्म ईश्वरवादी और आस्तिक था। अहिंसा का महत्त्व तीनों धर्मों में समान रूप से था। वासुदेवधर्म अन्य धर्मों से अधिक पुराणप्रिय था और उसकी नींव उपनिषदों और वेदों के धर्म तक चली गई थी। मौर्य राजाओं के समय में यह धर्म अत्यन्त उत्कर्ष में था परन्तु धीरे-धीरे वह राजाश्रय न मिलने के कारण संकुचित हो गया।

ईसा शताब्दी के थोड़े ही समय बाद इस वैष्णव या वासुदेवधर्म में गोपाल और बालकृष्ण की भावना का उदय हुआ। भण्डारकर इसका मूल कारण आभीर नाम की एक गोपालक जाति को मानते हैं जो कहीं दक्षिण से आई थी। यह कदाचित् सौराष्ट्र निवासी थी और इनके यहाँ बालक कृष्ण के अद्भुत चरित्र और ग्वाल-कन्याओं से प्रेम की कथाएँ बहुत समय से चली आ रही थीं। महाभारत में वासुदेव कृष्ण का जो रूप प्रतिष्ठित था उस पर इन जनमान्यताओं का प्रभाव पड़ा और कृष्ण के उस रूप का निर्माण हुआ जिसका

प्रकाशन श्रीमद्भागवत में हुआ है। इस नये रूप में भागवतधर्म का पुनरुत्थान दूसरी शताब्दी में हुआ। वासुदेव (भागवत) धर्म के इस पुनरुत्थान का कारण उसका राजाश्रय प्राप्त करना था। पाटलिपुत्र के गुप्त राजाओं ने इस समय इस धर्म को अपना लिया था। उनके सिक्कों और शिलालेखों पर उनके नाम के साथ 'परम भागवत' विशेषण मिलता है। परन्तु गुप्त-वंश के पतन के साथ-साथ राजाश्रय का लोप हो गया और बौद्ध धर्म ने एक बार फिर सारे पश्चिमी प्रदेश पर आधिपत्य प्राप्त कर लिया। बहुत से विद्वानों का कहना है कि उस समय भागवतधर्म दक्षिण में चला गया जहाँ उसका विशेष विकास हुआ।

परन्तु दक्षिण में भक्तिमार्ग की प्रतिष्ठा कदाचित् ऋग्वेद के समय के आसपास ही हो चुकी थी। यह सम्भव है कि उत्तर के भागवतधर्म के पुनरुत्थान ने पहली शताब्दी के लगभग उसे प्रभावित किया हो। जो हो, पाँचवी शताब्दी के लगभग दक्षिण में भक्ति-प्रधान वैष्णव मत विकसित हो रहा था। दक्षिण में अलवारों ने इसके विकास में विशेष सहयोग दिया। अलवार भक्त-कवि थे। इनके गीत दक्षिण के मंदिरों में गाये जाते थे। पाँचवी शताब्दी से दसवीं शताब्दी तक इन गीतों का एक बड़ा साहित्य एकत्रित हो गया। दसवीं शताब्दी के अंत में इन अलवारों के एक सम्प्रदाय 'नामालवार' के गीतों का संकलन नाथमुनि ने किया। इसका नाम 'नालायिर प्रबंधम्' है। इसकी कविताओं में कहीं भगवान के विरह से व्याकुल भक्त-हृदय की वेदना है, कहीं दार्शनिक विचार हैं। कहीं ऐसे प्रेमगीत जो सूफ़ियों के प्रेमगीतों से मिलते-जुलते हैं। 'प्रबन्धम्' में बारह कवियों के गीत संगृहीत हैं।

इन गीतों के आधार पर कुछ विद्वानों का मत है कि कृष्ण दक्षिण के भक्तों की ही कल्पना हैं। यह अवश्य है कि कृष्ण की रूप-कल्पना में दक्षिण के भक्तों का प्रधान हाथ रहा है, परंतु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि कृष्ण का आविर्भाव दक्षिण में हुआ। यह अवश्य सिद्ध हो सकता है कि अलवारों के इन गीतों ने वैष्णव (भागवत) धर्म के पुनरुत्थान के समय उस पर विशेष प्रभाव डाला। बारहवीं शताब्दी के लगभग श्रीमद्भागवत का निर्माण हुआ। यह नहीं कहा जा सकता कि भागवत की रचना दक्षिण में हुई अथवा उत्तर में। परन्तु भागवत के कृष्ण का बहुत कुछ रूप द्राविड़ है और ग्रन्थ में एक आख्यायिका ऐसी मिल जाती है जिससे यह सिद्ध होता है कि भागवतकार भक्ति का जन्म द्रविड़ देश में, उसका लालन-पालन महाराष्ट्र देश में,

उसकी युवावस्था का समय गुजरात में व्यतीत होना ठीक समझते हैं। इस कथा में नारदजी ने मथुरा के पास एक स्त्री को रोते देखा था जिसके दो बच्चे थे। उसने अपना नाम भक्ति बताया। उसके साथ के बच्चे मृतप्राय थे। इन्हें उसने ज्ञान और वैराग्य बताया। इस कथा-प्रसंग से यह सिद्ध होता है कि बारहवीं शताब्दी के पहले भक्ति क्रमशः द्रविड़ प्रदेश, महाराष्ट्र और गुजरात में प्रतिष्ठित हो चुकी थी। उसने ज्ञान और वैराग्य को पदच्युत करके यह स्थान प्राप्त किया था।

ईसा की पहली शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक ऐसे अनेक धर्मग्रंथ और पुराण बने जिन्होंने विष्णु के अवतारों का वर्णन किया। इन ग्रन्थों ने चौदहवीं शताब्दी के अंत में प्रगट होनेवाले भागवतधर्म के दूसरे पुनरुत्थान में विशेष भाग लिया। ये ग्रन्थ नारायणीय, नारद पंचरात्र, हरिवंश पुराण, वायु पुराण, वाराह पुराण, अग्नि पुराण, नृसिंह पुराण और भागवत पुराण हैं।

नारायणीय में एक कथा है कि नारद बदरिकाश्रम की यात्रा करने गये। वहाँ उन्हें नर-नारायण के दर्शन होते हैं। वास्तव में यह दोनों एक देवता हैं। नारायण की प्रकृति का ही नाम नर है। इसमें नारायण के चार व्यूहों का उल्लेख है : (१) वासुदेव, (२) संकर्षण, (३) प्रद्युम्न और (४) अनिरुद्ध। इनसे ब्रह्मा की उत्पत्ति होती है उससे सारे जड़-चेतन संसार की। वस्तुतः नारायण के ये चार व्यूह दार्शनिक क्षेत्र के आदि ब्रह्म, प्रकृति, मनस् और अहंकार के प्रतीक मात्र हैं। नारायणीय में कंसवध के निमित्त वासुदेव कृष्ण के अवतार का निर्देश है पर उनकी गोकुल-लीला का उल्लेख नहीं मिलता। नारायणीय में नारायण के ६ अवतारों का उल्लेख है—वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम और वासुदेव कृष्ण। वायु पुराण, अग्नि पुराण और वाराह पुराण में अवतारों की संख्या दस हो गई है। यद्यपि इन अवतारों में मतभेद है। वायु पुराण में शेष चार अवतार दत्तात्रेय, अनामी, वेदव्यास और कल्कि हैं। अग्नि पुराण और वाराह पुराण में ये शेष चार अवतारों, मत्स्य, कूर्म, बुद्ध और कल्कि हैं। नृसिंह पुराण में विष्णु के इन दस अवतारों के साथ कृष्ण और बलराम का भी नाम जोड़ दिया गया है। भागवत पुराण में २४ अवतारों का निर्देश है। हरिवंश पुराण के छः अवतारों के अतिरिक्त सनत्कुमार, नारद, कपिल, दत्तात्रेय, ऋषभ और धन्वन्तरि मुख्य हैं।

इन सब पुराणों में अनेक अवतारों की कथा का होना एवं उनकी संख्या का क्रमशः बढ़ते जाना हमारे लिए एक महत्त्वपूर्ण अर्थ रखता है। इससे पता

चलता है कि पहली शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक भागवतधर्म समाज में अनेक देवताओं की सत्ता को स्वीकार करके उन्हें विष्णु का अवतार मान कर उन धर्मों को अपने प्रभाव-क्षेत्र में पुष्ट करता रहा। यद्यपि उसने इस प्रक्रिया में अनेक देवताओं को उपासना-पद्धति में स्थान दिया तथापि उसमें मुख्य रूप से केवल दो व्यक्तित्व प्रधान रूप से धार्मिक क्षेत्र में प्रतिष्ठित थे और तत्कालीन आचार्यों और भक्तों ने उन्हीं को लेकर दर्शन, धर्म और काव्य की रचना की।

वैष्णवधर्म के द्वितीय पुनरुत्थान का सबसे प्रधान कारण यह था कि उस समय बौद्ध धर्म का पतन हो रहा था और धार्मिक क्षेत्र एक प्रकार से रिक्त हो गया था। सम्राट् हर्षवर्धन बौद्धों का अंतिम आश्रय था। उसके साथ ही भारतवर्ष से बौद्ध धर्म का लोप हो गया। बौद्ध धर्म के पतन के बाद भारतीय धार्मिक क्षेत्र में धर्म की तीन धारायें चलीं। पूर्व में महायान ने तंत्रमार्ग और शक्तिपूजा को जन्म दिया। पश्चिम में राजपूत राजाओं के आश्रय में शैवधर्म का विकास हुआ। समस्त दाक्षिणात्य में विष्णुपूजा प्रचलित हो गई। कुछ ही समय बाद वैष्णव मत उत्तर भारत में भी आ गया। उसने शिव को विष्णु की ही शक्ति माना। सारे पश्चिमीय प्रदेश और दक्षिण भारत में विष्णु के तीन रूपों (ब्रह्मा, विष्णु, तथा शिव) की भक्ति-पूर्ण उपासना प्रचलित हो गई।

आठवीं शताब्दी तक कुमारिल भट्ट के प्रयत्नों से बौद्ध धर्म के अवशेष चिह्न भी लुप्त हो गये। कुमारिल भट्ट के पश्चात् आचार्यों का युग प्रारम्भ होता है। इन आचार्यों ने वेद, उपनिषद् और पुराणों की एक बार फिर प्रतिष्ठा की। ये सब आचार्य दक्षिण से आये थे और वहाँ अलवार भक्तों एवं उनके साहित्य से प्रभावित हो चुके थे। शंकराचार्य ने जीव और ब्रह्म की एकता स्थापित करके ज्ञानमार्ग की प्रतिष्ठा की। किन्तु उन्होंने नारायण और शिव के प्रति अनेक भक्ति के छन्दों की भी रचना की है। इससे स्पष्ट है कि उन पर भी भक्ति का प्रभाव था। उस युग में अनेक मतमतान्तर धार्मिक क्षेत्र में विजय प्राप्त करने के लिए युद्ध कर रहे थे इसलिए उस समय ज्ञान-मार्ग की प्रतिष्ठा की व्यावहारिक आवश्यकता थी जिसे शंकराचार्य ने भली भाँति समझ लिया था।

वैष्णवधर्म के पुनरुत्थान में महायान शाखा में प्रचलित बहुत सी बातों का समावेश हो गया। इनमें दो मुख्य बातें विह्वलतापूर्ण भक्ति और मूर्ति

वा अवतारों की कल्पना थी। महायान में २४ अतीत बुद्धों, २४ वर्तमान बुद्धों, २४ भावी बुद्धों की कल्पना थी और उनकी मूर्तियाँ भी पूजी जाने लगी थीं। हिन्दुओं की २४ अवतारों की कल्पना २४ बुद्धों से ही ली गई है। बुद्ध भी विष्णु के अवतार मान लिये गये। इस प्रकार वैष्णवधर्म द्वारा बौद्ध धर्म और हिन्दू धर्म में सामान्यताएँ उत्पन्न हो जाने के कारण हिन्दू धर्म का प्रचार बढ़ा। कुमारिल ने कर्मकांड की स्थापना की और शंकर ने वेद की आस्था को पुनर्जीवित किया। बौद्धों ने जाति-बन्धन को बहुत कुछ विच्छिन्न कर दिया था परन्तु ब्राह्मणधर्म के पुनरुत्थान के साथ वर्णन-व्यवस्था और जाति-विचार बढ़े। विदेशियों द्वारा पराजय की प्रतिक्रिया ने इसे उत्तेजना दी। मध्य युग में उच्च वर्णों में केवल इतनी उदार भावना थी कि भक्ति का अधिकार शूद्रों को भी दे दिया गया था।

रामानुज ने जन-समाज की सारी धार्मिक मान्यताओं को ग्रहण करके वैष्णवधर्म का रूप व्यापक कर दिया। वास्तव में रामानुज को ही वैष्णव-धर्म के मध्यकालीन भक्तिमार्ग का प्रवर्तक समझना चाहिये। रामानुज का सम्बन्ध नामालवार गीतों के संकलनकर्ता नाथमुनि से जोड़ा जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि वे अलवारों की भक्ति से ही प्रभावित हुए। नाथमुनि के पौत्र श्री यामुनाचार्य थे जो ग्यारहवीं शताब्दी में हुए। नाथमुनि श्रीसम्प्रदाय के प्रथम आचार्य थे। यमुनाचार्य के बाद रामानुजाचार्य इसी सम्प्रदाय के प्रधान आचार्य हुए। उन्होंने दक्षिण के तामिल संतों के ज्ञान और भावों का वेद, उपनिषद् और गीता आदि प्राचीन ग्रन्थों से सामंजस्य स्थापित किया और अपने नये मत की नींव डाली। इस मत में भक्ति की प्रधानता नहीं थी। किन्तु उसे एक विशेष स्थान अवश्य प्राप्त था।

रामानुजाचार्य का जन्म सं० १०७४ (सन् १०१७ ई०) में हुआ था। उनकी मृत्यु सं० ११९७ (सन् १४२० ई०) में हुई। उनके समय में धार्मिक क्षेत्र में उच्छृङ्खलता फैली हुई थी। दार्शनिकों में शंकर के मायावाद का प्रचार था। व्यवहार में अनेक मतमतान्तर फैले हुए थे। शिव, विष्णु और शक्ति की उपासना होती थी। मायावाद की आड़ में नाथसम्प्रदाय अपने योगमार्ग का प्रचार कर रहा था। पूर्व में एक वाममार्गी स्त्री-उपासक सहजमत का जन्म हो गया था। त्रिपुर सुन्दरी की पूजा प्रचलित थी। ऐसे समय में रामानुजाचार्य ने वैष्णवधर्म का एक नये प्रकार से संगठन किया। उन्होंने उन सब धर्म-सम्प्रदायों को एक कर लिया जो शास्त्र-विहित थे और उनका वैष्णवधर्म से सम्बन्ध स्थापित

किया। शंकराचार्य के मायावाद का खंडन करने में उन्हें अपनी शक्ति विशेष रूप से लगानी पड़ी। शंकराचार्य ने बौद्ध शून्यवाद के खंडन में ज्ञान का आश्रय लिया था, अतः उनका भक्ति-धर्म आगे नहीं बढ़ पाया। परन्तु रामानुज का नया मत जनसाधारण के लिए था, इसलिए उन्होंने अपनी उपासना-पद्धति में भक्ति को भी स्थान देने की आवश्यकता समझी। वह मुक्ति के लिए ज्ञान को उपादेय मानते थे। परन्तु सभी मनुष्यों का ज्ञानी होना असम्भव है। जो ज्ञानी नहीं थे उनके लिए उन्होंने भक्ति की योजना की। वैष्णवधर्म में द्विजातियों को विशेषाधिकार प्राप्त था। उन्हें भक्ति का आदेश मिला। शूद्रों के लिए रामानुजाचार्य ने एक नई कल्पना की। उन्होंने उनके लिए प्रपत्ति का उपदेश दिया। प्रपत्ति का अर्थ है ईश्वर पर सर्वथा आश्रित होकर अपना विस्तार कर देना। इस प्रकार हम देखते हैं कि रामानुजाचार्य ने उत्तरी भारत के धर्म-क्षेत्र में भक्ति का बीज बोया परन्तु उस बीज ने वृक्ष का रूप ग्रहण करने में कई शताब्दियों का समय लिया।

रामानुजाचार्य के कुछ ही पश्चात् (बारहवीं शताब्दी) आंध्र देश में निम्बार्क उत्पन्न हुए। उन्होंने भक्ति और प्रपत्ति को एक माना। इस प्रकार भक्ति के क्षेत्र को विस्तृत किया। रामानुजाचार्य ने विष्णु तथा लक्ष्मी को अधिक महत्त्व दिया था परंतु निम्बार्क ने कृष्ण और राधा को उपास्य माना। उनके कुछ ही समय बाद उनके मतानुयायियों की संख्या ब्रज और बंगाल प्रदेश में यथेष्ट हो गई होगी। राधा और कृष्ण की अवतारणा भक्ति आन्दोलन की एक बड़ी घटना है। उसने पहली बार मधुर भाव की उपासना को जन्म दिया यद्यपि इससे मिलती-जुलती एक उपासना-पद्धति सूफ़ियों द्वारा इसी क्षेत्र में अंकुरित हो रही थी। बङ्गाल में शक्ति-उपासना के कारण इस प्रकार की मधुर भाव की भक्ति के लिए पृष्ठभूमि पहले से बन चुकी थी। ब्रजभूमि तो कृष्ण की लीलाभूमि ही समझी जाती थी।

रामानुजाचार्य के लगभग दो सौ वर्ष के बाद (सं० १२९४ या सन् १२३७ ई०) मध्वाचार्य का जन्म हुआ। उन्होंने वैराग्य तथा नवधा भक्ति का प्रचार किया। उन्होंने विष्णु को परमात्मा माना और उनके राम तथा कृष्ण अवतारों को उपास्य ठहराया। उन्होंने कृष्ण पर अधिक बल दिया। तदनंतर विष्णुस्वामी ने महाराष्ट्र में विष्णु की भक्ति विशेष रूप से प्रतिष्ठित की।

इस प्रकार १५वीं शताब्दी तक भारतीय धर्मक्षेत्र में चार धार्मिक सम्प्रदाय प्रतिष्ठित हो गये थे—

१—श्रीसम्प्रदाय जिसके प्रवर्तक रामानुज थे और जिसे रामानन्द ने विशेष लोकप्रिय बनाया।

२—ब्रह्म-सम्प्रदाय जिसके प्रवर्तक मध्व थे।

३—रुद्र-सम्प्रदाय जिसके प्रवर्तक विष्णुस्वामी थे।

४—सनकादि सम्प्रदाय जिसके प्रवर्तक निम्बार्क थे।

हम कह आये हैं कि यह वैष्णव धार्मिकता की लहर दक्षिण भारत से चल कर उत्तर भारत में आई जहाँ विशेष परिस्थितियों के कारण उसका विशेष विकास हुआ। श्री सम्प्रदाय को १४वीं शताब्दी में रामानन्द ने विशेष व्यापक और लोकप्रिय बनाया। इन्होंने भाषा को प्रचार का माध्यम बनाया और उसमें थोड़ी-बहुत रचना भी की। आदि ग्रंथ में उनका एक गीत मिलता है जो संत-साहित्य का पूर्ववर्ती कहा जा सकता है। इनके एक दूसरे पद की खोज डा० ग्रियर्सन ने की है। यह पद हनुमान-स्तुति के रूप में है। रामानुज ने विष्णु के नारायण रूप को मान्य समझा था। रामानंद ने विष्णु अथवा नारायण के स्थान पर विष्णु के रामावतार की भक्ति और उपासना को महत्व दिया। उनकी रामभक्ति हिंदी प्रदेश के पूर्वी भागों में पल्लवित हुई। १६वीं शताब्दी में कबीर और १७वीं शताब्दी में तुलसी ने इसका प्रचार किया। कबीर ने दाशरथि राम को स्वीकार न करके प्राचीन निर्गुण (योग) परंपरा का सहारा लेकर अन्तर्यामिन् राम की सृष्टि की। साकारोपासक तुलसी ने दाशरथि राम को ही निर्गुण-सगुण-रूप ब्रह्म माना परंतु भक्ति के लिए उन्होंने निर्गुण रूप के स्थान पर राम के सगुण, धनुर्धारी, असुर-नाशक, भक्तवत्सल रूप की प्रतिष्ठा की।

१६वीं शताब्दी में ये सब धाराएँ अत्यन्त प्रबल थीं, विशेषकर विष्णु-स्वामी तथा निम्बार्क की कृष्णभक्ति और रामानंद की रामभक्ति। १६वीं शताब्दी में बङ्गाल में चैतन्य का आविर्भाव हुआ। यह पहले मध्व के ब्रह्म-सम्प्रदाय में दीक्षित हुए परंतु बाद में इन्होंने निम्बार्क के द्वैताद्वैत सिद्धांत को मान लिया। इन्होंने राधाकृष्ण-भक्ति में माधुर्य और आवेग की प्रतिष्ठा की और पांच प्रकार की भक्ति बतलाई—शांति (ब्रह्म पर मनन), दास्य (सेवा), सख्य (मैत्री), वात्सल्य (स्नेह), माधुर्य (दाम्पत्य)। उधर हिंदी प्रदेश के पश्चिम में वल्लभाचार्य ने बालकृष्ण की भक्ति का प्रचार किया और गोकुल को अपना केन्द्र बनाया।

रामानंद के समय में उत्तर भारत में भक्ति की एक लहर दौड़ गई थी। उसके कई कारण थे। रामानंद ने भक्ति के रूप को सामान्य तथा जन-

साधारण के लिए अधिक सुलभ बना दिया था। शूद्रों और स्त्रियों को भी भक्ति का अधिकार मिल गया था और भाषा के प्रयोग के कारण दर्शन और धर्म के ऊँचे सिद्धांत सर्वसाधारण तक छन कर पहुँचने लगे थे।

यद्यपि मध्वाचार्य ने राधा के साथ कृष्ण की कल्पना करके भक्तों को मधुर भाव की भक्ति का थोड़ा-बहुत आभास दे दिया था परंतु उसका पूर्ण विकास आगे के युग में हुआ। हम अनुमान कर सकते हैं कि जिन केन्द्रों में राधाकृष्ण की भक्ति चलती रही होगी वहाँ शीघ्र ही इस भक्ति ने शृङ्गार-भाव को जन्म दिया होगा। इस भाव के विकास में भागवत ने विशेष सहायता की होगी। यह भी सम्भव है कि परवर्ती संस्कृत और प्राकृत साहित्य की शृंगार भावना ने भक्तों की भक्ति को मधुररस का पुट दे दिया हो। जो हो, पंद्रहवीं शताब्दी तक शृंगारभाव अथवा मधुररस की उपासना इतनी अधिक प्रचलित हो गई थी कि वल्लभाचार्य को इसके लिए शास्त्रीय व्यवस्था देनी पड़ी। थोड़े ही समय में सारा उत्तरी भारत मधुररस की कृष्णभक्ति से प्लावित हो गया। इसका एक केन्द्र बंगाल में था और दूसरा ब्रज, राजस्थान एवं गुजरात में। इस समय पंढरपुर में विष्णु (विट्ठलनाथ) की भक्ति और अयोध्या में रामभक्ति के केन्द्र थे। कृष्णभक्ति के मधुर भाव की प्रतिष्ठा होने के बाद पंढरपुर का केन्द्र उसी के रंग में रँग गया। अयोध्या के केन्द्र पर भी विशेष प्रभाव पड़ा। तुलसीदास की कविता में यह प्रभाव स्पष्ट है। बंगाल में कृष्ण-भक्ति को दृढ़ करनेवाले महाप्रभु चैतन्य थे। उनका जन्म सं० १५४२ (स० १४८५ ई०) में हुआ। वे माधवेन्द्र पुरी के शिष्य थे। यही माधवेन्द्र पुरी वल्लभाचार्य के भी गुरु थे परंतु कुछ समय पश्चात् उनके शिष्य हो गये। चैतन्य ने राधा-भाव से कृष्ण की उपासना की। उन्होंने राधा-कृष्ण के आनंद-प्रेम से सारे बंगाल को ओत-प्रोत कर दिया। उनका जीवन विरह-तन्मयासक्ति का उत्कृष्ट उदाहरण है।

वल्लभाचार्य का जन्म सं० १५३५ (सन् १४७८ ई०) में हुआ। ये चैतन्य से सात-आठ वर्ष बड़े थे। ये उनके गुरुभाई थे। दोनों ने अपने समय के प्रचलित भक्तिमार्ग को ही पुष्ट किया। अतः चैतन्य और वल्लभ के मतों में बहुत साम्य है। दोनों में मधुर भाव की भक्ति का विशेष स्थान है। दोनों में राधाकृष्ण की भक्ति को एक ही महत्त्व दिया है। अंतर केवल इतना है कि चैतन्य सम्प्रदाय में भावुकता को अधिक स्थान मिला है। कृष्ण की रास-लीला के अनुकरण में चैतन्य सम्प्रदाय में गान, वाद्य, नृत्य और कीर्तन को विशेष स्थान मिला। सम्भव है कि उस पर सूफ़ी मत का प्रभाव पड़ा हो।

वल्लभ-सम्प्रदाय की भक्ति संयत है। उसमें पूजा-विधि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वार्ता से पता चलता है कि वल्लभाचार्य ने कीर्तन का प्रबन्ध श्रीनाथजी की स्थापना के कई वर्ष बाद किया। सम्भव है कि इसका कारण हो कि चैतन्य ने स्वयम् व्रज की यात्रा की थी तथा जीव गोस्वामी आदि उनके अनुयायी व्रज में बहुत दिन तक रहे थे। श्रीनाथजी के मंदिर का प्रबंध भी लगभग बीस वर्ष तक बंगालियों के हाथ में रहा। इस प्रकार चैतन्य सम्प्रदाय की भावुकता और रसिकता वल्लभ-सम्प्रदाय को बहुत समय तक प्रभावित करती रही।

वैष्णवधर्म के द्वितीय पुनरुत्थान में वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग का विशेष हाथ है। सूर के दार्शनिक सिद्धान्तों का अध्ययन करते समय वल्लभ के सिद्धांतों और पुष्टिमार्ग पर प्रकाश डाला गया है, अतः यहाँ सामान्य रूप से उसकी चर्चा की जायगी।

सं० १५४८ (सन् १४९२ ई०) में वल्लभाचार्य व्रज में आये और श्री गोवर्धन जी पर श्रीनाथजी की मूर्ति की स्थापना की। श्रीनाथजी की पूजा का उत्तरदायित्व अपने कुछ शिष्यों पर सौंपकर वे फिर यात्रा को निकले। तीस वर्ष की आयु में उन्होंने तीन बार भारत-भ्रमण किया। उनकी यात्राओं ने उनके मत प्रचार के लिए मार्ग प्रशस्त किया। सहस्रों लोग कृष्णभक्त हो गये। दूसरी यात्रा के समय उन्होंने काशी में अपना विवाह किया। तीसरी यात्रा समाप्त करने के बाद प्रयाग के समीप अड़ैल नामक गांव में घर बना कर गृहस्थ जीवन व्यतीत करने लगे। वहीं उनके दो पुत्र हुए। अंत समय में वे सन्यासी हो गये। देहावसान काशी में हुआ। वल्लभाचार्य ने वैष्णवधर्म को दो विशेष प्रकार की भक्ति-पद्धतियाँ दीं। एक तो राधाकृष्ण की मधुरभाव की उपासना, जो चैतन्य सम्प्रदाय में भी प्रधान रूप प्राप्त कर चुकी है। दूसरे प्रकार की भक्ति वल्लभाचार्य की मौलिक कल्पना है। यह अवश्य है कि भागवत में श्रीकृष्ण की बाललीला का वर्णन है और पंचरात्र में वात्सल्य भक्ति की स्थापना करने का श्रेय सम्पूर्ण रूप से वल्लभाचार्य को है। भक्ति के इन दो प्रकारों ने वैष्णवधर्म का रूप ही बदल दिया, वह सर्वसाधारण के लिए अत्यन्त सहज हो गया। उन्होंने वात्सल्य-हृदय प्रौढ़ स्त्री-पुरुषों और प्रेम-संस्कार-पूर्ण युवक-युवतियों—सभी के लिए स्थान था। यही कारण था कि लगभग चार सौ वर्ष तक सारा उत्तर भारत राधाकृष्ण के नाम से गूँजता रहा और उत्तर भारत की सभी भाषाओं का साहित्य उसी में रँग गया। उनके आन्दोलन ने भारतीय चित्रकला में राजस्थानी और कांगड़ा शैली को जन्म

दिया। भगवान् कृष्ण के जन्म से लेकर उनके स्वर्गारोहण तक की सभी लीलाएँ साहित्य, चित्रकला, मूर्तिकला और जनगीतों के द्वारा सहस्रों बार अभिव्यक्त हुईं।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग ने मध्य युग की संस्कृति के निर्माण में विशेषरूप से भाग लिया। उसके बालक कृष्ण प्रत्येक घर में जन्म लेने लगे। उसकी राधा-कृष्ण के सम्बन्ध की मधुर कल्पना ने भारतीय घरों में प्रेम के परिष्कृत रूप की प्रतिष्ठा की। बाद के शृंगार काव्य की धारा ने राधाकृष्ण को लेकर साहित्य और धर्म का कुछ अपकार भी किया परंतु इसके लिए वल्लभाचार्य और उनका पुष्टिमार्ग उत्तरदायी नहीं है। यह उस युग की मनोवृत्ति का प्रभाव है जिससे वल्लभाचार्य के शिष्यों का जन्म हुआ था तथा जिससे उन लोगों ने काम किया था।

स्वयम् वल्लभाचार्य के इष्टदेव बालक कृष्ण हैं। उन्हें श्रीनाथजी का बालकृष्ण, गोपालकृष्ण और नवनीत-प्रिय रूप ही अधिक रुचिकर प्रतीत हुआ। वल्लभ-सम्प्रदाय की पूजा-विधि से अब भी यह बात स्पष्ट हो जाती है। भगवान् का दैनिक कार्यक्रम बालक का ही है। प्रातःकाल सोकर उठने से रात्रि में शयन तक की दिनचर्या में आठ दर्शन होते हैं—(१) मंगला, (२) शृंगार, (३) ग्वाल, (४) राजभोग, (५) उत्थापन, (६) भोग, (७) संध्या-आरती, (८) शयन। वल्लभ-सम्प्रदाय का प्रधान केन्द्र गोकुल है। उसके मुख्य मंदिर में नवनीतप्रिय भगवान् की प्रतिष्ठा है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि वल्लभाचार्य को सारी कृष्ण-लीला प्रिय थी और उन्होंने राधा को अपने मत में स्थान देकर मधुर भावना की उपासना को स्वीकार भी कर लिया था तथापि उनके इष्टदेव नवनीतप्रिय बालकृष्ण ही थे।

वल्लभाचार्य की मृत्यु के पश्चात उनके सम्प्रदाय में राधा का महत्त्व अधिक बढ़ा होगा। सम्भव है कि यह चैतन्य मत का प्रभाव हो। वल्लभाचार्य के समय में ही श्रीनाथजी के मंदिर में बंगाली वैष्णव पूजा के लिए नियुक्त किये गये थे। सम्भव है कि उस युग की शृंगार-प्रियता के कारण ऐसा हुआ हो जिसकी झाँकी मुग़ल सम्राटों के वैभव में मिलती है। जो हो, पुष्टिमार्ग ने हिन्दी में जिस साहित्य को जन्म दिया उसमें राधाकृष्ण के प्रेम को लेकर शृंगाररस ही अधिक प्रस्फुटित हुआ। 'अष्टछाप' के कवियों की जीवनियों के पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्प्रदाय में दीक्षित होने से पहले उनमें रसिकता की मात्रा अधिक बढ़ी हुई थी। राधाकृष्ण के प्रेमलीला-सम्बन्धी शृङ्गारिक पद गाकर उन्हें अपनी मनोवृत्ति के विपर्यय का अच्छा अवसर मिला।

विट्ठलनाथ के समय में तो सम्प्रदाय ने राधा को और भी अधिक महत्त्व दे दिया। उस समय के अन्य धर्म-सम्प्रदायों और युग की सामान्य प्रवृत्ति को देख कर यह नहीं कहा जा सकता कि परवर्ती काल में अनाचार बढ़ाने का कितना दोष वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग पर डाला जा सकता है। परन्तु दो शताब्दियों बाद इस सम्प्रदाय के आचारों में शिथिलता अवश्य आ गई थी।

मध्य युग के सम्प्रदाय

भक्तिकाल के बहुत पहले ही सुदूर दक्षिण में अलवारों में भक्तिपूर्ण उपासना-पद्धति चल रही थी। इस उपासना-पद्धति को पहली दूसरी शताब्दी के निकट पूर्ण विकास में पाया जा सकता है। बारह अलवार भक्त प्रसिद्ध हैं। इनके नाम ये हैं—पोयगैक अलवार, भुट्टर अलवार, पय अलवार, तिरुमलिसइ अलवार, नमल्लवार, पेरिया अलवार, अरडाल, तुरडरप्पुड्डी अलवार, तिरुपन्नु अलवार, तिरुमंगद अलवार। हम देखते हैं, इनमें ९ ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। कई अस्पर्श्य हैं। एक महिला (अरडाल) को भी इन भक्तों में स्थान मिला है। इससे स्पष्ट है कि अलवार भक्त वर्णाश्रम के संबन्ध में अधिक कट्टर नहीं थे। उन्होंने पहली बार जाति-पाँति के बंधन को शिथिल किया और स्त्रियों पर भी कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया। इन्हीं लोगों की परम्परा में श्री रामानुज का प्रादुर्भाव हुआ जो पहले वैष्णव आचार्य हैं और जिन्होंने उत्तर भारत में पहली बार जाति-पांति के बंधनों को शिथिल करने और ज्ञान तथा मायावाद के ऊपर भक्ति की प्रतिष्ठा करने की चेष्टा की।

१२वीं शताब्दी के समीप शंकराचार्य के अद्वैतवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया आरम्भ हुई, और इसके अनन्तर चार दार्शनिक सम्प्रदाओं का जन्म हुआ—रामानुजाचार्य का श्रीसम्प्रदाय, मध्वाचार्य का ब्राह्म-सम्प्रदाय, विष्णुस्वामी का रुद्र-सम्प्रदाय और निम्बार्काचार्य का सनकादि सम्प्रदाय। इन सम्प्रदायों ने किसी न किसी रूप में द्वैत अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा की भिन्न सत्ता की स्थापना की। अद्वैत मत में माया का सहारा लेकर जीव और भगवान् की एकता प्रतिष्ठित की गई थी। उसमें भक्ति को स्थान नहीं रह जाता था। इसीलिए शंकराचार्य के बाद के आचार्यों ने जीवात्मा की भिन्नता पर बल देकर भक्ति को संभव बना दिया। जिन आचार्यों ने शंकराचार्य के मायावाद के विरोध में बीड़ा उठाया, सौभाग्य से वे एक ऐसे प्रदेश से आये थे जहाँ भक्ति की लहर एक शताब्दी से बह रही थी। सुदूर दक्षिण में अलवारों और उनके भक्तों ने लक्ष्मी-विष्णु को आराध्य मानकर भक्तिपूर्ण पदों की जनता में प्रतिष्ठा

कर दी थी। आचार्य अलवार भक्तों की शिष्य-परम्परा में पड़ते थे। अतः उन्होंने मायावाद के विरोध में भक्तिवाद की प्रतिष्ठा की। जहाँ अद्वैत भावना है, वहाँ भक्ति का कोई सर्वसुगम रूप प्रतिष्ठित नहीं हो सकता। इसीसे द्वैत की प्रतिष्ठा आवश्यक हुई परंतु इन आचार्यों ने खान-पान, आचार-विचार के अनुशासनों को ढीला नहीं किया। बाद में स्वतन्त्रचेत्ता रामानुज ने भक्तों में खान-पान और जाति-भेद के झंझटों का बहिष्कार किया। उन्होंने कहा कि श्रेष्ठता भक्ति से होती है, जन्म से नहीं। वह स्वयम् श्रीसम्प्रदाय[२] के भीतर थे परंतु वास्तव में वे सम्प्रदायों से ऊपर थे।

२ श्रीसम्प्रदाय से फूटकर साधकों और पंथों की जो परम्परा फूट पड़ी, उसे इस प्रकार वृक्षरूप में प्रगट किया जा सकता है :

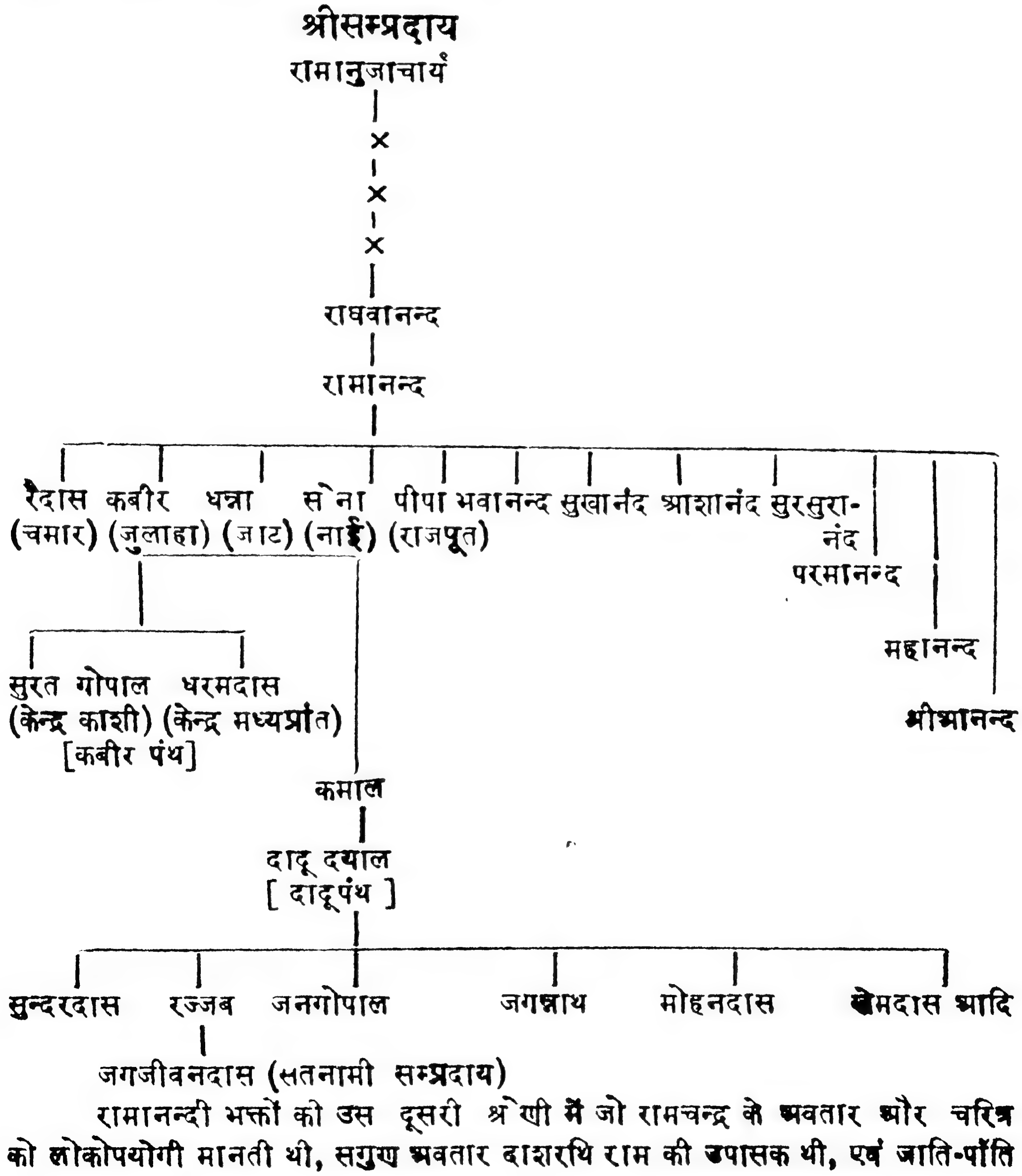

रामानन्दी भक्तों की उस दूसरी श्रेणी में जो रामचन्द्र के अवतार और चरित्र को लोकोपयोगी मानती थी, सगुण अवतार दाशरथि राम की उपासक थी, एवं जाति-पाँति

श्रीसम्प्रदाय के प्रवर्तक रामानुजाचार्य हैं। दार्शनिक मतवादों की विवेचना करते समय हमने इस सम्प्रदाय के दार्शनिक विचारों को उपस्थित किया था। यह सम्प्रदाय भी अन्य सम्प्रदायों की भाँति सगुणवादी था और इसके आराध्य भगवान् रामचंद्र थे। श्रीसम्प्रदाय की परम्परा रामानन्द तक चली आती है जिन्होंने उसके प्रचार में विशेष योग दिया है। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि यह दार्शनिक सम्प्रदाय उस रूप में सम्प्रदाय नहीं थे, जिस रूप में आगे चलकर संतों और भक्तों के सम्प्रदाय चले। उनमें भेद दार्शनिक और आचार-संबंधी दृष्टिकोण का था। किसी व्यक्ति-विशेष अथवा ग्रंथ-विशेष को वही स्थान प्राप्त नहीं था जो मध्य युग के संत-सम्प्रदायों में प्राप्त हुआ। प्रत्येक दार्शनिक मतवाद राम-कृष्ण में से किसी एक को इष्टदेव मानकर चलता था परंतु वह दूसरे सम्प्रदाय के उपास्य के प्रति असहिष्णु नहीं था। वास्तव में सम्प्रदाय चलाने की यह प्रवृत्ति बाद में दिखाई पड़ती है।

स्वयम् रामानन्द और उनके शिष्यों ने संप्रदाय नहीं चलाया। इससे जान पड़ता है कि वे व्यापक रूप से सुधार और प्रचार के पक्षपाती थे।

रामानन्द के शिष्यों में कबीर को लेकर उनके अनुयायियों ने कबीरपन्थ खड़ा किया और फिर कबीर की भावनाओं से परिचालित अनेक पन्थों की बाढ़ ही आ गई। यह ग्रन्थ अधिकतर समाज के निम्न वर्गों (असवर्णों) में फैले। इसका सबसे प्रधान कारण यह था कि श्री रामानंद ने वर्णाश्रम के बंधन की व्यर्थता बता कर और शूद्रों तथा स्त्रियों को दीक्षित कर हीन वर्ण जनता में एक ऐसा उत्साह भर दिया था जो कदाचित् बुद्ध के समय को छोड़कर अभूतपूर्व था। इसीसे वह अधिक-अधिक धर्मप्राण हो गई और उच्च वर्ण की अत्यंत उपेक्षा करके उसने अपने सम्प्रदाय खड़े किए। सच तो यह है कि मध्य युग के ये अनेक-अनेक पंथ उच्चवर्णाश्रियता के प्रति भीषण असंतोष के रूप में ही प्रगट हुए थे। इन निर्गुण पन्थों को सवर्णों ने संदेह की दृष्टि से देखा। इन्होंने अपने अलग सम्प्रदाय चलाये। यह सम्प्रदाय इष्टदेवों को लेकर चले। इनमें सगुण-निर्गुण के विरोध की भावना भी मिली थी। वैष्णव भक्त सम्प्रदाय के शीर्षक के नीचे हम इनके संबंध में विस्तार-पूर्वक लिखेंगे।

के बन्धन स्वीकार करके चलती थी, तुलसीदास हुए। जान पड़ता है रामानन्द का, राम सगुण ही हों या निर्गुण, इनमें से किसी पर विशेष आग्रह न था। वे इस विषय में उदार रहे होंगे। उनके जो दो पद प्राप्त हैं वे उन्हें निर्गुणोपासक और सगुणोपासक दोनों दलों में खींचते हैं।

इस समय कुछ ऐसे भक्त भी हैं जो वर्ण-सम्प्रदाय से अलग खड़े दिखलाई देते हैं। इनमें गोस्वामी तुलसीदास और नाभादास प्रमुख हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने स्पष्ट ही मतमतान्तरों का विरोध किया, यह बात उनकी व्यापक दृष्टि और दूरदर्शिता की द्योतक है। उन्होंने अपने रामचरितमानस के द्वारा वर्णाश्रम, धर्म अवतारवाद, साकार उपासना, मूर्ति-पूजा, सगुणवाद, गौ-ब्राह्मण-रक्षा, देवादि विविध योनियों का यथोचित सम्मान एवं प्राचीन संस्कृति और देवमार्ग का मंडन किया। परंतु यह सौभाग्य की ही बात हुई। वे यदि चाहते तो रामचरितमानस को लेकर अपना अत्यंत बलशाली संप्रदाय चला सकते थे, परंतु उन्होंने ऐसा नहीं किया। उनके ग्रन्थ ने साम्प्रदायिकता की सीमा लांघकर देश की बिखरी हुई शक्तियों को एकसूत्र में बाँधने का आश्चर्यजनक चमत्कार किया। निर्गुण सन्तों और मुसलमानों के द्वारा हिंदू धर्म और समाज में जो उच्छृङ्खलता फैल गई थी, वह इसी पुस्तक के द्वारा दूर हुई। रामचरितमानस में निर्गुण सन्तों का विरोध स्पष्ट है। उनकी रचना का कारण ही पार्वती की ऐसी शंका है जो कबीर की साखी में मिलती है। नाभादास का प्रयत्न भी बहुत कुछ ऐसा था। उन्होंने संतों और भक्तों को एक पंगत में बिठाने की उदारता दिखलाई। उनके भक्तमाल में आश्चर्य-जनक सहिष्णुता है। सभी सम्प्रदायों के महात्माओं की स्तुति की गई है। भक्तों के समाज में इस दृष्टिकोण का कितना आदर हुआ यह भक्तमाल लिखने की परम्परा और नाभादास के छप्पयों की टीकाओं की संख्या से जाना जा सकता है। कबीर को भी राम मान्य थे, परंतु अवतार के रूप में नहीं। उन्होंने राम-नाम और सत्यनाम को एक कहा था और रामलोक के स्थान पर सत्यलोक की प्रतिष्ठा की थी। निर्गुणियों के कई पंथ इसी निर्गुण परब्रह्म राम को मानते थे। तुलसी ने इसके सम्मुख भक्तवत्सल, मर्यादा-पुरुषोत्तम राम की स्थापना की जो दशरथ के पुत्र भी हो सकते थे और परब्रह्म भी रह सकते थे।

ब्राह्म सम्प्रदाय या माध्व सम्प्रदाय

श्रीसम्प्रदाय की तरह यह भी प्राचीन दार्शनिक सम्प्रदाय है, जिसके प्रमुख आचार्य श्री मध्व हैं। इस सम्प्रदाय का कहना है कि इस मत के आदि गुरु ब्रह्मा हैं परन्तु श्री मध्वाचार्य के पहले इस मत का कोई उल्लेख नहीं मिलता। ब्राह्म सम्प्रदाय द्वैतवाद का समर्थक है। हिंदी साहित्य में इस सम्प्रदाय का प्रभाव चैतन्य के माध्यम से परोक्ष रूप से ही है, यद्यपि चैतन्यमतवादी कुछ हिंदी कवि भी हो गये हैं। स्वयम् चैतन्य से दीक्षा प्राप्त श्री गोपालभट्ट ने कृष्ण-

काव्य में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। जो हो, व्रजप्रदेश में यह सम्प्रदाय वल्लभ-सम्प्रदाय के बहुत पहले से ही प्रतिष्ठित था और सम्भव है कि वल्लभ-सम्प्रदाय एवं अन्य कृष्ण-भक्ति सम्प्रदायों की गतिविधि पर इसने महत्त्वपूर्ण प्रभाव डाला हो।

रुद्र-सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य श्री विष्णुस्वामी हैं और इसका दार्शनिक मत शुद्धाद्वैत है। विष्णुस्वामी की ही परम्परा में १६वीं शताब्दी में वल्लभाचार्य हुए जिन्होंने इस सम्प्रदाय को एक बार फिर संगठित किया, इसीलिए यह सम्प्रदाय वल्लभ-सम्प्रदाय के नाम से भी प्रसिद्ध है। वल्लभाचार्य ने इस सम्प्रदाय के लिए ही पुष्टिमार्ग का प्रवर्तन किया। हिंदी साहित्य के लिए वल्लभचार्य और उनका संप्रदाय बहुत महत्त्वपूर्ण है। जिस प्रकार रामानन्द ने हिंदी रचना कर अपने शिष्यों को भाषा में उपदेश लिखने की प्रेरणा दी, उसी प्रकार का काम वल्लभाचार्य ने भी किया। इनका एक हिन्दी भाषा का ग्रन्थ विष्णुपद है। परंतु इनसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण इनके संप्रदाय का काम है। वल्लभाचार्य के पुत्र विट्ठलनाथ ने सूरदास, कुम्भनदास, कृष्णदास, परमानंददास, छीतस्वामी, गोविन्दस्वामी, चतुर्भुजदास, नंददास—अपने पिता और अपने ये आठ शिष्य लेकर अष्टछाप की स्थापना की। १६वीं शताब्दी का सारा कृष्ण-काव्य इस अष्टछाप द्वारा रचा गया है अथवा उसके साहित्य से प्रभावित है। विट्ठलनाथ के पुत्र गोकुलनाथ ने भी व्रजभाषा साहित्य को पुष्ट किया। वास्तव में रुद्र सम्प्रदाय का जितना साहित्य व्रजभाषा, राजस्थानी और गुजराती में है उतना साहित्य किसी अन्य सम्प्रदाय का नहीं और न इतना उत्कृष्ट साहित्य किसी सम्प्रदाय द्वारा हमारे सामने आया है। इस सम्प्रदाय ने रसखान जैसे कितने ही लौकिक प्रेम के शिकार मनुष्यों को वासना के गर्त से निकाल कर भगवद्विषयक रति की दीक्षा दी। इसका एक दूसरा महत्त्व भी है। निश्चित रूप से हिन्दी गद्य का प्रवर्तन इसी संप्रदाय द्वारा हुआ। "८४" और "२५२" वैष्णवों की वार्ताएँ इसका प्रमाण हैं। इससे पहले का गद्य-साहित्य अधिक प्रामाणिक नहीं है।

सनकादि सम्प्रदाय या निम्बार्क सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक ब्रह्मा के चार मानस पुत्र सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार कहे जाते हैं। इसके प्रमुख आचार्य निम्बार्क हैं जिनका दार्शनिक मत द्वैताद्वैत है। श्री निम्बार्क सम्प्रदाय की गद्दी मथुरा के पास

ध्रुवक्षेत्र में है। इस सम्प्रदाय के लोग पश्चिमी भारत और बंगाल में मिलते हैं। हिन्दी साहित्य में इस सम्प्रदाय ने अधिक योग नहीं दिया। हाँ, हित-हरिवंश अवश्य निम्बार्क मतावलम्बी कहे जाते हैं। सम्प्रदाय की उपासना-धारा से थोड़ा मतभेद देखकर १५२५ के लगभग हितहरिवंश ने अपने राधावल्लभी सम्प्रदाय या सखी-सम्प्रदाय की वृन्दावन में स्थापना की। इस सम्प्रदाय का मुख्य केन्द्र वृन्दावन में राधावल्लभ का मन्दिर है। हित हरिवंश के मत में राधारानी महाशक्ति हैं और स्वामिनी हैं। भगवान् कृष्ण उनके आज्ञानुवर्ती हैं। भगवान् कृष्ण ,राधारानी की ही आज्ञा से विश्व की सृष्टि, भरण और हरण करते हैं। हितहरिवंश जी की तीन पोथियाँ राधा-सुधानिधि (संस्कृत), ८४ पद (ब्रज) और स्फुट पद इस सम्प्रदाय के आधार ग्रंथ हैं।

हरिदासी सम्प्रदाय

इस मत की स्थापना १६वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुई। इसके प्रवर्तक स्वामी हरिदास थे जिनका मत चैतन्य मत के सदृश था। वृन्दावन में इनका निजी मन्दिर है। इनके लिखे दो ग्रन्थ मिले हैं जो ब्रजभाषा में हैं। साधारण सिद्धान्त और रसके पद।

चैतन्य सम्प्रदाय

चैतन्य सम्प्रदाय का दूसरा नाम गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय है। इसके प्रवर्तक श्री गौरांग महाप्रभु चैतन्य हैं जो मध्वाचार्य और निम्बार्काचार्य के दार्शनिक मतों के समर्थक थे। इनके बाद इनके शिष्यों (जीव गोस्वामी आदि) ने इनके नाम पर एक नया दार्शनिक मतवाद चलाया। चैतन्य से भी पहले श्री माधवेन्द्र पुरी ने वृन्दावन में भगवान् कृष्ण की मूर्ति की स्थापना की थी और उस पर मन्दिर बनवाया था। उनके बाद यही गौड़ीय वैष्णवों का केन्द्र हो गया। वास्तव में चैतन्य सम्प्रदाय ब्राह्म सम्प्रदाय से अत्यन्त निकट का संबंध रखता है—कदाचित् उसी का प्रवर्तित रूप है।

कबीरपन्थ

कबीरपन्थ के प्रवर्तक कबीर माने जाते हैं परन्तु वास्तव में कबीर इसके प्रवर्तक नहीं हैं। कबीर सारे जन्म सम्प्रदायवाद का विरोध करते रहे। अतः यह पन्थ अनुयायियों का चलाया हुआ है। कहा जाता है कि कबीर की मृत्यु पर उनके पुत्र कमाल से पन्थ चलाने को कहा गया परन्तु उन्होंने इनकार कर दिया। इस संबंध में प्रचलित दोहा है—

डूबा वंश कबीर का उपजा पूत कमाल

कमाल पहुँचे हुए सूफी थे, अतः उनसे कबीर किसी भी प्रकार लांछित नहीं हो सकते। यह उक्ति पन्थवादियों की जान पड़ती है। कबीर के जीवन-काल में ही उनके बहुत से शिष्य हो गये थे परन्तु वह किसी एक विशेष सम्प्रदाय के अन्तर्गत नहीं आते। कबीर की मृत्यु के बाद कदाचित् धर्मदास ने काशी और छत्तीसगढ़ (मध्य प्रदेश) में कबीरपन्थ की गँद्दियाँ स्थापित कीं। इस प्रकार कबीर के व्यापक विचारों को एक सम्प्रदाय में सीमित कर लिया गया। यह कबीरपन्थ अभी तक चल रहा है। भारत में अब भी आठ-नौ लाख मनुष्य कबीरपन्थी है। इनमें मुसलमान बहुत थोड़े हैं और हिन्दू बहुत अधिक। कबीरपन्थी कण्ठी पहनते हैं, बीजक, रमैनी आदि ग्रन्थों के प्रति पूज्य भाव रखते हैं, गुरु को सर्वोपरि मानते हैं। निर्गुण निराकार उपासक कबीरपन्थ के ही प्रभाव से अनेक पन्थ निकल पड़े। नानकपन्थ पंजाब में, दादूपन्थ राजपूताने में, लालदासी अलवर में, सत्यनामी नारलौल में, बाबालाली सरहिन्द में, साधपन्थ दिल्ली के पास, शिवनारायणी गाज़ीपुर में, गरीबदासी रोहतक में, रामसनेही शाहापुर राजपूताने में, अघोरपन्थी काशी में—ये दस पन्थ तो स्पष्ट ही कबीरपन्थ से निकले हैं। इन पन्थों में निर्गुण, निराकार ईश्वर की उपासना की जाती है। मूर्तिपूजा वर्जित है। उपासना और पूजा का काम किसी भी जाति का आदमी कर सकता है। हिन्दू-मुसलमान कोई भी पन्थ में सम्मिलित हो सकता है। गुरु की उपासना पर ज़ोर दिया जाता है। सारे पन्थों का सारा साहित्य हिन्दी भाषा में है। रामनाम या सत्यनाम या शब्द का योग और जप इनका विशेष साधन है। अधिकांश में बहुदेववाद, अवतारवाद, कर्म और जन्मान्तर एवं तीर्थ व्रतादि मानते हैं।

सिक्खपन्थ

सिक्खपंथ मूलरूप से नानकपंथ ही है। इसके प्रवर्तक गुरु नानक (१४६९ ई०—१५३९ ई०) थे। इनका प्रचार-केन्द्र पश्चिमी पंजाब था। इन्होंने हिन्दू-मुसलमान मतों को मिलाने की चेष्टा की और जाति-पाँति-बन्धन के विरुद्ध आवाज उठाई। एकेश्वरवाद, हिन्दू-मुसलमानों की अभिन्नता और मूर्तिपूजा-विरोध उनके मुख्य विचार हैं। इनकी वाणी, पद आदि 'ग्रन्थ साहब' में संग्रहीत हैं। इसके अतिरिक्त इन्होंने 'नानक की साखी' और 'अष्टांगयोग' नामक ग्रन्थ भी रचे। इनकी भाषा पंजाबी मिश्रित व्रज है।

गुरु नानक के पीछे गुरुओं की परम्परा दसवें गुरु तक चलती रही। यह परम्परा इस प्रकार है—अंगद, अमरदास, रामदास, हरगोविन्द, हरराव, हरकिशन, तेगबहादुर और गोविन्दसिंह। गुरु अर्जुन के बाद यह परम्परा परिस्थितिवश वंशानुगत हो गई। प्रत्येक गुरु ने भजन आदि की रचना की। गुरु अर्जुन ने ग्रन्थसाहब का संकलन किया और उसमें कबीर आदि बाहरी भक्तों की वाणियाँ भी रखीं।

मुग़ल सम्राटों के अत्याचार के कारण नानकपंथ का रूप ही बदल गया। गुरु मरवा डाले गये और निष्कलंक बच्चे दीवारों में चुनवा दिये गये। अन्त में दसवें गुरु गोविन्दसिंह ने इस पन्थ को एक बड़ी सुसङ्गठित सेना में परिणत कर दिया। इसके बाद से मुसलमानों से मोरचा लेना इस पंथ का लक्ष्य हो गया और यह हिन्दू धर्म की ओर अधिक-अधिक झुका। गुरु गोविन्दसिंह ने भगवती दुर्गा की उपासना चलाई। उन्होंने स्वयम् अच्छा साहित्य लिखा और वीर-साहित्य को उत्तेजना दी। इनकी रचनाएँ 'दसवें बादशाह का ग्रंथ' में संग्रहीत हैं। गुरु गोविन्दसिंह ने ही खालसा का प्रवर्तन किया और ग्रंथसाहब की गुरु के रूप में प्रतिष्ठा की।

सिक्खमत के अन्तर्गत कई पंथ हैं। नानकशाह के पुत्र श्रीचन्द ने उदासियों का पंथ चलाया। हरराव के पुत्र रामराय ने रामरजा पंथ और कन्हैया ने सेवापंथी पंथ चलाए। गुरु गोविन्दसिंह के बाद वीरसिंह ने निर्मल साधुओं का पंथ और मानसिंह ने अकाली सैनिक साधुओं का पंथ चलाया। सिक्खमत निर्गुणियों और वैष्णव भक्तों के बीच की कड़ी है। इस मत के अनुयायी पुराण-कथा और देवी-देवताओं को मानते हैं। इन्हें तीर्थ भी मान्य है परन्तु यह मूर्ति पूजा नहीं करते। मांस आदि से परहेज नहीं करते। सिखमत शुद्ध अद्वैत वेदान्त का समर्थक है।

दादूपन्थ

दादू (१५४४—१६०३) का पंथ दादूपंथ के नाम से प्रसिद्ध है। आधुनिक खोजों से यह पता चला है कि दादू मुसलमान थे। इस पंथ का साहित्य बहुत बड़ा है। स्वयम् दादू ने लगभग ५००० पद लिखे हैं जिनमें से अधिकांश मौखिक रूप से चल रहे हैं। कबीर-साहित्य के बाद संत-साहित्य में दादू का ही स्थान है। भाव-व्यंजना और काव्य-पुष्टि की दृष्टि से दादू के पद कहीं-कहीं कबीर के पदों से भी अधिक उत्कृष्ट हैं। दादूपंथ में

सुन्दरदास, निश्चलदास, रज्जब, जनगोपाल, जगन्नाथ, मोहनदास, खेमदास आदि अनेक कवि हो गये हैं। इन सबका अच्छा साहित्य है।

दादू तक पहुँचते-पहुँचते सगुण भक्ति-धारा का प्रभाव निर्गुण सन्तों पर पड़ने लगा था। इसका फल यह हुआ कि दादू द्वारों में 'वाणी' की पोथी की षोडषोपचार पूजा और आरती होने लगी।

सतनामी पन्थ

इस पन्थ के आविर्भाव और इसके प्रवर्तक के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं। १६०३ ई० के अन्त में औरङ्गज़ेब और सतनामियों में नरनोल के स्थान पर भीषण युद्ध का ऐतिहासिक उल्लेख मिलता है। इस युद्ध में सहस्रों सतनामी मारे गये। १७४३ ई० के लगभग महात्मा जगजीवनदास ने बारहबंकी ज़िले में इस पन्थ का पुनरुद्धार किया। इनकी रचनाएँ उपलब्ध हैं। इनके शिष्य दूलनदास भी कवि थे और रचनाएँ भी प्राप्त हो चुकी हैं। १८वीं शताब्दी के लगभग ग़ाज़ीदास ने छत्तीसगढ़ में चमारों के समाज सुधार के लिए इस पन्थ का प्रचार चमारों में किया। इस पन्थ के लोग सत्य-नाम का जाप करते हैं और एक सत्य निराकार परमेश्वर को मानते हैं। इनके यहाँ मद्य-मांस वर्जित हैं।

बाबालाली पन्थ

बाबालाल का समय १७वीं शताब्दी का अन्त है, क्योंकि १६४९ ई० में दाराशिकोह से इनकी भेंटों का ऐतिहासिक उल्लेख मिलता है। बाबालाली पन्थ छोटा पन्थ है। बड़ोदा के पास इसका एक मठ है जिसका नाम है 'लाल बाबा का शैल'।

साधपन्थ

दिल्ली से दक्षिण पूर्व की ओर दोआबा इस पन्थ का केन्द्र है। १६५८ ई० में वीरभान ने यह पन्थ चलाया। वीरभान के दोहरों और साखियों का एक बड़ा संग्रह इस पन्थ के पास है। साखियों के संग्रह का नाम 'आदि उपदेश' है। यह पन्थ सदाचार पर बल देता है। साध लोग एक ही विवाह करते हैं और प्रत्येक पूर्णिमा को मिलकर सत्संग करते हैं।

लालदासी पन्थ

लालदास मेव जाति के संत अलवर में हो गये हैं। इनका समय १७वीं शताब्दी है। इनके पन्थ में आचार्य गृहस्थ होते हैं और उपासना का रूप

केवल राम नाम का जप और कीर्तन है। इस पन्थ का पूज्य ग्रन्थ लालदास की वानी है।

शिवनारायणी पन्थ

इस पन्थ के प्रवर्तक भेलसरी (ग़ाजीपुर के पास) के एक राजपूत शिवनारायण सिंह थे जिन्होंने १७३३ ई० में इस पन्थ की संस्थापना की। ग़ाजीपुर ज़िले में इसके चार महल (चार धाम) हैं। यह पन्थ सभी जातियों और धर्मों के लोगों के लिए खुला है। पहले इसमें एक बड़ी संख्या में ब्राह्मण, क्षत्री आदि साम्मिलित हुए पर अब अधिकांश असवर्ण जातियों के लोग हैं। इस पन्थ के लोग निराकार ब्रह्म की उपासना करते हैं और शिवनारायण को उसका अवतार मानते हैं।

ग़रीबदासी पन्थ

सन्त ग़रीबदास का समय १७१९ ई०—१७८२ ई० है। यह रोहतक ज़िले के निवासी थे। इस पन्थ का पूज्य ग्रन्थ 'गुरु ग्रन्थसाहब' साखियों और पदों का एक बहुत वृहद् संग्रह है। इस पन्थ के अनुयायी द्विज साधु ही हो सकते हैं।

रामसनेही पन्थ

१७४२ ई० के लगभग सन्त रामचरण ने यह पन्थ चलाया। इसका साहित्य वाणी और पदों में संकलित है। इस पन्थ के तीसरे गुरु दूल्हाराम के दस हज़ार पद हैं और चार हज़ार दोहरे। रामचरण का साहित्य भी बड़ा है। इस पन्थ का केन्द्र शाहपुर (राजस्थान) है। परन्तु वैसे इसके भजन-भवन (रामद्वारे) सारे राजस्थाम में फैले हुए हैं। इस पन्थ में साधु ही मिलते हैं, गृहस्थ नहीं। सत्संग, भजन और उपदेश उनका काम है।

परणामी (प्रणामी) सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक पन्नाराज्य के प्राणनाथ परिणामवादी वेदान्ती हैं जो छत्रसाल के समकालीन थे। यद्यपि इनका मत सर्वधर्म-समन्वय था परंतु इन्होंने विशेषरूप से गोलोकवासी भगवान कृष्ण से सख्य भाव से उपासना की शिक्षा भी दी। स्वयम् प्राणनाथ की रचनाएँ बहुत हैं। उनकी शिष्य-परम्परा ने भी अच्छा साहित्य दिया है। गुजरात, राजस्थान और बुन्देलखंड इस सम्प्रदाय के केन्द्र हैं।

वास्तव में निर्गुण और सगुण भक्तों के सामान्य विश्वास में बहुत भेद नहीं है। कबीर से तुलसी-सूर की ओर जाते हुए भावना और विश्वास में अधिक व्याघात नहीं जान पड़ता। इसका कारण वे धारणाएँ हैं जो दोनों प्रकार के साधकों ने सामान्य रूप से स्वीकार की हैं। यहाँ हम उन्हीं पर विचार करेंगे।

पहली बात जो दोनों मतवादों को स्वीकार है वह है भक्त का भगवान के साथ व्यक्तिगत संबंध। यह सगुण भक्तों में अधिक स्पष्ट हो सका है, परंतु निर्गुण भक्तों में भी यह धारणा बलवान है। यह संबंध कई प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है—

(क) जननी-बालक का संबंध

हरि जननी मैं बालक तेरा
काहे न औगुन बगसहु मेरा
सत अपराध करे दिन केते
जननी के चित रहे न तेते
कर गहि केस करे जो घाता
तऊ न हेत उतारे माता
कहे कबीर एक बुद्धि विचारी
बालक दुखी दुखी महतारी

(ख) सखा-सखा का संबंध

सूर-साहित्य से इस प्रकार के संबंध के अनेक उदाहरण उपस्थित किये जा सकते हैं। सूरदास ने राधाकृष्ण के प्रेमविलास की सारी कथा को अत्यन्त पास से देखा है। मित्र के लिए मित्र के व्यवहार में कुछ ही गोपनीय नहीं रह जाता। इसी से सूरदास अनासक्त भाव से श्रृंगार के गर्हित प्रसंग भी कह डालते हैं। कृष्ण से उनका सम्बन्ध इन पदों से स्पष्ट हो जाता है—

श्याम सखा को गेंद चलाई

श्रीदामा मुरि अंग बचायो गेंद पर्‍यो कालीदह जाई
धाइ गह्यो तब फेंटि श्याम की देहु न मेरो गेंद मँगाई
और सखा जिनि मोको जानो मोसों जिनि तुम करौ ढिठाई
जानि बूझि तुम गेंद गिरायो अब दीन्हे ही बने कन्हाई
सूर सखा सब हँसत परस्पर भलि करी हरि गेंद गिराई

फेंट छाँड़ि मेरी श्रीदामा
काहे को तुम रारि बढ़ावत तनक बात के कामा
मेरो गेंद लेहु वा बदले बाँ गहत कत धाई
छोटो बड़ो न जानत काहू करत बराबरि आई
हम काहे को तुमहिं बराबरि बड़े नंद के पूत
सूर श्याम दीन्हें ही बनिहै बहुत कहावत धूत

(ग) स्वामी-सेवक का सम्बन्ध

तुलसीदास ने अपने इष्टदेव से इसी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित किया है—

दीन को दयालु दानि दूसरो न कोऊ
जाहि दीनता कहौं हौं दीन देखौं सोऊ

× × ×

तोहिं माँगि माँगनो न माँगनो कहायो
सुनि सुभाव सील सुजस जाचन जन आयो
पाहन, पसु, विटप, विहँग अपने करि लीन्हें
महाराज दशरथ के ! रंक राय कीन्हें
तूँ गरीब को निवाज, हौं गरीब तेरो
बारक कहिये कृपालु ! तुलसीदास मेरो

(घ) पिता-माता और पुत्र का सम्बन्ध (वात्सल्य)। इस संबंध से भगवान भक्त का पुत्र है और उसके प्रति भक्त का वात्सल्य का नाता है। सूरदास ने अपने इष्टदेव से इस प्रकार का संबंध भी माना है। वात्सल्य भक्ति में नन्द और गोपियों को आदर्श माना गया था। वल्लभाचार्य का कथन है—

यच्च दुःखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले।
गोपिकानां च यद्दुःखं स दुःखं स्यान्मम क्वचित् ॥
गोकुले गोपिकानां च सर्वेषां व्रजवासिनाम्।
यत्सुखं समभूतन्मे भगवान् किं विधास्यति ॥

(ङ) कांता-कान्त का संबंध—

तुम बिन व्याकुल केसवा नैन रहे जल पूरि
अंतरजामी छिप रहे हम क्यों जीवें दूरि
आप अपरछन होइ रहे हम क्यों रैन विहाइ
दादू दरसन कारने तलफि तलफि जिय जाइ

हरि मेरा पीव माई, हरि मेरा पीव
हरि बिन रहि न सकै मेरा जीव ॥ टेक ॥
हरि मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया
राम बड़े मैं छुटक लहुरिया
किया श्रृङ्गार मिलन के ताईं
काहे न मिलौ राजा राम गोसाईं
अब की बेर मिलन जो पाऊँ
कहै कबीर भौजलि नहिं आऊँ

२—इस व्यक्तिगत संबंध के द्वारा ही भक्ति की प्रतिष्ठा की गई है। भक्ति को कबीर भी उतना ही उपादेय मानते हैं, जितना कथित भक्त-कवि। यह अवश्य है कि कबीर ज्ञानी भी हैं और संसार को इसी दृष्टिकोण से देखते हैं। परंतु सगुण भक्तों की तरह उन्होंने भी प्रेम को परम पुरुषार्थ माना है और मोक्ष को नीचे स्थान दिया है। वह उनके लिए काम्य नहीं है। प्रेम-भक्ति को अन्यतम लक्ष्य बनाना, यह दूसरी बात है।[३]

३—भक्त या गुरु को भगवान का स्थान दिया गया है। कबीर ने गुरु को गोविन्द के समान कहा है। मध्य युग के सारे भक्ति-काव्य में गुरु का स्थान बहुत ऊँचा है।[४]

३—मन रे हरि भजि हरि भजि हरि भजि भाई।
जा दिन तेरो कोई नाहीं ता दिन राम सहाई॥
(कबीर)

स्याम बलराम कौं सदा गाऊँ
स्याम बलराम बिनु दूसरे देव कौं, स्वप्नहूँ माहिँ नहिँ हृदय ल्याऊँ॥
यहै जप यहै तप यहै मम नेम व्रत यहै मम प्रेम फल यहै ध्याऊँ
यहै मम ध्यान, यहै ज्ञान, सुमिरन यहै, सूर प्रभु देहु हौं यहै पाऊँ॥
(सूरदास)

करुनानिधान ! बरदान तुलसी चहत, सीतापति भक्ति सुरसरि-नीर-मीनता
(तुलसीदास)

४—गुरु गोविन्द दोनों खड़े काके लागूँ पाँय।
बलिहारी वा गुरु की जिन गोविन्द दिया दिखाय॥
(कबीर)

बन्दौं गुरुपदकञ्ज कृपासिन्धु नररूप हरि
महामोह तमपुंज जासु वचन रविकर निकर
(तुलसी)

४—भक्त की परम साधना यह है कि वह भगवान की लीला में भाग ले। उसकी लालसा भगवान में लीन हो जाने अथवा सायुज्य मुक्ति प्राप्त करने की नहीं है। वह भगवान का सान्निध्य चाहता है फिर चाहे यह लीला राम की ऐश्वर्य-प्रधान लीला हो, चाहे कृष्ण की मधुर ब्रज-लीला।

५—भक्ति की कल्पना रहस्यमय है। राम-कृष्ण के समान उनकी भक्ति भी अगाध है। भक्ति की महिमा अपार है।

६—मध्य युग में नाम की महान् महिमा है। निर्गुण और सगुण भक्तों में नाम को एक ही जैसा स्थान मिला है।[५]

७—दोनों प्रकार के भक्तों ने प्रेम या भक्ति के क्रमशः विकास को स्वीकार किया है। यह क्रम इस प्रकार है—(१) श्रद्धा, (२) साधु-संग, (३) भजन-क्रिया, (४) अनर्थ निवृत्ति, (५) निष्ठा, (६) रुचि, (७) आसक्ति, (८) भाव, (९) प्रेम। ये नवधा भक्ति के प्रकारो के मूल में हैं। मध्ययुग के भक्त और संतों को नवधा भक्ति के प्रकारों अथवा उनके निश्चित क्रम के विषय में कोई आग्रह नहीं है। उन्होंने अनेक क्रम उपस्थित किये हैं। वास्तव में वे भक्ति के नौ प्रकार ही नहीं मानते। उनके अनुसार भक्त की साधना-अवस्था और विशेष परिस्थितियों को देखते हुए भक्ति के कितने ही प्रकार हो सकते हैं।

तब चत्रभुजदास ने कह्यो जो सूरदास जी ने भगवद जस वर्णन कीयौ परि श्री आचार्यजी महाप्रभून को जस वर्णन ना कियो। तब यह सुनि के सूरदास जी बोले जो मैं तो सब श्री आचार्यजी महाप्रभून को ही जस वर्णन कीयो है कछू न्यारो देखूँ तो न्यारो करूँ।

('वार्ता')

५—सत्त नाम को सुमिरते, उधरे पतित अनेक।
कह कबीर नहिं छाड़िये सत्त नाम की टेक॥

(कबीर)

राम जपु राम जपु राम जपु बावरे
घोर-भव-नीर-निधि नाम निज नाव रे

(तुलसी)

तुम्हरौ नाम तजि प्रभु जगदीसर सु तौ कहौ मेरे और कहा बल?
बुधि-विवेक-अनुमान आपनैं, सोधि कह्यौ सब सुकृतनि को फल?

(सूरदास)

नातो नाम को मोसो सूँ तनिक न तोड्यो जाइ

(मीरा)

८—सभी सम्प्रदाय दीनता, आत्मसमर्पण और भगवत्कृपा से मुक्ति संभव मानते हैं।[६]

अ—मैथिली साहित्य-धारा

मैथिली साहित्य-धारा के संबंध में विशेष सामग्री प्राप्त नहीं है। अभी तक इसके प्राचीन ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुए हैं। प्राचीन मैथिली साहित्य स्वतंत्र साहित्य के रूप में नहीं मिलता। इसका संबंध एक ऐसे प्रान्त से था जहाँ संस्कृत भाषा और साहित्य का अधिक प्रभाव था। इसलिए जो ग्रन्थ रचे गये उनका गद्य संस्कृत में था और पद्य मैथिली में। इसके लेखक भी प्रायः

६—सतगुरु तोहि विसारि कै काके सरनै जाँय
शिव विरंचि मुनि नारदा हिरदे नाहिं समाँय
अन्तरजामी एक तुम आतम के आधार
जो तुम छोड़ो हाथ तैं कौन उतारै पार
कबीर क्या मैं चिन्त हूँ मम चिन्तें क्या होय
मेरी चिन्ता हरि करै चिन्ता मोहिं न कोय

(कबीर)

म्हानें चाकर राखो जी
गिरधारी लाला चाकर राखो जी

(मीरा)

दीनता दारिद छलै को कृपा वारिधि बाज
दानि दसरथ राय के तुम हौ गरीबनिवाज
जन्म को भूखो भिखारी हौं गरीब निवाज
पेट भरि तुलसिहि जेंवाइय भगति-सुधा सुनाज
ग्यान भक्ति साधन अनेक सब सत्य भूठ कछु नाहीं।
तुलसिदास हरिकृपा मिटै भ्रम, यह भरोस मन माहीं॥

(तुलसी)

तुम तजि और कौन पै जाउँ ?
काकैं द्वार जाइ सिर नाऊँ, परहथ कहाँ बिकाउँ
ऐसे को दाता हैं समरथ जाके दिये अघाउँ
अन्तकाल तुम्हरै सुमिरन गति अन्त कहूँ नहिं दाउँ
रंक सुदामा कियो अजाची दियौ अभयपद पाउँ
कामधेनु, चिन्तामनि, दीन्हो कल्पवृक्ष तरु छाउँ
भवसमुद्र अति देखि भयानक मन मैं अधिक डराउँ
कीजै कृपा सुमिरि अपनो प्रन सूरदास बलि जाउँ

(सूरदास)

संस्कृत के विद्वान थे। यह साहित्य संस्कृत के पीछे या उसके साथ-साथ चलने वाला साहित्य था। मैथिली कभी भी स्वतंत्र साहित्यिक भाषा नहीं रही। उसे उस प्रकार का स्थान नहीं मिला जिस प्रकार का स्थान ब्रजभाषा और अवधी को मिला।

एक प्रश्न यह भी है कि क्या मैथिली हिन्दी के अन्तर्गत है या एक स्वतंत्र भाषा है? ग्रियर्सन ने मैथिली को हिन्दी भाषा से अलग स्वतंत्र स्थान दिया है। बाबू श्यामसुन्दरदास ने इसे राजस्थानी के साथ हिन्दी भाषा के अन्दर श्रेणी-बद्ध किया है। ये दो दृष्टिकोण हैं जो परस्पर विरोधी हैं।

डा० उमेश मिश्र ने मैथिली साहित्य का काल-विभाजन इस प्रकार किया है—(१) ११००—१३०० आदि काल
(२) १३००—१८०० मध्य काल
(३) १८०० के पश्चात् आधुनिक काल

आदि काल की सामग्री की परीक्षा हमें बहुत दूर तक नहीं ले जा सकती। १०९७ ई० में नान्यदेव करनाटक देश से आकर मुज़फ्फरपुर ज़िले में बस गये और उन्होंने वहाँ अपना राज्य स्थापित किया। इनके मंत्री श्रीधर ने सूक्ति कर्णात नाम का एक ग्रन्थ मैथिली में लिखा। किन्तु इसकी कोई भी प्रति आज उपलब्ध नहीं है। आदि युग की और अधिक सूचना हमें नहीं मिलती। श्रीधर का स्थान ऐसा ही है जैसा हिन्दी में मधुकर का।

मध्य काल में मैथिली साहित्य की दो धाराएँ हो जाती हैं। नैपाल की धारा और मिथिला की धारा। १४०० ई० में हरिसिंह देव ग़यासुद्दीन तुग़लक के आक्रमण के फलस्वरूप नैपाल चले गये और उन्होंने वहाँ राज्य स्थापित किया। इस प्रकार इस राजवंश की सहायता से नेपाल में भी मैथिली साहित्य की रचना हुई। यह राजवंश कहलाता है। इसके आश्रय में नैपाल में जो साहित्य तैयार हुआ उसका अभी परिचय प्राप्त नहीं हुआ है, परन्तु यह साहित्य काफ़ी बड़ा है। हरिसिंह की सभा के पंडित ज्योतिरीश्वर ने अनेक ग्रन्थ रचे। इनमें वर्णरत्नाकर नाम का एक मैथिली गद्य-काव्य भी है जो आठ कल्लोलों में विभाजित है। इसकी एक खंडित प्रतिलिपि प्राप्त हुई है। नैपाल की इस धारा में जयस्थिति मल्ल (१३८०—१३९१) के दरबार में बहुत से मैथिली पंडित बुलाये गये। इन्होंने बहुत से ग्रन्थ रचे जिनमें नाटक महत्त्व-पूर्ण है क्योंकि इनका पद्य-अंश मैथिली में है। त्रैलोक्य मल्ल (१५५२—१५८६) और जगज्ज्योतिर्मल्ल (१६१३—१६३३) के समय में यह नाटक

रचना की परम्परा चलती रही। इस समय के दो प्रसिद्ध नाटक हरगौरी विवाह नाटक और कुञ्जविहार नाटक हैं। जगत्प्रकाश मल्ल (१६६७ के लगभग) ने स्वयम् कई नाटकों की रचना की। इनमें दो मलयगंधनी और मदन-चरित्र मुख्य हैं। मदालसाहरण नाटक भी इन्हीं का कहा जाता है। मलय-गंधिनी पहला ऐसा नाटक है जो सम्पूर्ण मैथिली में है। इस वंश के अंतिम शासक रणजीतसिंह मल्ल (१७२२—७२) के समय में भी बहुत से नाटक लिखे गये। जिनमें सब से प्रसिद्ध ऊषाहरण नाटक है। १७५४ के पश्चात् गोरखों ने मल्लवंश को समाप्त कर दिया और नैपाली धारा क्षीण हो गई।

मिथिला की धारा का परिचय हमें बहुत पहले से है। इसमें अनेक भाषा-कवि हुए हैं परन्तु संस्कृत साहित्य का प्रभाव इस पर भी अधिक है। सबसे महत्त्वपूर्ण कवि विद्यापति हैं। इनका समय १४०० ई० के लगभग निर्धारित किया जाता है यद्यपि जन्म-तिथि और मृत्यु-तिथि का निश्चित उल्लेख नहीं मिलता। इनके १३ ग्रन्थों में १० संस्कृत के हैं, एक अपभ्रंश में है और दो मैथिली में। अपभ्रंश ग्रन्थ का नाम 'कित्तिलता' है और मैथिल ग्रन्थों का पदावली और कीर्तिपताका। इनमें पदावली ही सबसे महत्त्वपूर्ण है।

पदावली में मौखिक रूप से चले आते हुए विद्यापति के राधा-कृष्ण सम्बन्धी पदों का संग्रह है। विद्यापति की जो विचारधारा इन पदों में प्रकाशित हुई है उसके सम्बन्ध में बड़ा मतभेद है। उसके आधार पर एक वर्ग विद्यापति को भक्त कहता है और दूसरा वर्ग शृङ्गारिक कवि। प्रामाणिक सामग्री के अभाव में हम इस विषय में कोई निर्णय नहीं दे सकते। वास्तविक परिस्थिति यह थी कि विद्यापति वैष्णव-भक्त नहीं, शिव-भक्त थे और उनकी रचना राजाश्रय में सामने आई। अतः यह असम्भव नहीं है कि उनका साहित्य भक्ति साहित्य नहीं हो, वरन् राजा और दरबार दोनों की रुचि से प्रभावित हो। हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि विद्यापति के समय तक वैष्णव भक्ति-साहित्य की कोई परम्परा नहीं थी। विद्यापति जयदेव से प्रभावित थे और उनके राधा-कृष्ण में लौकिकता के दर्शन अधिक होते हैं।

विद्यापति के बाद उनका अनुकरण में और स्वतंत्र रूप से भी बहुत सा साहित्य रचा गया। परन्तु यह अभी सम्पूर्ण रूप से अप्रकाशित है। आधुनिक काल में भी मैथिल में साहित्य रचा जा रहा है परन्तु उसकी मात्रा बहुत कम है और वह अधिक महत्त्वपूर्ण भी नहीं है।

आ—संत-काव्य

प्राचीन काल से जो निर्गुण ज्ञानमार्ग की उपासना-पद्धति चली आ

रही थी और जिसने पिछले युग में सिद्धों और गोरखपन्थियों की साधना को आत्मसात कर लिया था, वही इस काल भी चलती रही। उसमें वेग आ गया और उसने भाषा का सहारा पाकर काव्य में अपना प्रकाशन किया। यह काव्य संत-काव्य है। परन्तु वास्तव में यह काव्य काव्य की दृष्टि से इतना महत्त्वपूर्ण नहीं जितना भावधारा और संस्कृति की दृष्टि से।

भावधारा : संत-मत

इस भावधारा को संत-मत या सहज साधन मत कह सकते हैं। इसमें उपनिषद का निर्गुणवाद स्वीकृत है। ईश्वर (चरम सत्ता) निर्गुण है। उसकी प्राप्ति का मार्ग ज्ञान द्वारा है। पिछले युग में इस ज्ञान के लिए आत्म-शुद्धि की प्रतिष्ठा हो चुकी थी, परन्तु यह मार्ग हठयोग का था और सर्व-साधारण को कठिन था। संत-मत में कष्ट-कृच्छ्र साधना को हेय और अनुपयुक्त समझा गया। वहाँ सहज साधना को स्थान मिला। वास्तव में संत-मत अनेक धार्मिक साधनाओं और विचारावलियों का सामञ्जस्य उपस्थित करता था। उसमें उपनिषद का ज्ञानमार्ग और निर्गुणवाद, आत्मशुद्धि के लिए हठयोग की साधना और स्वयम् अपनी मौलिक सहज साधना को एक स्थान पर केन्द्रित कर दिया गया था।

इस समय हिन्दी प्रदेश में दो मुसलमानी भावनाएँ थीं, उनका इस मत पर प्रभाव पड़ा। १—इस्लाम की मुख्य विचार-धारा एकेश्वरवादी थी। यह अवतारवाद नहीं मानती थी, पैग़म्बर को सत्ता को स्वीकार करती थी। संत-मत में भी यह तीनों बातें ले ली गईं। संत-मत एकेश्वरवादी था यद्यपि इस्लाम के एकेश्वरवाद और सन्तों के एकेश्वरवाद में बड़ा अन्तर था। इस्लाम का ईश्वर एक प्रकार से सगुण ही था। उसके सम्बन्ध में इस्लाम की दार्शनिक धारणा बहुत ऊँची नहीं थी। सन्त-मत का एकेश्वर निर्गुण था। सन्त भी अवतारवाद का खंडन करने लगे। अनेक सन्तों ने अपने को पैग़म्बर कहा और उनके अनुयायियों ने उन्हें वही स्थान दिया जो इस्लाम धर्मावलम्बी मुहम्मद को देते हैं। २—परन्तु ईरानी आर्य प्रभाव के कारण मुसलमानों के एक महत्त्वपूर्ण वर्ग में सूफ़ी विचारधारा चल रही थी। सूफ़ियों का ईश्वर निर्गुण होते हुए भी प्रेमयुक्त सगुण था। प्रेम साधना थी। आत्मा और परमात्मा को एक माना जाता था जो रूढ़िगत इस्लामी धारणा के विरुद्ध था। पैग़म्बर के माध्यम की आवश्यकता नहीं थी। सूफ़ी एक ज़ात से अपना सीधा सम्बन्ध जोड़ सकता था। सूफ़ी-मत में सूफ़ी अल्लाह को

माशूक़ समझता और उससे तीव्र उत्कट प्रेम-सम्बन्ध स्थापित करता। इस सूफ़ी-मत में गुरु का बड़ा महत्त्व था। सन्त-मत ने निर्गुण ब्रह्म में प्रेम का गुण जोड़ दिया और उसकी दाम्पत्य भावना से उपासना की। उन्होंने मूल भावना सूफ़ियों से ली, परन्तु उनकी धारणा भारतीय और औपनैषदिक थी जहाँ मनुष्य मात्र स्त्री है, ईश्वर पुरुष। यह कल्पना श्रीमद्भागवत की कल्पना से बड़ा मेल खाती थी। सन्त अपने को 'राम की बहुरिया' मान कर प्रेम की साधना करता है।

साथ ही इस क्षेत्र में हिन्दुओं में वैष्णव भावना का भी विकास हो चुका था और वैष्णव (वासुदेव) धर्म का पुनरुत्थान दक्षिण में हो गया था और वह दो-तीन शताब्दियों बाद उत्तरी भारत में आया। उसने विष्णु, हरि, नारायण और राम के नाम का आधार लेकर उत्तरी भारत की जनता को सगुण भक्ति की ओर खींचा। सन्तों ने इससे प्रभावित होकर विष्णु, हरि, नारायण और राम को अपना लिया। लेकिन उन्होंने इन सब का सगुण के सन्दर्भ से अलग प्रयोग किया। इन नामों के प्रयोग के कारण सन्त-काव्य में वैष्णव भावना का आभास मिलता है। इस वैष्णव पुनरुत्थान में भी गुरु का बड़ा महत्व था। इस प्रकार सन्तों में गुरु की जो प्रतिष्ठा थी, उसने भी अधिक बल पाया। इस समय धर्म-क्षेत्र में राधाकृष्ण की प्रतिष्ठा नहीं हुई थी, अतः उनका नाम सन्त-साहित्य के इस प्रारम्भिक काल में नहीं मिलता।

आध्यात्मिक और नैतिक आदर्श

सन्त-मत में आत्मशुद्धि का बड़ा महत्त्व था। वास्तव में हठयोग, वैष्णव भक्ति और सूफ़ी इन तीनों भाव-धाराओं में आत्मशुद्धि की प्रधानता थी और नैतिक आदर्श बहुत कुछ एक से थे, केवल उनकी प्राप्ति की विधि में अन्तर था, संत-मत के आत्मिक और नैतिक आदर्श इस प्रकार थे—

१—आत्मसंयम—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मान और अहंता का त्याग (वासनाओं की बलि)

२—अपरिग्रह (कंचन-त्याग)

३—इन्द्रिय संयम—निद्रा, स्वादिष्ट आहार, मांसाहार, मादक वस्तु त्याग, कामिनी-त्याग

४—मानसिक संयम—कपट, आशा, तृष्णा, निन्दा और मन की चञ्चलता का त्याग

५—आचार और व्यवहार-सम्बंधी संयम—कुसंग-त्याग, दुर्जन-संग-

त्याग, तीर्थ-व्रत में आस्था का त्याग, अन्य देवता की पूजा का त्याग, भेष भूषा-सम्बन्धी आडम्बर का त्याग।

इस निषेधात्मक आत्मनिग्रह के अतिरिक्त संत के कुछ विधेयात्मक कर्म भी निर्धारित थे—सत् पुरुष (निराकार ईश्वर) में आस्था, नाम-स्मरण, शब्द, अनहद, भक्ति[1], सुरति[2], विरत[3], पतिव्रता, प्रेम[4], विश्वास[5], निजकर्ता का निर्णय[6], सत्संग, सहज, मौन सारग्रहणि[7], परिचय[8], उपदेश, सत्य-प्रेम,

---

१—सन्तों की भक्ति सगुण भक्तों की भक्ति से कुछ भिन्न है। वह निर्गुण भक्ति या अद्वैत भक्ति है और उसके अन्त में सान्निध्य या सालोक्य की प्राप्ति नहीं होती। सान्निध्य और सालोक्य का प्रश्न उसी समय तक है जब तक इष्टदेव का कोई रूप निश्चित है। निर्गुण ब्रह्म निराकार होने के कारण भक्ति का अन्त सायुज्य मात्र में ही हो सकता है अर्थात् भक्त ब्रह्म में मिल जाता है। यही सायुज्य सन्त का लक्ष्य है। कबीर का एक पद है—

बहुरि हम काहे कूं आवहिंगे
बिछुरे पंचतंत की रचना तब हम रामहिं पावहिंगे ॥ टेक ॥
जैसे जलदि तरंग तरंगनीं ऐसै हम दिखलावहिंगे !
कहै कबीर स्वामी सुखसागर, हंसहि हंस मिलावहिंगे ॥

२—निर्गुण सन्त प्रेम के साधक है। उनके अनुसार यह प्रेम एक महान सङ्गीत है जो सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। "सुरति" इस सङ्गीत की तान है, और "विरत" इसकी लय और ताल।

३—यह आध्यात्मिक साधना का परमरूप है जब सन्त निर्गुण ब्रह्म से मिलकर अद्वैतावस्था प्राप्त करने के लिए विकल हो जाता है। इस विरह साधना का रूप निम्न-पद से स्पष्ट हो जाता है—

राम बिन तन की ताप न जाई
जल में अगनि उठी अधिकाई ॥ टेक ॥
तुम्ह जलनिधि मैं जल कर मीना।
जल मैं रहौं जलहिं बिन षीना ॥
तुम्ह पिंजरा मैं सुवना तोरा ॥
दरसन देहु भाग बड़ मोरा ॥

४—कबीर ने आत्मा को प्रोषितपतिका माना है और निर्गुण के प्रति उसके प्रेम को इसी रूपक के आधार पर पतिव्रता प्रेम कहा है।

५—अपनी चिंता छोड़ का ईश्वर में विश्वास।

६—निर्गुण ब्रह्म की प्रतिष्ठा।

७—जहाँ से भी मिले, वहाँ से अपने मतलब की बातें लेने से नहीं चूकना।

८—ईश्वर-ज्ञान।

उदारता, क्षमा, दीनता, धीरज, दया, विचार, विवेक, गुरुसेवा, आरती[१], इन आदर्शों में भी कुछ आध्यात्मिक हैं, कुछ नैतिक और कुछ आचार-विचार-संबंधी।

सामाजिक आदर्श

सन्तों की साधना केवल वैयक्तिक और ऐकान्तिक साधना नहीं थी। वह समाज को दृष्टि में रखकर चलती थी। समदृष्टि, भेदभाव का नाश और एकता का प्रचार इस साधना के आवश्यक अंग थे। सन्तों के लिए ब्राह्मण-अब्राह्मण और हिन्दू-मुसलमान सब बराबर थे। मुसलमानों के प्रवेश ने हिंदू-समाज के लिए कई समस्याएँ उत्पन्न कर दी थीं। उनके आक्रमण से बहुत पहले ही हिंदू समाज-संगठन छिन्न-भिन्न होने लगा था। मुसलमानी सामाजिक संगठन और एकता के सामने उसका टिकना कठिन था। वर्ण-विभाजन ने वर्ग-वर्ग में असंतोष पैदा कर रखा था। नीच वर्ण के लोग क्षुब्ध हो उठे थे। सन्तों ने इस संस्था को ही मिटाना चाहा। चाहे संस्कृति की दृष्टि से यह दृष्टिकोण ग़लत ही हो परन्तु वर्ण-विभाजन की कट्टरता के विरुद्ध आन्दोलन करना उस युग के लिए आवश्यक हो गया था। यह इस बात से और भी स्पष्ट है कि उच्च वर्ण के हिन्दुओं ने भी थोड़ा बहुत इस प्रकार का प्रयत्न किया। ऐसे काम करने वालों में रामानन्द प्रमुख थे। अतएव यह स्पष्ट है कि वर्णाश्रम-सम्बन्धी काम ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर दोनों ओर हुआ, नीचे से ऊपर की ओर कार्य करने अर्थात् नीचे वर्गों (अछूतों) में अनेक प्रकार के सुधार करने और उनमें से उन दुर्गुणों को निकाल देने का प्रयत्न करने का सारा श्रेय सन्तों को है। उन्होंने हीनवर्णों को उच्चवर्णों के स्तर पर लाने की चेष्टा की। यह काम अधिक हुआ परन्तु सन्त सफल नहीं हुए। वास्तव में यह काम उसी समय सफल हो सकता था जब उच्चवर्ण के हिंदू इस काम को अपने हाथ में लेते। परन्तु उच्चवर्णों में हीनवर्ण के प्रति सहिष्णुता उत्पन्न करने का काम रामानन्द के बाद नहीं हुआ। कबीर के समय के बाद सगुण भक्ति साहित्य की प्रधानता रही। यह साहित्य वर्णाश्रम संस्था को आवश्यक समझता

१—संत मूर्तिवाद का खंडन करते हैं। "आरती" को वे केवल रूपक के ढंग पर ग्रहण करते हैं, व्यवहार में नहीं। यह विराट विश्व और उसके अनेक उपादान ब्रह्म की आरती को सजाते हैं। सन्तों ने इस निराकार की आरती के सम्बन्ध में अनेक सुन्दर पदों की रचना की है। इस अखण्ड आरती को नानक ने इस तरह कहा है—

गगन तल थाल रविचंद दीपक बने तारका मंडल जनुक मोती
धूप मलयानिलो पवन चवरो करै सकल बनराय फूलंत जोती
कैसी आरती होय भव खंडना

था। कबीर के बाद के भारतीयों के जीवन में भक्तों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा और उनकी वर्णाश्रम-प्रियता के कारण एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक समस्या उलझी ही रह गई। उच्च वर्णों ने निम्न वर्ण के भक्तों को तो अपना लिया, परन्तु जहाँ पूरी जाति का प्रश्न रहा वहाँ वे किसी प्रकार भी अपने दृष्टिकोण को व्यापक न बना सके। "हरि को भजे सो हरि का होई।" वे केवल इतना आगे बढ़े।

संतमत के कुछ पारिभाषिक शब्दों के विषय में विचार करना आवश्यक है। इससे सन्त-विचारावली को ठीक-ठीक समझने में सुगमता होगी। इन पारिभाषिक शब्दों में शून्य, अनहद, निर्गुण और सहज का महत्त्व सर्वाधिक है।

शून्य

शून्य की कल्पना बौद्ध है। महायान दार्शनिकों की एक शाखा 'शून्यवादी' है। वह कहती है—संसार में किसी वस्तु की भी सत्ता नहीं है, सब शून्य है। नागार्जुन ने शून्य की व्याख्या इस प्रकार की है—शून्यमिति न वक्तव्यम् अशून्य मिति वा भवेत्। उभयं नोभयं चेति प्रज्ञप्त्यर्थं तु कथ्यते" (जो है हम उसे शून्य भी नहीं कह सकते, अशून्य भी नहीं, उभय अर्थात् शून्य-अशून्य भी नहीं। इस प्रकार के अस्तित्व की प्रज्ञप्ति के लिए 'शून्य' कहा गया है। यह जैनों के सन्देहवाद से भिन्न है। इसे अनिर्वचनीयतावाद कहा जा सकता है। वह है या नहीं, हम कुछ नहीं कह सकते।

योगियों ने सहस्रार को शून्य का स्थान लक्षित किया है, उसे शून्य चक्र कहा, और उसी शून्य से आत्मा का योग होने को परम लक्ष्य माना है।

कबीर ने भी मौलिक अर्थ किये। उनका शून्य (सुन्न, सुन्नमहल) "कुछ नहीं" नहीं है। दादू ने स्पष्ट कह दिया है—

'कुछ नाहीं' का नांव धरि भरमा सब संसार
साँच झूठ समझै नहीं, ना कुछ किया विचार

वह अभावसूचक नहीं है, ब्रह्म है, सर्वोपरि नित्य सत्य है। उस तरह विद्यमान है जिस तरह गुरु। इसीसे रज्जब ने कहा है—

सतगुरु शून्य समान है

उसे दूसरे शब्दों में वह ऊँची आत्मस्थिति कह सकते हैं जिसमें अद्वैत-भाव का नाश हो जाता है।

अनहद नाद

शून्य की भाँति ही सन्त-साहित्य का एक दूसरा महत्त्वपूर्ण पारिभाषिक

शब्द है—"अनहद नाद" । इसे ही 'निरंतर सबद" और 'सबद' भी कहा गया है। सगुण भक्ति साहित्य में "शब्द ब्रह्म" का महत्त्व है। वास्तव में शब्द ब्रह्म, निरंतर सबद, सबद और अनहदनाद एक ही चीज़ हैं। इन्हें ही नामांतर से स्फोट भी कहा गया है। यह 'शब्द' या 'अनहद' ब्रह्म का ही प्रतीक या वाचक शब्द है। इसी के द्वारा साधक को ब्रह्म का प्रकाश प्राप्त होता है, अतः यही ब्रह्म का प्रकाशक है। जब कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होकर उद्बुद्ध हो जाती है तो साधक का मन धीरे-धीरे प्रकृति के बंधन से ऊपर उठ जाता है। ऐसी दशा में उसे 'अनाहद ध्वनि' या 'अनहद नाद' सुनाई पड़ता है। आत्मतत्व में स्थिर होने पर प्रकृति से सारा संबंध ही छूट जाता है और फिर अनहद नाद सुनाई नहीं पड़ता। शब्द ब्रह्म की यह कल्पना पुराणों और उपनिषदों तक पहुँचती है। नादविन्दूपनिषद (श्लोक ३५—५६) और विष्णु पुराण (१. २२. ८३) में शब्द ब्रह्म का विशद वर्णन है। स्कंद-पुराण में शब्द ब्रह्म और ब्रह्म का सम्बन्ध इस प्रकार निरूपित किया गया है—

शब्द ब्रह्म परं ब्रह्म नानयोर्भेद इष्यते।
लये तु एकमेवेदं सृष्टौ भेदः प्रवर्तते ॥

निर्गुण

कबीर के निर्गुण ब्रह्म न वेदान्तियों के निर्गुण ब्रह्म थे, न एकेश्वरवादी मुसलमानों के—

निर्गुण ब्रह्म को कियो समाधू। तब ही चले कबीरा साधू
तुर्क की राह खोज सब छाड़ी। हिन्दू से करनी ते पुनि न्यारी (दादू,

कबीर को जो निर्गुण मान्य है उसमें ऐसा अनंत अलौकिक तेज है जिसका कोई अनुमान नहीं हो सकता, न जिसका कोई आधार है (कवल जु फूला जलद बिनु अथवा चंद्र विहूणाँ चाँदिणाँ)। वह असीम है (हदे छाडि बेहद हुआ, हुआ निरंतर बास)। वह अंतर्यामिन् है (अंतरि कवल प्रकाशिया ब्रह्म वास तहाँ होइ)। वह सर्वव्यापी है साथ ही घट-घटवासी भी है जो प्रेम से प्रगट हो सकता है (पिंजर प्रेम प्रकाशिया)। इतना होने पर भी वास्तव में वह उन गुणों से परे है जिनकी हम परिभाषा दे सकते हैं—

भारी कहों त बहु डरौं हलका कहूँ तो झूठ
मैं का जाणों राम कूँ नैनूं कबहूँ न दीठ

इसी से कबीर अपने निर्गुण को केवल "अद्भुत" ही कह सकते हैं—

ऐसा अद्भुत जिनि कथै अद्भुत राखि लुकाइ
वेद कुरानौं गमि नहीं, कह्यो न को पतियाइ

सहज

यह शब्द साधना की सुगमता को प्रगट करता है। कबीर कठोर साधनाएँ पसन्द नहीं करते थे। 'साधू सहज समाधि करियो' पद से उनकी सहज समाधि की कल्पना स्पष्ट हो जाती है। वस्तुतः यह साधना सहज भी थी और कठिन भी। सहज इसलिए कि इसके लिए घरबार छोड़कर वैरागी होना नहीं पड़ता। केवल विषयासक्ति का त्याग वांछित है—

सहज-सहज सबही कहै, सहज न चीन्है कोइ
जिन सहजैं विषया तजी, सहज कहीजै सोइ

(कबीर)

इस सहज मार्ग से चलते हुए साधक को यहाँ तक पहुँचना होता है—

जिहि वन सींह न संचरे, पंखि उड़े नहि जाय
रैन-दिवस का गम नहीं, तहँ कबीर रहा लौ लाइ
सुर नर मुनिजन औलिया, ए सब उरली तीर
अलह राम की गम नहीं, तहँ घर किया कबीर

सच तो यह है कि "विरह की साधना" के मार्ग को ही कबीर सहज मार्ग कहते हैं। इसकी निश्चित गतिविधि नहीं दी जा सकती है। वास्तव में जिस मार्ग से भी भगवत्प्राप्ति हो जाय, वही सहज समझना होगा। अपने को "राम की बहुरिया" समझ कर मन में विरह उत्पन्न करना और उसके उत्तरोत्तर विकास का प्रयत्न करना—यही "सहज" है जिससे अन्त में अद्वैतावस्था की प्राप्ति होगी।

कबीर और योगमार्ग

लोकमत योगपंथ के सामने झुक रहा था। उसकी उपेक्षा करना कठिन था। इसलिए कबीर ने सतर्कता से काम लिया। उन्होंने योग के पारिभाषिक शब्दों को स्वीकार कर लिया परन्तु उन अर्थों के ऐसे नये अर्थ लगाए जो उनकी मन की साधना के रूप को स्पष्ट करते थे। समाधि-अवस्था की प्राप्ति योग में ध्येय थी। कबीर ने सहज समाधि की घोषणा की—

साधो सहज समाधि भली

गुरु प्रताप जा दिए से उपजी दिन-दिन अधिक चली
जहँ तहँ डोलौं सो परिकरमा जो कछु करौं सो सेवा
जब सोवौं तब करौं दण्डवत पूजौं और न देवा

कहा सो नाम सुनो सो सुमिरन खाँव-पियों सो पूजा
गिरह उजाड़ एकसम लेखों भाव न राखों दूजा
आँख न मूँदो कान न रूँधो, तनिक कष्ट नहिं धारो
खुले नैन पहिचाने हँसि-हँसि सुन्दर रूप निहारो
शब्द निरंतर से मन लागा मलिन वासना त्यागी
उठत बैठत कबहुँ न छूटै ऐसी तारी लागी
कह कबीर यह उनमनि रहनी, सो परगट करि भाई
दुख सुख से कोई परे परमपद तेहिपद रहा समाई

वास्तव में प्रचलित योगपंथ के विरुद्ध उनका मत यह है—

डंडा मुद्रा खिंथा अधारी । भ्रम कै भाइ भवै भेषधारी
आसन पवन दूरि कर बौरे । छोड़ि कपट हित हरि भज बौरे
जिहि तू चाहहिं सो त्रिभुवन भोगी । कह कबीर कैसो जग जोगी

कबीर का 'जोगी' यह है—

सो जोगी जाके मन में मुद्रा । रात दिवस न करइ स निद्रा
मन में आसन मन में सींगी । अनहद बेन बजावे रंगी
मन में आसन मन में रहना । मन का जपतप मनसूँ कहना
पंज पजारि भस्म करि बंका । कहै कबीर सो लहसै लंका

वास्तव में कबीर के निकटवर्ती सारे प्रदेश में योगमत का प्रचार था । कबीर ने उस मत के मानने वालों के सामने उनकी ही परिभाषा में योग का नया परिष्कृत रूप रखा । यह कबीर का 'सहज' योग था । इस मत में वाह्याचार का खंडन तो स्वाभाविक था ही, परन्तु कबीर ने योग की अभ्यांतरिक साधना को स्वीकार करके उसे नया रूप देने की चेष्टा की थी । कबीर विरह के साधक हैं । जब तक साधक विरह की साधना तक नहीं पहुँच जाता तब तक उसका एकमात्र साधन नाम-स्मरण है । जब विरह की साधना तक पहुँच जाता है तब निष्काम अनन्य भक्ति से आत्मसमर्पण कर देता है । इस स्थिति को "लय" या "लौ" कहते हैं । इस "लय" की अवस्था तक पहुँचने के लिए ही कबीर ने गोरखमत की कुंडलिनी, षटकमल, सुषुम्ना और सहस्रार संबंधी मान्यताओं को स्वीकार कर लिया है ।

सन्त-काव्य की परम्परा

सन्त-काव्य का प्रारम्भ कब हुआ, यह अनिश्चित है । संत-काव्य की परम्परा में हमें सबसे पहले जयदेव के कुछ पद मिलते हैं जो ग्रन्थसाहब में

संग्रहीत हैं परन्तु जयदेव से संत-काव्य का आरम्भ मानना ठीक नहीं है। उनकी संस्कृत की रचना (गीतगोविन्द) कृष्ण-भक्ति का रूपक हो सकती है परंतु उनकी हिंदी कविता पर हठयोगियों का प्रभाव है। वास्तवमें उनके समय में (११७० के लगभग—मेकाफ़) सन्त-काव्य का आविर्भाव होना असम्भव है क्योंकि उस समय तक मुसलमानों को आये हुए अधिक समय नहीं हुआ था और साहित्य में उनकी प्रतिक्रिया नहीं मिल सकती थी। हाँ, मुसलमान लेखकों के ग्रंथों से जान पड़ता है कि उस समय सारे उत्तरी भारत में गोरख-पन्थी अलख जगा रहे थे। ग्रन्थसाहब में दूसरा उल्लेख नामदेव (मृत्यु १३५०) का है। नामदेव के समय में सन्त-काव्य अवश्य प्रतिष्ठित हो गया था। नामदेव की जो रचनाएँ उपलब्ध हैं उनसे यही ध्वनि निकलती है। उनकी उत्तरकालीन रचनाएँ ग्रंथसाहब में मिल जाती हैं। इनमें ईश्वर के व्यापक निर्गुण रूप का वर्णन है। नामदेव ने उत्तर भारत में बहुत-सी यात्राएँ की थीं, अतः वह उत्तर के तत्कालिक सामान्य धर्म (निर्गुण मत) से परिचित हो गये तो कोई आश्चर्य नहीं। जो हो, नामदेव के समय तक निर्गुण भावना स्पष्ट थी और उसमें रस और प्रेम का मिश्रण नहीं हुआ था। वह अभी उपासना भाव तक ही केन्द्रित थी।

इसके बाद त्रिलोचन आते हैं। इनका जन्म १२६७ ई० में हुआ था। यह पंढरपुर के निवासी और नाभादास के समकालीन थे। नाभादास के अनुसार नामदेव और त्रिलोचन ज्ञानदेव के शिष्य थे जो विष्णुस्वामी संप्रदाय को मानते थे। इनके कुछ बाद सदन हुए। इनके अतिरिक्त बेनी की रचनाएँ ग्रन्थसाहब में हैं। यह रचनाएँ नामदेव से भी पहले की जान पड़ती हैं। इनमें हठयोग की अध्यात्म शिक्षा प्रधान है, अतः यह सन्त-काव्य के अन्तर्गत नहीं आती। इनकी भाषा प्राचीन और असंस्कृत है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भक्ति-काल के आरम्भ में ही सन्त-मत की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। इसका साहित्यिक रूप पंढरपुर (महाराष्ट्र) में प्रतिष्ठित हुआ। यह भूलना नहीं चाहिये कि उस समय महाराष्ट्र और राज-स्थान हठयोग के केन्द्र हो रहे थे।

रामानन्द (१२९८ में वर्तमान) इस सन्त-काव्य के आरम्भ से लगभग आधी शताब्दी आगे बढ़े जाते हैं। रामानन्द के दो पद ग्रन्थसाहब में मिलते हैं जिनमें एक निर्गुण काव्य के अन्तर्गत आता है। रामानन्द का दूसरा पद हनुमान की स्तुति है। यह स्पष्ट है कि इस समय तक संत-मत का कोई विशिष्ठ रूप नहीं था और उसका साहित्य भी थोड़ा था। रामानंद के

शिष्यों ने ही उसे विशिष्ठ रूप दिया और उसमें बृहद् साहित्य उपस्थित किया। इनमें धना, पीपा, रैदास और कबीर का साहित्य अधिक महत्त्वपूर्ण है। धना और पीपा के बहुत थोड़े पद मिलते हैं और वह भी ग्रन्थ-साहब में। रैदास का साहित्य भी अधिक नहीं है। उनके दो प्रधान ग्रन्थ हैं, रविदास की बानी और रविदास के पद। इनकी कविता बहुत सरल और साधारण है और उसमें उस समय की भाषा का प्रचलित रूप दिखलाई पड़ता है। उसमें फ़ारसी और अरबी शब्दों का भी बहुलता से प्रयोग हुआ है। इनके बाद हम कबीर के साहित्य पर आते हैं।

कबीर का साहित्य मात्रा और प्रकार दोनों की दृष्टि से बहुत बड़ा है। उनकी रचनाओं का रूप मौखिक था, अतः अब उनका जो साहित्य उपलब्ध है उसका अधिकांश सन्दिग्ध है। उनकी रचनाएँ उनके शिष्यों ने लिपिबद्ध की हैं और उनपर शिष्यों की भाषा, उनके लिपिदोष और उनके अपने व्यक्तिगत मतों प्रभाव पड़ा है। स्वयम् कबीर ने सारे उत्तर भारत का पर्यटन किया जान पड़ता है और स्वभावतः उनकी मूल भाषा को कई प्रांतों की भाषा ने ढक लिया है। कबीर जैसे संत की भाषा की शुद्धता का आग्रह भी नहीं हो सकता। इन सब कारणों से कबीर की भाषा अत्यन्त अनिश्चित है और यद्यपि उनके विचार इतने नवीन थे कि उन्हें उनके शिष्य मूलतः बदल नहीं सकते थे, परन्तु उनमें कदाचित् कुछ विचार उनके शिष्यों ने भी अवश्य जोड़ दिये होंगे। इस प्रकार हम कबीर के साहित्य के संबंध में बहुत प्रामाणिक मत उपस्थित नहीं कर सकते। जो ६१ पुस्तकें कबीर की रचनाएँ समझी जाती हैं उनमें से कितनी कबीर की हैं इसमें सन्देह है, परन्तु वे ग्रंथ जो उनके और गोरख तथा मोहम्मद के संवाद के रूप में हैं वे निश्चित ही कबीर के नहीं हो सकते क्योंकि उनके इतिहास-दोष स्पष्ट हैं।

कबीर का मुख्य विषय ज्ञान और भक्ति है यह भक्ति निर्गुण चरमसत्ता के प्रति है जिन्हें कबीर ने साहब, राम, सत्यपुरुष और शून्य आदि नामों से पुकारा है। कबीर की इस भक्ति को हम ज्ञानाश्रयी भक्ति अथवा ज्ञान-मूलक भक्ति कह सकते हैं। आलम्बन के निर्गुण और निराकार होने के कारण कबीर की भक्ति में रहस्यमयता आ गई है। इसी के आधार पर विद्वानों ने कबीर के रहस्यवाद का रूप स्थिर किया है। यह रहस्यवाद मूलतः भारतीय है यद्यपि उस पर सूफ़ी रहस्यवाद की प्रेमपरता और तन्मयता का भी प्रभाव पड़ा है। आत्मा-परमात्मा का ही अंश है परंतु इस संसार में वह विरहिणी के रूप में रह रही है। सांसारिकता ने उसको संकुचित कर

दिया है और वह अपने सत्य स्वरूप को नहीं पहचानती। भक्ति और ज्ञान की साधना से मनुष्य की आत्मा शुद्ध हो जाती है और उसमें परमात्मा का प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। यह एक प्रकार का अंतःमिलन है। निर्गुण भक्तों का यही लक्ष्य है और उनकी कविता में इस मिलनाकांक्षा की तीव्रता और मिलनानन्द के सुन्दर चित्र मिलते हैं।

कबीर का साहित्य वैयक्तिक होते हुए भी अपने समय की वास्तविकता से पलायन नहीं करता। कबीर ने अपने समय के धार्मिक पाखंडों का खंडन किया है और हिन्दू-मुस्लिम के विरोध और ब्राह्मण-अब्राह्मण के भेद-भाव की असत्यता और कृत्रिमता पर विचार किया है। उन्होंने आश्चर्यजनक प्रतिभा से अपने समय की समस्याओं को समझने और सामाजिक विषमताओं के सुधारने का प्रयत्न किया है। उनकी सार्वभौमिक दृष्टि उन्हें संसार के महत्तम स्वतंत्र चिंतकों में स्थान देती है। कबीर और तुलसी मध्ययुग के सब से बड़े सुधारक थे और दृष्टिकोणों की भिन्नता होते हुए भी दोनों के साहित्य ने भारतीय जन-समाज की सामाजिक और नैतिक भावनाओं का सुधार किया।

कबीर-साहित्य में केवल दो रस हैं—शांत और शृंगार। शृंगार का आलम्बन निराकार होने के कारण उनके इस प्रकार के साहित्य में अत्यन्त विचित्रता आ गई है। उनके काव्य में काव्य-गुणों और अलंकारों को अधिक स्थान नहीं मिला है। कबीर संत और उपदेशक थे, उनके लिए साहित्य-रचना का उद्देश्य गौण था।

कबीर के बाद उनके ढंग के साहित्य की रचना की परम्परा चल पड़ी और कितने ही संतों ने उसमें योग दिया।

धरमदास (१४१८—लगभग १५४३)

धरमदास के ग्रन्थों में सबसे ऊँचा स्थान 'सुखनिधान' का है। वैसे इनके लिखे हुए कई ग्रन्थ हैं। इनका साहित्य न कबीर की भावभूमि तक पहुँचता है और न उनकी प्रकाशन-भूमि तक। उसमें वैसी तन्मयता, प्रचंडता और तीव्रता नहीं है। कबीर का साहित्य उनके व्यक्तित्व का पूरा प्रतिबिम्ब है। इनके बाद के संतों में वह व्यक्तित्व नहीं पाया जाता। फिर भी इनके 'विरह' में भी आध्यात्मिक संदेश और रहस्यवाद उच्चकोटि का मिल जाता है। कबीर-साहित्य में जिन-जिन विषयों पर लिखा गया है उन्हीं विषयों पर धरमदास ने भी लेखनी चलाई है परन्तु उनके साहित्य में वह भाग अधिक है जिसका संबंध पंथ की पूजन-विधि अथवा आचार से हैं। आरती, विनती, मंगल और प्रश्नोत्तर आदि

प्रसंग इसी भाग के अंदर आते हैं। भाषा-वैभिन्नता उतनी नहीं जितनी कबीर की भाषा में। उस पर पूर्वी हिन्दी की छाप है।

श्री गुरु नानक (१४६९—१५३८)

नानक की रचनाओं में एकेश्वरवाद पर अधिक बल दिया गया है, वैसे हिंदू-मुसलमानों की अभिन्नता और मूर्तिपूजा विरोध भी इनका विषय है। उनका मत कट्टर निर्गुणी कबीर जैसा नहीं है। वह सहिष्णु है।

शेख इब्राहीम (१५५२)

इनके पद फ़रीद सानी के नाम से ग्रंथ साहब में मिलते हैं।

मलूकदास (१६३१—१७३९)

मलूकदास तक पहुँचते-पहुँचते निर्गुण-धारा सगुण-धारा की ओर झुकने लगी थी। कबीर की उच्च भाव-भूमि तक सभी का उठना कठिन था। इस समय राम-भक्ति पूर्ण रूप में विकसित हो गई थी। अतः कबीर के निर्गुण राम को सगुण राम मान लिया गया था। मलूकदास की रामावतार लीला (रामायण) यही सिद्ध करती है। इनका दूसरा प्रसिद्ध ग्रन्थ ज्ञानबोध है। इसमें भक्ति और वैराग्य का वर्णन है। उपदेश, चेतावनी आदि निर्गुण संतों जैसी है। काव्य का प्रभाव भी शीक्षित है। इन्होंने कवित्त भी लिखे हैं।

सुथरादास (मलूकदास के सम-सामयिक)

इन्होंने मलूक परिचय नाम देकर मलूकदास की जीवनी लिखी।

दादूदयाल (१५४४—१६०३)

कबीर के बाद संत-साहित्य के सबसे महान् कवि दादू ही हैं। इनका साहित्य भी कबीर के साहित्य की तरह विशाल है। इन्होंने संत-मत के सभी परिचित विषयों पर ५००० से ऊपर पद लिखे हैं। दादू की कविता का एक अंश सूफ़ी साहित्य के अत्यंत निकट है। ऐसा लगता है, जैसे वह सूफ़ी सिद्धांतों की व्याख्या में लिखा गया है। डा० ताराचन्द्र ने इसका कारण दिया है। दादू कमाल के शिष्य थे और कमाल पश्चिमी भारत के सूफ़ियों और उनके साहित्य से भली भाँति परिचित थे। दादू के साहित्य पर कबीर के साहित्य की पूरी छाप है। उन्होंने लगभग उन सब विषयों पर लिखा है जिनपर कबीर उनके पहले रचना उपस्थित कर सके थे। "इनकी कविता की भाषा कबीर की भाषा से बहुत कुछ भिन्न थी। पूरबी भाषा तो इनकी रचना में कहीं भी

नहीं मिलती। प्राधान्य मारवाड़ी और कहीं-कहीं गुजरातीमिश्रित पश्चिमी हिंदी का है। कहीं-कहीं पंजाबीपन भी देखने में आ जाता है, पर कम। हाँ, गुजराती और मारवाड़ी का मुँह करीब-करीब बराबर है। कारण स्पष्ट है। इनके जीवन का उत्तरार्द्ध मारवाड़ में बीता और यही इनका रचनाकाल रहा। बाल्य और किशोर काल में गुजरात में रहना भी इनकी रचना पर प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकता था। इनमें कुछ ठेठ पद राजस्थानी और गुजराती में भी हैं। दो-चार पद पंजाबी में भी मिलते हैं।" दादू की रचनाओं में प्रसादगुण की अधिकता है और माधुर्य भी कबीर से कहीं अधिक है। इसका कारण यह है कि उनकी प्रवृत्ति कबीर की अपेक्षा कहीं अधिक नम्र और मधुर थी। वे सुधारक नहीं थे जिस प्रकार कबीर थे। वे केवल साधक थे। इसीलिए उनके पदों में अभिमान झलकता तक नहीं उन्होंने भगवान को इस तीव्र, व्यक्तिगत भावना से स्मरण किया है कि उनके पदों में प्रेम, मिलन और विरह का अत्यंत सुंदर और मार्मिक चित्र उपस्थित हो सका है। अनेक पदों में दादू जैसे उस निर्गुण, निराकार, चिन्मयब्रह्म से मिलने के लिए तड़प ही उठे हैं। ऐसे पदों में हमें सगुण भक्त-कवियों के पदों के समस्त गुण मिल जाते हैं—वही तन्मयता वही सरलता, वही तीव्रासक्ति! कबीर ने दादू के लिए मार्ग साफ कर दिया था, उन्हें जिस विरोध का सामना करना पड़ा उससे दादू परिचित नहीं थे, इसीसे उनकी वाणी का स्वर अत्यंत शिष्ट, नम्र, अतः अधिक प्रभावोत्पादक है।

वीरभानु (आ० का० १६०३)

इनके काव्य की मात्रा भी बहुत अधिक है और वह साध या सतनामी पंथ की साम्प्रदायिक वस्तु समझी जाती है। वीरभानु के काव्य-संग्रह को पोथी कहा जाता है और उसकी पूजा की जाती है। विषय वही है जो अन्य संत कवियों के और उनमें काव्य की मात्रा भी अधिक नहीं है।

लालदास (१६४२)

इनके पद कबीर के सिद्धांतों के आधार पर ही लिखे गए हैं।

हरिदास

हरिदास के पद प्रसिद्ध हैं और वे इनके नारायणी पंथ के पूजा-अर्चन की सामग्री हैं।

इसी समय के अन्य संत हैं—शिवरीना शिदाली, हरिरामपुरी, जदुप्रतापमल, बिनावली (हीरामन कायस्थ के पुत्र), आजादह (ब्राह्मण) और मिहिरचक्र (सुनार)।

(ख) कृष्ण-काव्य

कृष्ण

ऋगवेद संहिता में श्रीकृष्ण का नाम दो रूपों में आया है। एक स्थल पर वह कई सूक्तों के रचयिता हैं। दूसरे स्थल पर वह एक अनार्य गोपालक सामन्त हैं। जब इन्द्र उनकी गायें चुरा ले जाते हैं तो वह अपने गढ़ से निकल कर उनसे युद्ध करते हैं और उन्हें पराजित करते हैं। सूक्तों के रचयिता कृष्ण ऋषि हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि गीता के उपदेशक कृष्ण और गोपालकृष्ण का बीज रूप वेदों में ही मिल जाता है। पुराणों और भागवत में पूजा के लिए इन्द्र और कृष्ण की जिस प्रतियोगिता का वर्णन है उसका मूल भी कदाचित् इन्द्र-कृष्ण का यही युद्ध है। यजुर्वेद संहिता में कृष्ण केसी नामक असुर को मारने वाले कृष्ण की कथा है। छांन्दोग्य उपनिषद् में भी एक कृष्ण का उल्लेख है जिन्हें ऋषिघोर आंगिरस् का शिष्य और देवकीपुत्र कहा गया है। इसके पश्चात् वासुदेवधर्म के उत्थान के साथ वसुदेव के पुत्र कृष्ण की प्रतिष्ठा हुई। यह ऐतिहासिक पुरुष समझे जाते हैं। ये द्वारका के राजा थे और इन्होंने महाभारत में विशेष भाग लिया। इन्हें वृष्णियों का नायक राजपुत्र कृष्ण भी कहा जा सकता है। वैदिक कृष्ण और उपनिषद् के ऋषि कृष्ण से इनका योग हुआ और कदाचित् इस प्रकार, महाभारत के ज्ञानी और योद्धा कृष्ण के व्यक्तित्व का निर्माण हुआ। "पाणिनी, कात्यायन और पतञ्जलि जैसे वैयाकरणों के ग्रन्थों में 'वासुदेवक' सरीखे शब्द और कंसवध सरीखी लीलाओं का उल्लेख है। साथ ही 'चिरहते कंसे' 'जघान कंसं किल वासुदेवः' सरीखे वाक्यों में 'चिर' और 'किल' के प्रयोग बताते हैं कि श्रीकृष्ण का आविर्भाव काल इन वैयाकरणी महोदयों से बहुत पहले का है।" पतञ्जलि का समय ईसा से २०० साल पूर्व है। इसी समय महाभारत का दूसरा संस्करण हुआ। उस समय वासुदेवधर्म के पुनरुत्थान के कारण महाभारत के कृष्ण को परम भागवत मान लिया गया और उन्हें वैदिक देवता विष्णु और नारायण से मिला दिया गया।

कनेडी ने कृष्ण के विकास के तीन भाग किये हैं। उन्होंने उन्हें द्वारिका का राजा कृष्ण माना है जो महाभारत में अपने धूर्त कृत्यों के लिए प्रसिद्ध है। यह कृष्ण का राजनीतिज्ञ रूप है। उन्होंने उसे सिंधु प्रदेश का अनार्य वीर योद्धा माना है जिसकी बहुत कुछ देवता के रूप में प्रतिष्ठा हो चुकी है। इसने राक्षस, पैशाच आदि ब्याह किये थे। अंत में इन्होंने उन्हें मथुरा का बालकृष्ण

भी माना है। महाभारत में बालकृष्ण का कोई परिचय नहीं मिलता। वहाँ कृष्ण वासुदेव भागवत या परम दैवत हैं। उनके द्वारा महाभारतकार ने अनेक उपासना-पद्धतियों के सामंजस्य की चेष्टा की है। महाभारतकार के समय में ज्ञान, भक्ति और कर्म की तीन धाराएँ चल रही थीं। गीता में भगवान कृष्ण ने इन तीनों धाराओं को एक केन्द्र पर लाने की चेष्टा की है। उन्होंने योग-प्राप्ति के अनेक ज्ञान-मार्गों का वर्णन किया है परन्तु अंत में व्यवहार के लिए अनासक्त कर्म और अध्यात्म के लिए भक्ति की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है। उन्होंने कहा है—सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। यही भक्ति का मूल मंत्र है।

बालकृष्ण की प्रतिष्ठा के सम्बंध में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। अधिकांश विद्वानों का मत है कि ईसा की पहली शताब्दी के कुछ पूर्व दक्षिण पश्चिम प्रदेश में आभीर जाति का उत्थान हुआ था। इसने राजशक्ति भी प्राप्ति की थी। मथुरा और द्वारका इसके केन्द्र थे। इसी जाति में एक बालदेवता की उपासना होती थी। सम्भव है कि उसका नाम भी कृष्ण रहा हो। महाभारत के कृष्ण से इस बालकृष्ण का योग बिठाया गया और इस प्रकार कृष्ण के मध्ययुगीय रूप का निर्माण हुआ। पहली शताब्दी के लगभग प्राकृत भाषा में जो काव्य-रचना हुई उसमें आभीर जाति की शृंगार-कथाओं का वर्णन है। अनेक गाथा छन्दों में गोप-गोपियों का उल्लेख है। इससे यह स्पष्ट होता है कि आभीर जाति अत्यन्त रसिक थी। सम्भव है इसी के प्रभाव के कारण व्रजप्रदेश के लोक-गीतों में कृष्ण के भक्ति-पदों में गोपियों की लीला और राधा को स्थान मिल गया। गाथा सप्तशती में राधा शब्द प्रथम बार पाया जाता है जो इस बात की पुष्टि करता है। इसी समय के लगभग भागवत धर्म का पुनरुत्थान हुआ और उसमें कृष्ण के इस नये परिवर्धित रूप को स्वीकार कर लिया गया।

राधा

राधा का व्यक्तित्व ऐतिहासिक नहीं है। वह दार्शनिकों, धर्म-ग्रन्थों और कवियों की सूझ है। उसके व्यक्तित्व का निरंतर विकास होता गया है। यहाँ तक कि हमें सूरदास के काव्य में उसका एक पूर्ण चित्र मिल जाता है। सूरदास के समय से अब तक राधा के चरित्र में कोई विकास नहीं हुआ है।

महाभारत में कृष्ण के जीवन का पहला पूर्ण चित्र हमारे सामने उपस्थित होता है। परन्तु इसमें गोपलीला का अभाव है। महाभारत में न गोपियाँ हैं न राधा। गोपलीला का परिचय हमें पहली बार श्रीमद्भागवत में मिलता

है परन्तु कृष्ण की प्रेमलीला में भाग लेनेवाली असंख्य गोपियों में राधा कहीं नहीं है। सारे भागवत में कहीं उसका नाम भी नहीं आया है। इस ग्रन्थ में एक स्थान पर कृष्ण की एक विशेष प्रिय गोपिका का उल्लेख है। इस गोपी ने पूर्वजन्म में कृष्ण की आराधना की थी। उसके विशेष प्रिय होने का कारण भी यही है। सम्भव है कि इसी बात से बाद में राधा नाम की एक विशेष गोपी की कल्पना की गई हो जो कृष्ण को विशेष प्रकार से प्रसन्न करती है ![10] हरिवंश पुराण और विष्णुपुराण में भी राधा के चिह्न नहीं मिलते। ईसा की दूसरी शताब्दी में लिखे गये भास के नाटकों में भी राधा का नाम नहीं आया है[11]।

परन्तु खोज द्वारा पता चलता है कि राधा की कल्पना पहली शताब्दी अथवा उससे भी पूर्वकाल में हो चुकी थी। संस्कृत ग्रन्थों में राधा का पहला परिचय दसवीं शताब्दी में मिलता है, परंतु देशी भाषाओं में राधा का उल्लेख इससे पूर्व आ जाने के कारण इतना महत्त्व नहीं रह जाता। देशी भाषा लोक-भावना के अधिक निकट थी। अनुमान यह होता है कि राधा के सम्बन्ध में जनगीत प्रचलित रहे होंगे। देशी भाषा के कवियों ने अपने काव्य में उनके प्रभाव को ग्रहण किया। दसवीं शताब्दी के लगभग जब कृष्ण के लिए उनकी शक्ति के नारी-रूप की कल्पना की आवश्यकता पड़ी तो धर्म-व्यवस्थापकों ने जन-समाज में प्रचलित और कृष्ण से सम्बन्धित राधा को कृष्ण की पत्नी के रूप में ग्रहण कर लिया।

कृष्ण-काव्य में सबसे पहले राधा शब्द प्राकृत की 'गाथासप्तशती' में पाया जाता है जिसका निर्माण-काल विक्रम सम्वत् के आविर्भाव काल के निकट है। इससे कुछ ही समय बाद के ग्रन्थ 'पचतन्त्र' में इसी राधा का नाम आता है।

१०—राधा शब्द संस्कृत धातु राध् से बना है जिसका अर्थ है सेवा करना अथवा प्रसन्न करना।

११—कृष्ण की बाललीला सम्बन्ध का नाटक बालचरित्र है। उसके अन्य नाटक दूत-वाक्य और दूत घटोत्कच हैं—भास के समय के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वान उन्हें ईसा पूर्व का रचा हुआ समझते हैं। अन्य विद्वान उन्हें तीसरी शताब्दी के अन्त अथवा चौथी शताब्दी के अन्त में लिखा हुआ स्वीकार करते हैं। हमने उनका निर्माण-काल बीच का मान लिया है। विशेष परिचय के लिए देखिये जैसवाल और स्टेनकोनो की खोजें और विन्टरनीज़ का ग्रन्थ—Some Problems of Indian Literature, p. 135

धर्मग्रन्थों में राधा का पहला विशद चित्र ब्रह्मवैवर्त पुराण में मिलता है जो भागवत के बाद का ग्रन्थ है[१२]। इसके कुछ ही समय बाद निम्बार्क और जयदेव का काल आता है। निम्बार्क ने राधा को कृष्ण की मूल प्रकृति कहा है[१३]। जयदेव के ग्रन्थ 'गीतगोविन्द' में राधा का जो केलि-विलासमय चित्र उपस्थित होता है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उस युग में राधा की प्रतिष्ठा परमशक्ति के रूप में हो चुकी थी[१४]। इस समय तक राधा का कृष्ण की बाललीला के साथ सम्बन्ध नहीं जोड़ा गया था। इससे पहले राधा को वैष्णव धर्म की उपासना-पद्धति में स्थान नहीं मिला था[१५]। काव्य में अवश्य राधा का प्रचलन हो गया था। जयदेव के कुछ ही परवर्ती आनन्दवर्धनाचार्य के ध्वन्यालोक में दो श्लोक राधा के सम्बन्ध में मिलते हैं।

इस प्रकार हम चौदहवीं शताब्दी में पहुँचते हैं। इस समय भागवत सम्प्रदाय का नये रूप से विकास हुआ। आचार्यों ने कृष्ण के साथ राधा की उपासना को भी मान्य समझा। कवियों एवं भक्तों ने राधा-कृष्ण का संबंध पूर्णतः जोड़ दिया। इस समय के 'गोपालतापनी उपनिषद्' में राधा का वर्णन कृष्ण की प्रेयसी रूप में हुआ है।

अगली शताब्दी में राधा-कृष्ण का काव्य में प्रचुर प्रयोग हुआ है। विद्यापति और उनसे कुछ पहले उमापति ने राधा-कृष्ण की शृंगारिक लीलाओं को अपने गीत-काव्य का विषय बनाया। यह मध्य प्रदेश के पूर्वी भाग की बात है। अधिक पूर्व बंगाल में इसी समय चंडीदास ने कृष्ण-काव्य की रचना की।

दक्षिण पश्चिमी भारत में भी राधा-कृष्ण का चरित्र काव्य का विषय बना। गुजरात में नरसी मेहता ने राधा-कृष्ण विषयक रचानाएँ कीं, मीराबाई ने

१२—दसवीं शताब्दी के लगभग

१३—अंगे तु वामे वृषभानुजां मुदा।
विराजमाना मनु रूप सौभगाम्॥
सखी सहास्रैः परिसेवितां सदा।
स्मरेम् देवीम् सकलेष्ट कामदाम्॥ दश श्लोकी (स्तोत्र)

१४—जयदेव का समय बारहवीं शताब्दी है।

१५—निम्बार्क के पहले भागवत पुराण के आधार पर माध्व सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। परंतु इसमें द्वैतवाद के सिद्धान्त पर कृष्णोपासना को ही स्थान दिया गया है।

राजस्थान में मधुर भाव से कृष्ण की उपासना की। उनकी कविता में वे स्वयम् राधा रूप से उपस्थित हैं। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त तक राधा-कृष्ण की युगल जोड़ी की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। उनके विषय में जो रचनाएँ की गईं उनसे यह भी स्पष्ट है कि राधा-कृष्ण का सम्बन्ध गोपियों के सम्बन्ध के बाद हुआ जब कि दोनों तरुण हो चुके थे। बाललीला और तरुण कृष्ण की प्रेमलीला में सम्बन्ध अगली शताब्दी में सूरदास ने जोड़ा। यह भी अनुमान किया जा सकता है कि पश्चिम में राधा-कृष्ण का रूप धार्मिक अधिक था। वह भक्ति और उपासना का विषय बनाया गया था। परन्तु पूर्व में उसके काव्यात्मक-अंग अधिक विकसित हुए थे। सम्भव है कि इसका कारण यह हो कि राधा की उपासना पहले भागवत पुराण के आधार पर वृन्दावन में आरम्भ हुई[१६] और वहीं से वह बंगाल तथा अन्य स्थानों में पहुँची। बंगाल में पहुँचते-पहुँचते उसमें उपासना भाव से अधिक काव्य और रस की प्रतिष्ठा हो गई। महाराष्ट्र के व्रज से निकट होने के कारण उसमें उपासना का भाव अधिक रहा।

तत्पश्चात् चैतन्य महाप्रभु और वल्लभाचार्य का जन्म हुआ। ये दोनों अपने पूर्ववर्ती कवियों तथा आचार्यों से प्रभावित हुए। वल्लभाचार्य ने विष्णु-स्वामी से प्रभावित होकर राधा की उपासना की प्रतिष्ठा की। उन्होंने बाल-कृष्ण को अपना उपास्यदेव माना और नवनीतप्रिय के नाम से उनकी स्थापना की। उनके सम्प्रदाय में राधा नवनीतप्रिया हो गई। इस प्रकार कृष्ण की बाललीला एवं तरुण प्रेमलीला के सामंजस्य उत्पन्न करने का अवसर उपस्थित हुआ। सूरदास ने राधा-कृष्ण के प्रसंग पर अपनी कल्पना का प्रकाश डाला और किशोर-किशोरी की प्रथम भेंट से लेकर कुरुक्षेत्र से लौटने पर कृष्ण द्वारा राधा को पत्नी-रूप में स्वीकार करने की कथा तक पूर्ण विकसित जीवन-चरित्र उपस्थित किया। चैतन्य महाप्रभु ने भी अपने सम्प्रदाय में राधा को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। राधा के महाभाव को प्राप्त करना भक्त का सर्वोत्तम लक्ष्य था।

परवर्ती काल में राधा को लेकर भक्तिमार्ग में अनेक दोष आ गये। एक मत-राधा को ही अन्यतम उपास्य मानकर उठ खड़ा हुआ[१७]। बङ्गाल

१६—फर्कहर के मतानुसार ११०० ई० शताब्दी के लगभग।

१७—राधावल्लभी मत।

में शक्ति की पूजा तथा तन्त्रवाद ने राधा की भक्ति को विशेष रूप से कलुषित किया१८। स्वयम् वल्लभ सम्प्रदाय में वल्लभाचार्य की मृत्यु के उपरान्त विट्ठलनाथ ने सम्प्रदाय में राधा को विशेष स्थान दिया और अपने दार्शनिक सिद्धान्तों में भी उसकी प्रतिष्ठा की।

ग—सगुण भक्ति-साहित्य

सगुण मतवाद को मुख्यतः दो पुस्तकों ने प्रभावित किया है। इनमें से पहली भागवत है और दूसरी के स्थान पर हम वाल्मीकि रामायण अथवा अध्यात्म रामायण को रख सकते हैं। अन्य अनेक स्मार्त-ग्रंथों से भी सहायता ली गई है, विशेषकर तुलसी के साहित्य से। परंतु भागवत का प्रभाव किसी भी अन्य पुस्तक से अधिक है, यह बात थोड़े परिश्रम से जानी जा सकती है। भागवत के कृष्ण के समकक्ष ही तुलसी ने राम की प्रतिष्ठा की है एवं अनेक सिद्धान्त भागवत से लिये हैं। यही नहीं, उनका काव्य भी उससे प्रभावित है। अन्तर केवल इतना है कि जहाँ भागवत में माधुर्यभाव की प्रधानता है, वहाँ मानस में दास्यभाव की। इसलिए भागवत की विचारधारा का अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है।

भागवत के भगवान कृष्ण परमेश्वर हैं—

भागवत के भगवान्

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः
अनादिरादि गोविन्दः सर्वकारणकारणम्।

(भागवत)

वे अनादि हैं, सच्चिदानंद हैं, समस्त वस्तुओं की उत्पत्ति, अवस्थिति और प्रलय के कारण हैं। यह मनुष्य की ज्ञानमण्डित सर्वोच्च कल्पना है जिसने भगवान् को सब के आदि में रख दिया है। इस स्थिति में वे लोकोत्तर हैं। यह भगवान कुछ कारणों से अवतार धारण करते हैं। कारण है—

भगवान् के अवतार

स्वलीलाकीर्ति विस्तारात् भक्तेष्वनुजिघृक्षया
अस्य जन्मादि लीलाम् प्राकट्य हेतुरुत्तमः।

(लघु भागवतामृत)

१८—बंगाल में प्रचलित सहजिया वैरागी सम्प्रदाय की धारणाओं से इस बात की पुष्टि होती है। बंगाल में परकीया रूप से राधा की उपासना भी प्रचलित है

भगवान अपनी लीलाकीर्ति की प्रतिष्ठा करने के लिए अथवा भक्त के आनन्द के लिए प्रगट होकर लीलाएँ करते हैं। इनके अतिरिक्त एक कारण और भी है जिसे गीताकार ने इस प्रकार कहा है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

(जब-जब धर्म की हानि होती है और अधर्म का साम्राज्य स्थापित हो जाता है, तब-तब लोकमंगलकारी भगवान धर्म के पुनर्स्थापन के लिए एवं दुष्टों के विनाश के रूप अवतार लेते हैं।)

भगवान के अवतार कितने ही हैं, परन्तु उन्हें सुविधा के लिए तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—

भगवान के अवतारों के रूप

१—स्वयम् रूप—रामकृष्ण (जो तत्त्वतः भगवद्रूप हैं)
२—तदेकात्म रूप जो तत्त्वः भगवद्रूप होकर भी रूप और आकार भिन्न है—मत्स्य, वराह आदि।

३—आवेश रूप जिसमें भगवान महत्तम जीवों में आविष्ट होकर रहते हैं—नारद, शेष, सनक, सनन्दन। इन अनेक रूपों में एकता है—

भगवान के अनेक रूपों में एकता

यथेन्द्रियैः पृथग्द्वारः अर्थो बहुगुणाश्रयः।
एको नानेयते तद्वत भगवान् शास्त्रवर्त्मभिः ॥
(भागवत ३, ६२, ६३)

(जैसे इंद्रियों के प्रथक द्वारों से आकर बहुगुणाश्रित वस्तु एक ही प्रकार की समझ पड़ती है, उसी प्रकार भगवान-विषयक ज्ञान है)

यही नहीं सगुण और निर्गुण ब्रह्म में भी विरोध नहीं है—

सगुण और निर्गुण ब्रह्म

तथापि भूयन् महिमागुणस्यते
विबोद्धुमर्हत्यकलांतरात्मभिः ॥
अविक्रियात्स्वानुभवाद रूपतो,
ह्यनन्य बोधात्मतया न चान्यथा।
गुणात्मनस्तेऽपि गुणान् विमातुं
हितावतीर्णस्य क ईशिरेऽस्य।

कालेन यैर्वा विमिताः सुकल्पै
भूयासवः खे महिकाद्युमासः ॥
(भागवत १०, १४,-६-७)

(हे परिच्छेद-रहित, इस प्रकार आपके सगुण और निर्गुण दोनों रूपों का ज्ञान होना कठिन है और भक्त से ही आप जाने जाते हैं, तो भी निर्मल अंतःकरण वाले जितेन्द्रिय महात्मा पुरुष आत्माकार अंतःकरण से, साक्षात्कारता से निर्विकारता से, अरूपता से, अनन्यबोध से कुछ-कुछ आपकी महिमा को जान सकते हैं। परन्तु और किसी प्रकार से आप जानने में नहीं आते। हे गुणात्मन्, आप गुणों के आधार हो इस विश्व का मंगल करने के लिए आपने इस संसार में अवतार लिया है, सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण इन गुणों के तुम साक्षी हो, आपके इतने गुण हैं जिनके गिनने के लिए कौन पुरुष सामर्थ्यवान हो सकता है। कोई चतुर पुरुष बहुत दिन में बहुत से जन्म धारण करके पृथ्वीरेणु की गिनती कर ले, आकाश के हिमकण की गिनती कर ले और स्वर्ग के नक्षत्रादि के परमाणुओं को भी गिन ले, परंतु आपके गुणों का पार कोई किसी प्रकार नहीं पा सकता।,

वास्तव में निर्गुण और सगुण में कोई भेद नहीं है। भागवत कहती है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं योऽज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥
(१।२।११)

(एक अद्वय ज्ञानतत्त्व ही ब्रह्म, परमात्मा और भगवान तीन प्रकार से कहा गया है। यह विभिन्नता उपासना-भेद के कारण है। ज्ञानी जिसे ब्रह्म-रूप मानता है, वह योगी के लिए परमात्म-रूप और भक्त के लिए भगवद्रूप है।) यही कारण है कि सगुण साहित्य में पग-पग पर सगुण रूप के पीछे निर्गुण सत्ता की प्रतिष्ठा चलती है—

न चान्तर्न वहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम्।
पूर्वापरं वहिश्चांतर्जगतो यो जगच्च यः ॥
तं मत्वाऽऽत्मजमव्यक्त मर्त्यलिङ्गमधोक्षजम् ॥
गोपिकोलूखलो दाम्ना बबन्ध प्राकृतं यथा।
(१०।६।१३-१४)

(जिसका भीतर-बाहर नहीं है, पूर्व-पश्चात् नहीं है, इतने पर भी स्वयं ही जगत् के भीतर भी है और बाहर भी, तथा आदि में भी है और अंत में

भी है, यहाँ तक जो स्वयं जगत् रूप में भी विराजमान है, जो अतीन्द्रिय और अव्यक्त है—भगवान के मनुष्याकार धारण करने से उसे अपना पुत्र मानकर यशोदा ने प्राकृत बालक की तरह रस्सी से ऊखल में बाँध रखा है।)

भगवान की प्राप्ति का साधन

भगवान को प्राप्त करने का साधन भक्ति है। यद्यपि भगवान की भक्ति भगवत्कृपा का ही फल है, परंतु साधक भक्त को भी किसी न किसी रूप में थोड़ा बहुत भगवान की ओर अग्रसर होना पड़ता है। इसके लिए प्रत्येक सम्प्रदाय में अनेक विधि-निषेध निर्धारित किए गए हैं और पूजा-आराधना की प्रतिष्ठा हुई है।

भक्ति दो प्रकार की है—रागानुगा और वैधी। रागानुगा भक्ति में तन्मयता को अधिक स्थान मिला है। वह 'एकांतिक' भक्ति है जो इष्टदेव के सिवा और किसी कर्तव्य-अकर्तव्य को नहीं देखती। वह 'विषयासक्ति' का ही रूप है जो भगवान की ओर उन्मुख होता है। सांसारिक नाशवान वस्तुओं के प्रति जो विषयासक्ति होती है, वह जड़ोन्मुख है। ईश्वरोन्मुख या भगवद्विषयक होने पर यही विषयासक्ति रागानुगा भक्ति हो जाती है। वैधी भक्ति में भक्त की कर्तव्यबुद्धि सदैव जागृत रहती है और वह अंत तक विधि-नियमों का पालन करता जाता है। परंतु यह नहीं कि रागानुगा-भक्ति में कुछ विशेष विधि-निषेध हो ही नहीं। जब तक भक्त तन्मयता की अवस्था को नहीं पहुँच जाय तब तक यह बन्धन तो हैं ही। निषेध ये हैं—

१—हरि-विमुख लोगों का संग,

२—शिष्य, संगी भृत्य आदि के द्वारा किया गया अनुबंध,

३—महारंभ का उद्यम,

४—नाना ग्रंथ, कलाओं और वाद्यों का अभ्यास,

५—कृपणता,

६—शोकादि से वशीभूत होना

७—अन्य देवता के प्रति अवज्ञा

८—जीवों को उद्विग्न करना

९—सेवापराध अर्थात् यत्न का अभाव, अवज्ञा, अपवित्रता, निष्ठा का अभाव, और गर्व,

१०—नामापराध अर्थात् साधु-निन्दा, शिव और विष्णु का पृथकत्व चिन्तन, गुरु-अवज्ञा, वेदादि निंदा, नाममहात्म्य के प्रति अनास्था, हरिनाम की नाना-विधि अर्थ कल्पना, नाम-जप और अन्य शुभ कर्मों की तुलना करना, अश्रद्धालु को नामोपदेश, नाम के प्रति अप्रीति।

वैध भक्त की तीन अवस्थाएँ होती हैं—श्रद्धावान, नैष्ठिक और रुचि-युक्त। ये लोग दो मूल तत्त्व और पाँच अंगों को स्वीकार करते हैं। दो मूल तत्त्व हैं—(१) भगवान ही एकमात्र जीवों को स्मर्तव्य है, और जो उसके सुमिरन में सहायक हैं वे ही कर्म भक्त के कर्तव्य हैं, चाहे वह कुछ भी क्यों न हो। (२) भगवान को भूल जाना अमंगल है और इस अमंगल के सहायक सभी कार्य त्याज्य हैं। पाँच अङ्ग इस प्रकार हैं—(१) भगवान के विग्रह (मूर्तियाँ) की सेवा, (२) कथा-सत्संग, (३) साधु-सङ्ग, (४) नाम-कीर्तन और (५) ब्रजवास।

भक्ति के प्रकार

नारद भक्तिसूत्र में भक्ति के ग्यारह प्रकार कहे गये हैं--ॐ महात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कांतासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयतासक्ति, परम विरहासक्ति, रूपाएकधाप्येकादशधा भवति। परंतु इनमें पाँच मुख्य हैं—शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य, और मधुर ये पाँचों भगवद् प्रेम की पूर्ण अवस्थाएँ हैं। यह प्रेम इस क्रम से उदय होता है—(१) श्रद्धा, (२) साधुसंग, (३) भजन, क्रिया, (४) अनर्थ निवृत्ति, (५) निष्ठा, (६) रुचि, (७) आसक्ति, (८) भाव, (९) प्रेम।

भक्ति काव्य में रस

अलंकारिकों के रस भक्तों के रस से भिन्न हैं। जैसा हम पहले कह चुके हैं आलम्बन-भेद के कारण अलंकारिकों के रस जड़ोन्मुख हैं और भक्तों के रस ईश्वरोन्मुख भक्त-काव्य में अलंकारिकों के केवल दो रसों का प्रयोग हुआ है—शांत रस और शृंगार (मधुर) रस। यही प्रधान रस हैं। अन्य रस अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक) गौण रस कहे जाते हैं। उनसे भगवत् प्रेम के उद्घाटन में सहायता ली जाती है। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य नवीन रसों का प्रयोग भी भक्ति-काव्य में हुआ है जिनके स्थायी भाव और रति-भाव नीचे की तालिका में दिये जाते हैं :

(स्थाई भाव)	(रति भाव)
दास्य	प्रीति
सख्य	प्रेम
वात्सल्य	अनुकम्पा

परन्तु यदि भक्ति-काव्य का भली भांति अध्ययन करें तो यह स्पष्ट है कि उसे भक्तों ने भगवान की लौकिक लीलाओं को अपने काव्य का आधार बना कर लौकिक रसों से भी पुष्ट किया है। उदाहरण के लिए, सूरदास के बाल-कृष्ण-सम्बन्धी प्रसंगों में अनुकम्पा रति के साथ साथ वात्सल्य रति भी है। जहाँ कवि एक ओर यशोदा के आनन्द को चित्रित करता है वहाँ उसी स्थान पर दूसरी ओर अपने लिए अनुकम्पा की याचना करता है।

मध्य-युग के हिन्दी साहित्य के विषय में दो बातों का ध्यान रखना होगा। १—यह साहित्य भिन्न-भिन्न धार्मिक सम्प्रदायों में रचा गया, इसलिए इस पर विभिन्न धर्म, वादों और सम्प्रदायों की छाप है एवं इसके द्वारा साहित्यिक साधना नहीं, वरन् धार्मिक साधना का रूप हमारे सामने आता है। २—मध्य युग का भक्ति आन्दोलन एक विराट जन-आन्दोलन था, इसलिए उसमें जन-भावनाएँ ही अधिक अभिव्यक्त हुई हैं। निर्गुण सम्प्रदाय के भक्तों के साहित्य में शास्त्रीय ढंग का काव्य बहुत कम है, सगुण सम्प्रदायों में संस्कृत स्मार्त धर्म-ग्रन्थों और काव्य-ग्रंथों के प्रभाव के कारण वह शास्त्रीयता से भी पुष्ट हो सका है, परन्तु उसका मूल भी जन साहित्य में है।

३—राम काव्य-धारा

रामोपासना का प्रचार कदाचित् अत्यन्त प्राचीन काल से व्यापक रूप में चला आ रहा है। मध्ययुग से पहले उसमें सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा भले ही नहीं हो, परन्तु ऐतिहासिक खोजों से यह पता चलता है कि

रामावत सम्प्रदाय शताब्दियों पहले भारत की धर्म-भावना और चिन्तन-धारा राम को लेकर ही चलती थी। वैष्णव भक्ति में रामभक्ति कृष्ण-भक्ति से प्राचीन है।

राम पूर्वतापनीय और उत्तर तापनीय उपनिषदों में इसी रामोपासना का प्राचीनतम रूप मिलता है महाभारत (वनपर्व) और पुराणों[१९] में भी यही बात मिलती है

१९—१८ पुराणों में से प्रत्येक में रामायण की कथा है और कुछ उपपुराणों में भी इस प्रकार की कथा है।

अगस्त्य-सुतीक्ष्ण संवाद संहिता भी राम-सम्बंधी प्राचीन ग्रंथ है। राम को लेकर जितना साहित्य लिखा गया है उसका दशमांश भी कृष्ण को लेकर नहीं, इससे रामोपासना की व्यापकता और प्राचीनता का पता चलता है। वाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण२० (शिव पार्वती-सम्वाद), सम्वृत्त रामायण (नारद), अगस्त्य रामायण (अगस्त्य), लोमश रामायण (लोमश ऋषि), मञ्जुल रामायण (सुतीक्ष्ण ऋषि), सौम्य रामायण (अत्री ऋषि), रामायण महामाला (शिव-पार्वती-सम्वाद), सौहार्द्र रामायण (शरभङ्ग ऋषि), रामायण मणिरत्न (वशिष्ठ-अरुन्धति-सम्वाद), सौर्य रामायण (हनुमान-चन्द्रमा-सम्वाद), चांद्र रामायण (वही), मैन्द्र रामायण (मैन्द्र कौरव-सम्वाद), स्वायम्भुव रामायण (ब्रह्मा-नारद-संवाद) सुब्रह्म रामायण, सुवर्चस रामायण (सुग्रीव-तारा-संवाद) देव रामायण (इन्द्र जयंत-संवाद), श्रवण रामायण (इन्द्र-जनक-संवाद), दुरन्त रामायण (वशिष्ठ-जनक-संवाद) और रामायण चम्पू (शिव-नारद-संवाद)—यह विशाल साहित्य प्राचीन संस्कृत साहित्य का वह अंश है जो राम-भक्ति और रामोपासना से प्रभावित होकर लिखा गया है। इन रामायणों में से अधिकांश के राम विष्णु के अवतार हैं। अध्यात्म रामायण और योगवाशिष्ठ महारामायण अद्वैतवादी ग्रन्थ हैं। उपनिषदों और रामायण के राम परात्पर ब्रह्म हैं।

मध्ययुग में रामावत उपासना को रामानन्द ने विशेष बल दिया। उनसे पहले रामानुजाचार्य भी रामोपासक हो गए थे परन्तु वह ज्ञान कर्म-समुच्चयवादी विशिष्टाद्वैत उपासना को प्राधान्य देते थे। वे राम को विष्णु और नारायण का अवतार मानते थे। रामानन्द ने राम की उपासना परब्रह्म के रूप में चलाई, वे भी विशिष्टाद्वैतवादी थे, परतु वे अपने मत का प्रतिपादन नए ढङ्ग से करते थे। रामानन्द के समकालीन नामदेव और त्रिलोचन ने महाराष्ट्र में रामोपासना का प्रचार किया, उत्तर भारत में सदन और वेनी ने भी इसी प्रकार का काम किया।

रामानन्द की अधिकांश शिक्षा मौखिक जान पड़ती है, अतः उनके शिष्यों के मतों से हम उनका मत निकाल सकते हैं। रामानन्द सगुण राम के उपासक थे परन्तु राम को विष्णु का अवतार न मान कर परात्पर ब्रह्म का अवतार मान लेने से उनके राम में निर्गुण ब्रह्म का भी कुछ अंश आ जाता था। रामानन्द ने कोई सम्प्रदाय विशेष खड़ा नहीं किया परन्तु उनकी सहिष्णुता के कारण

२०—यह ब्रह्मांड पुराण की कथा है

उनकी रामोपासना-रीति स्मार्तों में बिना सम्प्रदाय-भेद के फैली। रामानन्द के बाद, युग की विशेष परिस्थितियों के कारण, उनके निर्गुणी शिष्यों ने राम के नये ही अर्थ किए और अवतारवाद पर चोट की। कबीर ने कहा—

दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना।
राम नाम का मरम है आना॥

परब्रह्म के रूप में राम निर्गुणियों को अवश्य मान्य थे, परन्तु अवतार के रूप में अमान्य थे। उन्होंने रामनाम और सत्यनाम को एक कहा और रामलोक के स्थान पर सत्यलोक की प्रतिष्ठा की। निर्गुणियों में कई पन्थ इसी निर्गुण परब्रह्म राम को मानते हैं। राम के विषय में यह धारणा समाज के नीचे वर्णों में फैली। उच्चवर्णों में सगुण विष्णु के अवतार राम की उपासना चलती रही। तुलसीदास ने रामचरितमानस के द्वारा सगुण रामोपासना को महत्व दिया और यह ग्रन्थ इतना लोकप्रिय हुआ कि उसके द्वारा सारे उत्तर भारत मध्यभारत और कुछ दक्षिण (महाराष्ट्र) में भी रामोपासना का प्रचार हो गया। निर्गुण सन्तों की राम-विषयक धारणा पर भी राम का प्रभाव पड़ा और राम की सगुण भावना को भी स्थान मिलने लगा।

राम-काव्य

राम-काव्य का संबन्ध मुख्यतः पूर्वी प्रदेश से है। पूर्वी प्रदेश के समस्त आन्दोलनों में धार्मिक सुधार के मूल में समाज-सुधार की भावना सन्निहित रहती थी और वे लोकसंग्रह को ध्यान में रखकर चलते थे। तुलसी का काव्य इन आन्दोलनों का उत्तराधिकारी है।

हम देख चुके हैं कि मध्ययुग में इस प्रदेश में रामभक्ति की प्रतिष्ठा रामानन्द ने की थी, परन्तु शीघ्र ही उनके सगुण राम को सन्तों ने निर्गुण राम का रूप दे दिया और साहित्य में यही रूप अधिक दृष्टिगोचर हुआ। परन्तु सगुण रामचरित्र की महत्ता बराबर स्थापित रही, भले ही साहित्य में उसके चित्र न मिलते हों।

रामचरित्र को हिन्दी में उपस्थित करनेवाला सबसे प्रथम कवि भूपति है। यह रामकथा[२१] दोहा-चौपाई में ही है और १२८५ ई० में लिखी गई है, इनके बाद सं० १६४२ (१५८५) में मुनीलाल ने भी रामकथा पर एक रचना उपस्थित की। इस कवि ने रामकथा को रीतिशास्त्र के

२१—खोज रिपोर्ट १९०६, १९०७, १९०८ (रामचरित रामायण)

अनुसार लिखा। संभव है अन्य अनेक ग्रंथ भी रामकथा पर लिखे गए हों। तुलसीदास की रामायण में इस प्रकार का संकेत मिलता है। यह स्पष्ट है कि तुलसी पहले राम कवि नहीं थे, वे एक परम्परा की महत्त्वपूर्ण कड़ी थे।

राम-काव्य के सर्वश्रेष्ठ कवि गोस्वामी तुलसीदास हैं जिन्होंने १५७४ ई० में रामकथा (रामचरितमानस) को प्रकाशित किया। विष्णु के एक अवतार के रूप में राम की उपासना बहुत प्राचीन काल से चली आती थी। समय-समय पर अनेक रामभक्ति ग्रन्थ लिखे गये जिनमें अनेक प्रकार से रामकथा कही गई। इन्होंने रामभक्ति को उत्तेजना दी और राम के अवतारी सगुण रूप की महत्ता को स्थिर रखा। परन्तु ये सब ग्रन्थ जो रामायणों के नाम से प्रसिद्ध थे संस्कृत में थे और मध्ययुग तक आते-आते वे केवल पंडितों के अध्ययन अध्यापन की वस्तु रह गये थे। साधारण जनता की धार्मिक भावना उनके आश्रय पर नहीं चल रही थी। यह आवश्यकता थी कि तत्कालीन भाषा में ही रामकथा कही जाय जिससे उसकी पहुँच साधारण जनता तक हो और शताब्दियों से बहता हुआ रामभक्ति का स्रोत सूख न जाय। तुलसी ने इस आवश्यकता को समझा और उस समय की हिन्दी की बोलियों में से राम के जन्मस्थान अवध की ही बोली अवधी को चुना। उनके ग्रन्थ को लोकप्रियता मिली और रामभक्ति का रस स्रोत और भी तीव्र गति से बहने लगा। रामानन्द ने राम के सगुण रूप को ही चिन्त्य और उपास्य माना परन्तु उनके शिष्यों, विशेषतः कबीर ने राम के निर्गुण रूप का प्रचार किया। यह परंपरा के विरुद्ध था और इसने राम की सगुणोपासना को धक्का पहुँचाया। यदि गोस्वामी जी ने राम के सगुण रूप की पुनःस्थापना न की होती तो आज तीन सौ वर्ष बाद कदाचित् धर्मक्षेत्र से रामभक्ति का लोप हो गया होता। गोस्वामीजी ने निर्गुणियों का विरोध किया परन्तु निर्गुण सन्तों ने राम के स्थान पर नाम की महत्ता की स्थापना कर दी थी, उसे तुलसी ने अपनी राम-भक्ति में स्थान दिया। उन्होंने नाम और रूप दोनों को ईश्वर की उपाधि कहा और उसे इन दोनों से परे बतलाया। दार्शनिक परिभाषा की दृष्टि से गोस्वामीजी के राम परब्रह्म हैं, जिस प्रकार सूरदास के कृष्ण परब्रह्म हैं परन्तु तुलसी ने उनमें और दाशरथि राम में भेद नहीं किया है। तुलसी की इस नई योजना ने निर्गुण सन्तों की रामभावना को आत्मसात कर जनभाषा को अपनी रामकथा का माध्यम बना कर सगुण रामभक्ति का उद्धार किया।

भक्ति के क्षेत्र में तुलसी की महत्ता यह है कि उन्होंने योगमत, संतमत और सूफ़ीमत की उपेक्षा की और भक्ति के अन्य वेद-विहित मार्गों में सामंजस्य बिठाने की चेष्टा की। उन्होंने रामचरितमानस में राम और शिव का अनन्य सम्बन्ध दिखा कर अपने समय के उत्तर भारत के वैष्णवों के विरोध-भाव को दूर करने की चेष्टा की। उनके समय में कृष्ण-भक्ति की प्रधानता थी और अनेक कृष्ण-भक्ति सम्प्रदाय स्थापित हो चुके थे। गोस्वामीजी ने कृष्णोपासना को भी स्वीकार किया और कृष्ण-चरित्र पर एक कृष्ण-गीतावली ही लिख डाली। इन अवतारों के अतिरिक्त विनयपत्रिका में हम उन्हें पंचदेवोपासक के रूप में भी पाते हैं। सच तो यह है कि गोस्वामीजी ने अपने समय के सभी देवी-देवताओं को स्वीकार कर लिया परन्तु उन्हें रामभक्ति तक पहुँचने तक की एक सीढ़ी ही माना। उनकी इसी सहिष्णुता के कारण उनके अन्य सभी सम्प्रदायों को मान्य हुए। इस प्रकार हम देखते हैं कि मध्ययुग के धर्मक्षेत्र में तुलसी ने क्रान्ति ही उपस्थित कर दी। उन्होंने भक्ति की स्थापना की और उसे ऐसे सरल रूप में रखा कि वह सर्वसाधारण को सुलभ हो गई।

परन्तु गोस्वामीजी की भक्ति-भावना कृष्ण कवियों की भक्ति के समान लोक-पक्ष की अवहेलना नहीं करती थी। उनकी रामभक्ति में नैतिक आदर्शों की प्रधानता थी। मध्य युग का लोक-जीवन कितना पतित हो गया था, यह गोस्वामीजी के कलिकाल के वर्णनों से स्पष्ट है। लोक-जीवन की इस पतित अवस्था के सम्मुख तुलसी ने रामचरितमानस के पात्रों का आदर्श रखा। वाल्मीकि रामायण और अध्यात्म रामायण की तुलना करने से स्पष्ट हो जाता है कि तुलसी ने अपने चरित्रों का आदश बनाने के लिए कहाँ और कितना प्रयत्न किया है। गोस्वामीजी के काव्य में आदर्श कुटुम्ब, आदर्श समाज और आदर्श राज्य (रामराज्य) के अत्यन्त सुन्दर चित्र हैं। इनके द्वारा गोस्वामीजी समाज-सुधारक और लोकचिंतक के रूप में हमारे सामने आते हैं। जिस ज्ञान-कर्म-समन्वित भक्ति की प्रतिष्ठा उन्होंने मानस द्वारा की, वह भी इसी लिए की कि उनके सामने थोड़े बहुत विरक्त और संन्यासी ही नहीं थे परन्तु एक बड़ा गृहस्थ जन-समुदाय था जिसके हित के लिए भक्ति का असंयमित और उच्छृंखल न होना ही वांछनीय था।

साहित्य की दृष्टि से भी गोस्वामीजी का काव्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सच तो यह है कि वह हमारा सर्वश्रेष्ठ काव्य है। तुलसी-साहित्य में अनेक

ग्रन्थ हैं जिनमें से कुछ प्रबन्ध-काव्य हैं और कुछ मुक्तक। प्रबन्ध-काव्यों में उन्होंने रामकथा को अनेक रूपों में सजा कर रखा है। जानकीमंगल, पार्वतीमंगल, और नहछू खंडात्मक प्रबन्ध-काव्य हैं। उनमें कथा का कोई एक विशेष प्रसंग ले लिया गया है। रामचरितमानस महाकाव्यात्मक प्रबन्ध है। इस प्रबन्ध का रचना-कौशल तुलसी की प्रबन्ध-पटुता को अत्यन्त उत्कृष्ट रूप में हमारे सामने रखता है। उसमें कथा, वस्तु-वर्णन, व्यापार-वर्णन, मनोवैज्ञानिक भावव्यंजना और संवाद का ऐसा उचित समीकरण है कि हमें तुलसी की प्रतिभा पर आश्चर्य होता है। उन्होंने अपने वर्णनों में अत्यन्त संयम से काम लिया है और वे कथा में किसी प्रकार बाधा नहीं डालते। यही बात प्रबन्ध के अन्य आलम्बनों के सम्बन्ध में कही जा सकती है। उनकी कथा अत्यन्त प्रवाहशील है और जहाँ कोई मार्मिक प्रसंग नहीं है, वहाँ गोस्वामीजी दो चार चौपाइयों में एक घटना से दूसरी घटना की ओर और एक प्रसंग से दूसरे प्रसंग की ओर बढ़ जाते हैं। उन्होंने मार्मिक प्रसंगों को पहचाना है और अपनी लेखनी की गति शिथिल कर उन्हें विस्तार दिया है।

रामचरितमानस काव्यशास्त्र की दृष्टि से अत्यन्त सफल ग्रन्थ है। छन्द की विभिन्नता और प्रसंगों के अनुकूल उनका चुनाव, रसोद्रेक में सफलता और प्रत्येक रस का सुन्दर निर्वाह, प्रसंगानुसार गुणों के सब भेदों का प्रयोग और अलंकार विधान की नवीनता और शास्त्रानुकूलता गोस्वामीजी को काव्यशास्त्र का पंडित सिद्ध करने के लिए काफ़ी प्रमाण हैं। परन्तु उनकी महत्ता तब और अधिक हो जाती है जब हम देखते हैं कि उन्होंने काव्य-शास्त्र के इन अंगों के साथ लोकपक्ष का भी ध्यान रखा है। इसी से उनकी शृंगार-योजना मर्यादा के भीतर हुई है और अप्रस्तुत विधान के लिए उन्होंने नीति और धर्म के क्षेत्रों से सामग्री चुनी है।

गोस्वामीजी की एक विशेषता उनकी भाषा है। साधारणतः उन्होंने अपनी भाषा को संस्कृत तत्सम शब्दों से पुष्ट किया है, परन्तु वे रसानुकूल और पात्रानुकूल भाषा लिखने का सदा ध्यान रखते हैं। स्त्री-पात्रों के संवादों में उन्होंने ठेठ भाषा का सुन्दर प्रयोग किया है और इस स्थल पर हम यह भी देख सकते हैं कि उनकी भाषा पात्रों की सामाजिक स्थिति ही नहीं, उनके मनस्तत्त्व को भी आधार बनाकर चलती है।

रामचरितमानस के बाद तुलसी का सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ विनयपत्रिका है, जिसमें तुलसी की प्रौढ़ावस्था के अध्यात्म जगत का सुन्दर चित्र मिलता है। अनुभूति की तीव्रता, अभिव्यंजना की प्रौढ़ता और गीतात्मकता की दृष्टि से विनयपत्रिका रामचरितमानस से भी उच्च स्थान रखती है। संसार के धर्म-साहित्य में उसकी जोड़ का ग्रन्थ मिलना कठिन है।

इन दो ग्रन्थों के अतिरिक्त तुलसी के जो अन्य ग्यारह प्रामाणिक ग्रन्थ हैं उनमें भी कवि की अनेकांगी प्रतिभा के दर्शन होते हैं। उनमें नहछू और वैराग्य संदीपिनी प्रारम्भिक रचनाएँ होने के कारण अत्यन्त प्रौढ़ नहीं हैं। कवितावली और बाहुक में हमें गोस्वामीजी के अन्तिम काल की रचनाएँ मिल जाती हैं जिनसे यह स्पष्ट है कि मृत्यु-शैया तक उनकी कवित्व शक्ति में किसी प्रकार का शैथिल्य नहीं आया। जैसा हम अभी लिख चुके हैं, जानकी-मंगल और पार्वतीमंगल खंड-काव्य हैं और उनका विषय क्रमशः रामविवाह और शिवविवाह हैं। नहछू, जानकीमंगल, पार्वतीमंगल और मानस के कुछ स्थल गोस्वामीजी के वाह्य जगत के अध्ययन, विशेषकर लोकाचारों के अध्ययन, पर प्रकाश डालते हैं। नहछू और बरवै में उन्होंने अपनी सौन्दर्यवृत्ति और कला-प्रियता का परिचय दिया है। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त सतसई और दोहावली में भी गोस्वामीजी की रामभक्ति और काव्य-कला के दर्शन होते हैं। कहीं-कहीं इस काव्य-कला ने चमत्कार का रूप धारण कर लिया है परन्तु ऐसा बहुत कम हो पाया है। गोस्वामीजी के दो अन्य ग्रन्थों गीतावली और कृष्ण-गीतावली पर सूरदास का प्रभाव लक्षित है, विशेषकर बाल-वर्णन में, परन्तु यहाँ भी वे नवीन उद्भावनाएँ उपस्थित करने से नहीं चूकते।

हिन्दी साहित्य में कोई ऐसा कवि नहीं है, जिसने दो भाषाओं (अवधी और ब्रजभाषा) का इतना सुन्दर प्रयोग किया हो और अपने समय की सभी शैलियों (छप्पय, गीति या पद, कवित्त या सवैया, दोहा, चौपाई) में रचना की हो। फिर रसनिरूपण, चरित्र-चित्रण, घटना-संघटन, प्रबंधात्मकता और गीतात्मकता को काव्य-कला से पुष्ट करते हुए लोकपक्ष का ध्यान रखना और सफलतापूर्वक एक नया धर्म-सन्देश देना तो बहुत दूर की बात है।

अग्रदास (आ० का० १५७५)

यह अष्टछाप के श्री कृष्णदास पयहारी के शिष्य थे। इन्होंने पाँच ग्रन्थ लिखे जिनमें से दो 'हितोपदेश उपाख्यान बावनी' (कुंडलिया

रामायण) और 'ध्यानमंजरी' प्रसिद्ध हैं कुंडलिया रामायण अधिक प्रसिद्ध है परन्तु यह नाम भ्रमात्मक है, क्योंकि कुंडलियों का विषय रामचरित्र नहीं, केवल नीति है। यह रामभक्त थे। ध्यानमंजरी में राम, लक्ष्मण भरत, शत्रुघ्न, सरयू और अयोध्या के सौंदर्य का 'ध्यान' वर्णन किया गया है।

नाभादास (आ० का० १६००)

अग्रदास के शिष्य नारायनदास (डोम) ही इस नाम से प्रसिद्ध हैं। ये रामभक्त थे और रामभक्ति के संबंध में इनके बहुत से पद मिलते हैं। परन्तु नाभादास की प्रसिद्धि का मुख्य कारण भक्तमाल है जिसमें छप्पय छन्द में लगभग २०० भक्तों का परिचय दिया गया है। मध्ययुग में अवतारों आदि की भक्ति के साथ भक्तों की भक्ति भी प्रचलित होने लगी थी। नाभादास के भक्तमाल और ८४ तथा २५२ वार्ताओं ने इस दिशा में महत्त्वपूर्ण काम किया। नाभादास के भक्तमाल पर बहुत-सी टीकाएँ और उपटीकाएँ लिखी गईं जो इसी प्रवृत्ति की द्योतक हैं।

प्राणचंद चौहान (१६१० के लगभग)

इन्होंने संवाद (कथनोपकथन) के रूप में रामकथा की रचना की और उसका नाम रामायण महानाटक रखा।

हृदयराम

सन् १५५६ में इन्होंने संस्कृत के हनुमन्नाटक के आधार पर इसी नाम से एक रचना कवित्त और सवैयों में की।

लालदास (१६४३)

इन्होंने रामचरित पर 'अवध विलास' नाम का एक ग्रन्थ लिखा।

राम-काव्य की चर्चा करते हुए हम रामचंद्रिका के कवि केशवदास को नहीं भूल सकते जो तुलसीदास के समकालीन थे। रामचरितमानस के बाद हिंदी राम-काव्य का सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ रामचंद्रिका ही है, परन्तु केशवदास भक्त-कवियों की श्रेणी में नहीं आते। इसीलिए हमने उन्हें उनके प्रकृत स्थान "रीतिकाव्य" में रखा है। रामचंद्रिका में वाल्मीकि की रामकथा को ही उपस्थित किया गया है, परन्तु भक्तिरसपूर्ण, मनोवैज्ञानिक अथवा घटना-विस्तार को चित्रित करनेवाले स्थल छोड़ दिये गये हैं। कवि ने प्रसन्नराघव और हनुमन्नाटक का सहारा लेकर कुछ परिवर्तन कथासूत्र में भी

कर दिये हैं। परन्तु, जो हो, कवि की दृष्टि अनेक छंद उपस्थित करने, राम के राज के ऐश्वर्य को दिखाने, अलंकारनिरूपण द्वारा पांडित्य प्रदर्शित करने और कथा में शृङ्गाररस का पुट भरने की ओर ही अधिक है। रामचन्द्रिका किसी भी प्रकार भक्ति-ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता, यद्यपि रामकाव्य में उसका महत्वपूर्ण स्थान होगा।

ई—कृष्ण-काव्य-धारा

(१५००—)

राम-काव्य की तरह कृष्ण-काव्य की परम्परा भी चली आती थी। राम में देवत्व की स्थापना कृष्ण में उसी तरह की भावना की स्थापना के साथ ही हुई थी परन्तु वाल्मीकि के राम इतने शीघ्र लोकप्रिय नहीं हुए जितने शीघ्र कृष्ण। श्रीमद्भागवत की रचना ने कृष्ण-भक्ति को एक ऐसा आकर्षक रूप दिया कि शीघ्र ही इसके साहित्य की परम्परा चल पड़ी। १२वीं शताब्दी में जयदेव ने गीतगोविन्द लिखा और फिर उससे प्रभावित होकर विपसी के मैथिल पं० विद्यापति ठाकुर ने १५वीं शताब्दी के मध्य में पदों की रचना की। उनके समकालीन उमापति ने भी कृष्ण-साहित्य का निर्माण किया। उनका रुक्मिणी-परिणय नाटक प्रसिद्ध है। ये कवि राजाश्रय में रहते थे। इसलिए इनका काव्य भक्ति की भित्ति पर खड़ा होते हुए भी लौकिक प्रेम-गीतों और राजाश्रय के वातावरण से ही अधिक प्रभावित दिखलाई पड़ता है। बंगाल में यह धारा १४वीं शताब्दी के आरम्भ में ही दीख पड़ती है यद्यपि चण्डीदास के आविर्भाव के समय तक इसने विशेष बल प्राप्त नहीं किया।

हिन्दी में कृष्ण-विषयक सबसे प्रथम पद रचना गुजराती कवि नरसिंह मेहता (१४५०—१४८०) की मिलती कही जाती है। फिर मीरा का नाम आता है। मीरा के कृष्ण कुछ उसी तरह के सगुण ब्रह्म थे जैसे तुलसी के राम अथवा दूसरे शब्दों में भक्ति का निरूपण करते हुए मीरा ने निर्गुण परब्रह्म का ही सगुण ढंग से ध्यान और गुणगान किया। उन पर सूफी धर्म की हाल आदि परिस्थितियों और प्रेममार्गी संतों का भी प्रभाव पड़ा है। संतों के पारिभाषिक शब्द उन्होंने नये संदर्भ में प्रयुक्त किये हैं। मीरा का अधिक काव्य तो राजस्थानी में ही लिखा गया होगा परन्तु गेय होने के कारण हमें ब्रजभाषा और गुजराती रूपों में भी प्राप्त है। मौखिक प्रणाली

ने इसमें भाषा-विषयक परिवर्तन कर दिये और आज मीरा के पद हिंदवी, व्रज, गुजराती और राजस्थानी (पंजाबी का पुट लिये) में पाये जाते हैं। यह भी संभव है कि उस काल की भाषा का रूप ही अनिश्चित हो।

भाषा को साहित्यिक महत्ता उस समय से मिली जब वल्लभाचार्य ने गोवर्धन में कृष्णमूर्ति की स्थापना की और उसे केन्द्र बना कर पुष्टिमार्ग का प्रचार आरम्भ किया। यह १५०० के लगभग की बात है। उन्होंने स्वयं तो हिंदी में कुछ नहीं लिखा, परंतु उनके शिष्यों ने हिन्दी में पद-रचना की। फिर भी हमारे साहित्य में एक विशेष परिस्थिति उत्पन्न करने और उसे एक नई भाषा देने का श्रेय श्री वल्लभाचार्य को ही है। उनकी मृत्यु (१५३१) के पश्चात् उनके पुत्र श्री विट्ठलनाथ ने उनका स्थान ग्रहण किया। ये स्वयम् ब्रजभाषा में रचना करते थे परन्तु इनका अधिक महत्त्व उस अष्टछाप के कारण है जिसके ये जन्मदाता थे। अपने पिता के चार कवि-शिष्य सूरदास, कृष्णदास, परमानन्ददास, कुम्भनदास और अपने चार कवि-शिष्य चतुर्भुजदास, छीतस्वामी, नन्ददास, गोविन्ददास को लेकर इन्होंने उन्हें एक नाम दिया और इस प्रकार एक नई संगठित काव्य-धारा का सूत्रपात किया। इन कवियों की कविता इतनी उच्च कोटि की थी कि न केवल बाद का सारा कृष्ण-काव्य ही उनकी भाषा में लिखा गया, वरन् उनकी भाषा ३५० वर्ष तक सारे हिन्दी प्रदेश की काव्य-भाषा बनी रही।

इन अष्टछाप के कवियों में सर्वश्रेष्ठ सूरदास हैं। इनके बाद नन्ददास का नाम आता है। अन्य कवियों में कृष्णदास ही कुछ विशेष प्रतिभाशाली दिखलाई देते हैं। सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य के इतिहास में इस तरह की कवि-मंडली नहीं मिलेगी जिसमें कवि विशेष सिद्धांतों के लेकर एक निर्दिष्ट दिशा में बढ़ रहा है। ऊपर के तीन कवियों की सर्वोत्कृष्ट रचनाएँ क्रमशः सूरसागर, रासपंचाध्यायी और प्रेमतत्व-निरूपण हैं। यह सब पदों में हैं। इनके काव्य में उच्चकोटि की गीतात्मकता है परन्तु पिछली काव्य-धाराओं से विशेषता यह है कि इनमें साहित्यिकता और कलापक्ष की प्रधानता है।

भावना की विभिन्नता के विचार से कृष्ण-साहित्य कई वर्गों में विभाजित हो सकता है—

(१) बालक रूप में कृष्ण की भक्ति (वात्सल्य)। इसके प्रतिनिधि कवि सूर हैं।

(२) राधा-कृष्ण की युगल जोड़ी के क्रियाकलाप का वर्णन। इसमें गोपियों की क्रीड़ा आदि को भागवत के अनुसार रूपक रूप में लेकर आत्मा-परमात्मा के प्रेम को चरितार्थ करने की भावना छिपी हुई है यद्यपि यह शृंगार की भावना से जो मुग़लकालीन विलासिता के फलस्वरूप साहित्य में प्रवेश कर गई थी, बहुत दब गई है। भक्त राधा-कृष्ण की शृंगार-क्रियाओं को देखकर आनन्द लेता जान पड़ता है। इस तरह की भावना लगभग सभी कृष्ण-कवियों में मिलती है।

(३) कृष्ण के प्रति सख्य भाव। चैतन्य सम्प्रदाय के कवि इसी भावना को लेकर आगे बढ़े हैं।

(४) राधा को प्रधान मानकर भक्ति करना। हितहरिवंश के साहित्य में इसी प्रकार की भावना रहती है।

(५) अपने को राधा के स्थान पर रख कर कृष्ण के प्रति माधुर्य भाव की उपासना। मीरा की उपासना इसी प्रकार की है।

कृष्ण को सगुण रूप में मानते हुए भी कुछ कवियों की प्रवृत्ति निर्गुण की ओर है। मीरा के काव्य में दोनों प्रकार की उपासना का मेल दिखलाई पड़ता है। सूर जहाँ एक ओर भ्रमरगीत में निर्गुण-मत-पोषक उद्धव को फटकारते हैं वहाँ सगुण ब्रह्म के पीछे की निर्गुण (सगुण-निर्गुण के परे अथवा पारब्रह्म) सत्ता की ओर संकेत करते चलते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि कृष्ण-काव्य की नींव सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में पड़ी। शताब्दी के अन्त तक पहुँचते-पहुँचते इसमें पर्याप्त विकास हुआ, कई दृष्टिकोण मिलने लगे और इनकी विभिन्नता के कारण कई सम्प्रदाय हो गये। प्रत्येक सम्प्रदाय में कवि हुए और सम्प्रदाय के दार्शनिक तथा धार्मिक सिद्धान्तों के अनुसार कवि की कविता का भाव पक्ष भी बदलता रहा। इसी कारण कृष्ण-काव्य में दृष्टिकोण का जितना वैभिन्न्य है उतना राम-काव्य में नहीं क्योंकि स्वयम् राम की भावना में अधिक वैभिन्न्य नहीं हुआ। मौलिक कृष्ण-भावना (श्रीमद्भागवत के कृष्ण) पर सूफ़ीमत और निर्गुण मत का प्रभाव पड़ा परन्तु रामकाव्य अथवा राम के लोकसंग्रही रूप का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। कृष्ण का ऐश्वर्य-युक्त और शक्तिशाली रूप जो महाभारत में सुरक्षित है अथवा पूर्ण ज्ञानी का रूप जो गीता में प्रतिष्ठित है, कृष्ण-कवियों को आकर्षित नहीं कर सका। इसका कारण कदाचित् समय की रुचि, आवश्यकता और वातावरण का प्रभाव हो।

जो हो, हिन्दी साहित्य में कृष्ण-साहित्य का विशेष महत्त्व है। इतनी विविधता कदाचित् किसी भी साहित्यिक धारा में नहीं मिलेगी, जितनी कृष्ण-काव्य-धारा में है; न काव्य और कला एवं संगीत का इस मात्रा से मिश्रण ही मिलेगा। केवल इसी साहित्य के बल पर हिन्दी का मस्तक अन्य साहित्यिकों के समक्ष सदा उन्नत रहेगा। इसके महत्व की एक बात यह भी है कि परवर्ती रीतिकाल की लगभग सभी रूढ़ियाँ किसी-न-किसी प्रकार इस साहित्य से ही सम्बन्धित हैं। जिस शृङ्गार-भावना को रीतिकाल में प्रश्रय मिला, उसमें अंशतः कृष्ण-काव्य के नायक-नायिका राधा-कृष्ण को ही आलंबन के रूप में स्वीकार किया गया था। यही नहीं, जहाँ स्पष्ट रूप से राधाकृष्ण का उल्लेख भी नहीं है, वहाँ भी प्रच्छन्न रूप से वही प्रतिष्ठित हैं। कृष्ण-काव्य के प्रभाव के कारण ही रीतिकाव्य शतशः लौकिक नहीं बन गया और उसके शृङ्गार में स्थूल भोगलिप्सा के साथ अलौकिक नायक-नयिका की क्रीड़ाकेलि का सुन्दर पुट रहा, जिसके कारण उसे आध्यात्म साधन का ही विषय बनाया जा सका।

सूरदास

कृष्ण-काव्य के सर्वप्रथम और सर्वश्रेष्ठ कवि सूरदास हैं। वे धार्मिक कवि हैं अतः उनकी विचारधारा को हमें एक, धार्मिक दृष्टिकोण से और दो, कवित्व की दृष्टि से देखना पड़ेगा।

सूर कवि पहले थे, धार्मिक पुरुष बाद में। इसीलिए धार्मिक उपदेश या तत्त्व-चिन्तन का उनकी रचना में अभाव है। उनकी कविता में साम्प्रदायिकता की भावना बहुत कम मिलती है। प्राचीन धर्म के प्रति उनकी आस्था भी तुलसी जैसी नहीं है। सूर पुष्टिमार्गीय भक्त थे, परन्तु उनकी रचना में इसके सम्बन्ध में भी स्थूल रूप से केवल सिद्धान्त भर मिलते हैं। पुष्टिमार्ग के साथ श्रीमद्भागवतीय तथा पौराणिक भावना भी मिल जाती है।

पुष्टिमार्ग के अनुसार कृष्ण परब्रह्म हैं और वे सच्चिदानन्द स्वरूप हैं। इसीलिए ब्रह्म के अतिरिक्त प्रकृति या जीव की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। त्रयी, दशावतार, जीव (विशिष्ट और साधारण दोनों) और प्रकृति ये वास्तव में ब्रह्म के ही विशेष रूप हैं। पुष्टिमार्ग के इस मूल सिद्धान्त की झलक हमें सूर में यत्र-तत्र कई स्थानों पर मिलती है। जलविहार, रासलीला और होली आदि लीलाएं प्रकृति या माया के नित्य रूप हैं। नित्य का व्यवहार है, वे क्रियाएँ हैं जो परब्रह्म के कुछ गुणों के तिरोभाव तथा आविर्भाव के साथ प्रतिदिन देखने में आती हैं। पुष्टिमार्ग में मुक्ति के दो उपाय हैं—१—मर्यादा मार्ग (आत्मसाधना)—निज के प्रयत्न द्वारा तथा ज्ञान द्वारा ईश्वर (अक्षर)

में लय हो जाना, २—पुष्टिमार्ग—आत्मसाधना के द्वारा नहीं बल्कि आत्मसमर्पण के द्वारा कृष्ण (जो कि साक्षात् परब्रह्म हैं) से एकत्व प्राप्त करना। पहले में जीव की सत्ता नष्ट हो जाती है। दूसरे में ऐक्य होता है, परन्तु सत्ता नष्ट नहीं होती। सूर ने भ्रमरगीत वाले अंश में कहीं-कहीं इसका स्पष्टीकरण भी किया है। सूर के काव्य पर पुष्टिमार्ग की छाप अवश्य है किन्तु न तो पुष्टिमार्ग के सिद्धान्त ही विस्तार में मिलते हैं—न मुक्ति-प्राप्ति के उपायों का विस्तृत विवेचन है।

सूरदास का कवि वाला रूप प्रधान है। सूर की प्रतिभा एकांगी है। उन्होंने एक निश्चित मार्ग का अवलम्बन किया—केवल कृष्ण के विषय में लिखना और वह भी केवल ब्रजभाषा में एवं रस की दृष्टि से केवल शृंगार (विनय पदों को छोड़कर) रस को अपना विषय बनाना यहाँ तक कि बाल-लीला में भी शृङ्गार का आरोप करना। उन्होंने आदर्श की ओर ध्यान नहीं दिया। उनके काव्य में वास्तविक जीवन का चित्रण है। उनके राधाकृष्ण आदि प्रत्येक घर की वस्तु हैं। उनका प्रेम साधारण स्त्री-पुरुष का प्रतिदिन का प्रेम है। जहाँ अलौकिकता है, वह कथा की परम्परा के कारण है। निष्कर्ष यह है कि सूर की अपनी प्रतिभा यथार्थवाद की ओर रही। इसके अतिरिक्त यह भी स्पष्ट है कि भक्तमाल के कवियों में से विद्यापति को छोड़ कर काव्य-शास्त्र का जितना प्रभाव सूर पर है, उतना किसी अन्य कवि पर नहीं। उनके काव्य पर नायक-नायिका-भेद की छाप है और ऋतु-वर्णन, मानलीला आदि प्रसंगों में काव्य-शास्त्र का ही सहारा लिया गया है।

सूरदास की कविता का विशेष गुण है उनका व्यभिचारी भावों का चित्रण। सूरदास जी की रचना कोई महाकाव्य नहीं है, अतः स्थायी भाव कम हैं। सामूहिक दृष्टि से तो अनेक पदों में मिलाकर कोई रस कह सकते हैं, परन्तु वैसे प्रत्येक पद स्वतन्त्र हैं। व्यभिचारी भावों का इतना अधिक चित्रण कवि की प्रतिभा का द्योतक है। सूरदास ने भक्ति-सम्बन्धी पदों में भी काव्य-शास्त्र का सहारा लेकर मौलिकता दिखाई है। विनय पदों में एक ओर भक्त और दूसरी ओर भगवान आलम्बन हैं। हरिगुण वर्णन, संसार की असारता का वर्णन, तीर्थ, सन्त आदि उद्दीपन विभाव हैं। शान्ति लाभ देने वाली प्रत्येक वस्तु उद्दीपन के अन्तर्गत है। तुलसी की विनयपत्रिका की तुलना करने पर हम देखते हैं कि आलम्बन और उद्दीपन का विस्तृत वर्णन सूर में नहीं मिलता। भगवान का तो कुछ वर्णन सूर ने किया भी है, भक्ति या सन्त-महिमा या

तीर्थ का कोई वर्णन सूर ने नहीं किया। यद्यपि यह सूर की प्रारम्भिक रचना है परन्तु इसमें भी हमें काव्यशास्त्र के अभाव का संकेत मिलता है। अनुभाव भी अधिक नहीं मिलते। हाँ, जो उत्कर्ष रूप में वर्णित मिलते हैं वे संचारी या व्यभिचारी भाव हैं। उदाहरण के लिए सूर के काव्य में निर्वेद, शंका और विषाद का सुन्दर चित्रण मिलता है। मन शांति की खोज में किन अवस्थाओं में होकर गुज़रना चाहता है, कवि इसका चित्रण करता है।

रस के परिपाक में जो वाह्याडम्बर हैं, जो साधारण उद्दीपन की भावना है, जो वाह्य सामग्री है, उसकी ओर कवि का ध्यान नहीं है। जहाँ महाकवि को स्थूल सामग्री पर ही ध्यान रखना चाहिये, वहाँ सूर और आगे बढ़ जाते हैं। उन्होंने मति और हर्ष जैसे सूक्ष्म मानसिक भावों का चित्रण किया है।

सूरदास के पदों में आलंबनों का विस्तार नहीं मिलता। उनके वात्सल्य के आलम्बन कृष्ण और यशोदा हैं, संयोग शृङ्गार के राधा, गोपी और कृष्ण; वियोग शृंगार के कृष्ण, यशोदा और राधा-गोपियाँ-कृष्ण। इनमें से किसी का भी स्वतन्त्र रूप से चित्रण नहीं किया गया है। उद्दीपन तथा अनुभावों की हमें बहुत सामग्री मिलती है। उद्दीपन की सामग्री में कृष्ण के रूप-वर्णन की जो सामग्री है, वह भी दो प्रकार की है, १—सख्य और वात्सल्य में जहाँ बाल तथा किशोर कृष्ण का वर्णन है। २—संयोग-वियोग शृंगार में जब कृष्ण राधा और गोपियों से प्रेम करने लगे थे। रूप-वर्णन के साथ नखशिख भी उद्दीपन का एक अंग है। सूरदास ने कृष्ण के नखशिख का कम वर्णन किया है, राधा के नखशिख का अधिक। वंशी और वंशी-ध्वनि भी उद्दीपन के अंग हैं। उद्धव का चरित्र भी उद्दीपन के अन्तर्गत आता है। प्राचीन काव्य में दूत और दूती उद्दीपन के अंग ही माने गये हैं। सूरदास के काव्य में मधुकर, पाती, ऋतुओं और पक्षियों (मयूर, चातक, कोयल आदि) का वर्णन भी मिलता है। इनसे संबंध रखने वाली सामग्री भी उद्दीपन के अन्तर्गत आती है। सूरदास के पदों में कितने ही नेत्र-वर्णन के विषय में हैं। नेत्र-वर्णन संबंधी पद आंशिक रूप से उद्दीपन और आंशिक रूप से अनुभव के अंतर्गत हैं। कृष्ण के नेत्रों का चित्रण उद्दीपन के लिए ही हुआ है। राधा, गोपियों, और भक्त के नेत्र अनुभाव प्रगट करते हैं।

संयोग और वियोग शृङ्गार की सामग्री भी कुछ अलग है। कृष्ण का रूप-वर्णन केवल संयोग शृङ्गार के उद्दीपन के लिए हुआ है। ऋतु-वर्णन संयोग और वियोग दोनों अवसरों पर होता है। पाती, मधुकर, उद्धव, पक्षी आदि वियोग शृंगार को ही पुष्ट करते हैं। अनुभाव का चित्रण विस्तार से

तो नहीं किया गया है, यह प्रायः उद्दीपन के साथ मिश्रित करके वर्णन किया गया है। ऋतुओं के वर्णन के साथ उनका गोपियों पर क्या प्रभाव पड़ रहा है, यह भी वर्णित है। वास्तव में काव्य के आदर्श की दृष्टि से सूरदास का विरह-लीला-संबंधी साहित्य बहुत उच्च है।

इस उद्दीपन और अनुभाव चित्रण में कुछ त्रुटियाँ भी हैं। अलौकिक लीलाएँ स्वाभाविक उद्दीपन या अनुभाव के चित्रों में बाधा डालती हैं। ऊखल में बँधे बालक का स्वाभाविक चित्र यमलार्जुन के गिर जाने से अस्वाभाविक हो जाता है। संयोग लीला के चित्रों में आवश्यकता से अधिक शृंगार-प्रियता के कारण अस्वाभाविकता आ गई है। अतिशयोक्ति और सांगरूपक का प्रयोग भी रस ग्रहण करने में बाधा डालता है। व्यभिचारी भाव का स्थान गौण है, परंतु सूर ने उन्हें आवश्यकता से अधिक प्रधानता दे दी। सूर मन की अवस्थाओं के चित्रकार हैं। इसका एक कारण यह भी है कि वे कीर्तन के लिए पद-रचना करते हैं।

सूर के काव्य का एक भाग ध्वनि-काव्य है। हमारा तात्पर्य भ्रमरगीत वाले पदों से है जिसमें व्यञ्जना का प्रचुर प्रयोग हुआ है। साहित्य-पारखी जानते हैं कि सूरदास व्यंजना के प्रयोग में कितने सफल हुए हैं।

सूरदास का चरित्र-चित्रण विपद नहीं है। उनके चरित्रों में विकास नहीं मिलता। एक कारण सूर की रचना का गीति-प्रधान काव्य होना है। उन्होंने प्रथक-प्रथक अनुभूतियों और घटनाओं के ऊपर रचनाएँ की हैं। यदि सूर ने कृष्ण की सम्पूर्ण जीवनी लिखी होती तो चरित्र-चित्रण के लिए अधिक सामग्री मिल जाती। एक कारण यह भी है कि सूर ने कृष्ण-चरित्र का पूर्वाङ्ग ही लिया है। उन्हें ब्रजवासी कृष्ण प्रिय हैं। वास्तव में कृष्ण के चरित्र का विकास बाल-जीवन के आगे ही होता है।

सूर-साहित्य पर अनेक प्रभाव दिखलाई पड़ते हैं। बाललीला पर श्रीमद्-भागवत का प्रभाव है जिसके कारण कृष्ण के चरित्र में अलौकिकता का समावेश हो गया है। बाललीला के प्रसंग में और राधाकृष्ण के मधुर चित्रण पर पुष्टिमार्ग की छाप है। पुष्टिमार्ग में माधुर्य एवं वात्सल्य भक्ति की प्रधानता है। पुष्टिमार्ग के कर्मकाण्ड का प्रभाव भी सूरसागर के अनेक पदों में स्पष्ट है। वल्लभाचार्य के बाद विट्ठलनाथ के समय में अनेक कर्मकाण्ड बढ़ गये थे। होली आदि त्योहारों पर मूर्ति सजाई जाती। सावन में रास-विलास होता। भोग, कीर्तन, पूजा-पाठ आदि का विशेष विधान

था। इनमें से प्रत्येक के संबंध में सूरदास ने अनेक पद लिखे हैं। सूर-साहित्य के सर्वोत्कृष्ट पदों पर लौकिक बाल-चरित्र की छाप है। कहीं-कहीं पूरे पद में सूर एक साधारण बालक का चित्रण करते गये हैं, किन्तु अन्त में एक पंक्ति में वह यह स्मरण करा देते हैं कि यही असुर को मारनेवाले कृष्ण हैं। इस प्रकार की बात वात्सल्य रस में बाधक होती है, परन्तु यह सूर का अपना दृष्टिकोण था। कभी-कभी सूरदास बाल-चित्रण में काव्यशास्त्र से प्रभावित हो जाते हैं और आलम्बन, उद्दीपन, विवाह आदि का वर्णन करने लगते हैं। प्रेम-लीला-संबंधी पदों में यह प्रभाव अधिक है, वात्सल्य-संबंधी पदों में कम। सूर-साहित्य का एक पहलू यह भी है कि वह धार्मिक रूपक है। कृष्ण साधारण नायक नहीं, परब्रह्म हैं। उसी प्रकार गोपियाँ दार्शनिक रूपक के अनुसार आत्माएँ हैं या अधिक नहीं तो साधारण स्त्रियाँ तो नहीं हैं। इस धारणा के कारण स्पष्ट चित्रण में बाधा पड़ती है।

ऊपर हमने रस के विकास की दृष्टि से सूर-साहित्य की कुछ त्रुटियाँ दिखाई हैं। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य दोष भी हैं जैसे अलंकार के प्रचुर प्रयोग के कारण प्रसाद गुण का अभाव, कल्पना की अधिकता के कारण भावों की भीड़ और संयोग शृंगार के अश्लील अंश। ये सब त्रुटियाँ यह संकेत करती हैं कि कवि का झुकाव काव्य-शास्त्र की ओर अधिक था।

सूरदास के बाद अष्ट छाप के कवियों में सबसे महत्त्वपूर्ण नन्ददास हैं।

नन्ददास

इनके अधिकांश ग्रन्थ खण्ड-काव्य के रूप में हैं। ये सब ग्रंथ कृष्ण-लीला के संबंध में हैं। इन्होंने पदों का प्रयोग कम किया है।

नन्ददास केवल भक्त ही नहीं थे। वे पंडित भी थे। इनका संस्कृत ग्रन्थों का अध्ययन भी ऊँचा था और इन्होंने कुछ संस्कृत ग्रन्थों का अच्छा अनुवाद किया है। इनका शब्द शक्ति का अध्ययन भी गम्भीर था। ये काव्यशास्त्र के ज्ञाता भी थे, इनके रीति-ग्रन्थ इसका उदाहरण हैं। कृष्ण-कवियों में इतनी बहुमुखी प्रतिभा किसी में नहीं, जितनी नन्ददास में है।

उल्लेखों द्वारा नंददास के दो दर्जन ग्रन्थों का पता चला है। इनमें से कुछ ग्रन्थों का संग्रह किया गया है। जवाहरलाल द्विवेदी ने ११ ग्रन्थों का संग्रह नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित कराया है। इनमें सबसे महत्वपूर्ण ग्रंथ इस प्रकार हैं—१—रासपंचाध्यायी, २—भँवरगीत, ३—सिद्धांत पंचाध्यायी, ४—दशमस्कंध, ५—पंचमंजरी, रूपमंजरी, विरहमंजरी, रसमंजरी, मानमंजरी,

अनेकार्थमंजरी, और ६—श्यामसगाई कृष्ण-काव्य के दो कवियों सूरदास और नन्ददास में कवित्व धार्मिक सन्देश के ऊपर अधिकार प्राप्त किये हैं, परन्तु अन्य कवियों में भक्ति-भाव प्रधान है, कवित्व कम। नंददास में सूरदास की अपेक्षा काव्य-कौशल की मात्रा अधिक है और उनके काव्य में संप्रदाय के दार्शनिक और धार्मिक सिद्धांतों की व्याख्या भी हो जाती है। वे सुंदर शब्द-शिल्पी के रूप में भी प्रसिद्ध हैं। 'नंददास जड़िया' वाली लोक-प्रसिद्धि इसी ओर इंगित करती है। प्रत्येक दृष्टि से पुष्टिमार्गीय कवियों में सूरदास के बाद इन्हीं का स्थान है।

कृष्णदास के पदों में भी भक्तिभावना अधिक है, कवित्व कम। इन्होंने

कृष्णदास पयहारी अधिकतः युगल जोड़ी के संयोग शृंगार का ही वर्णन किया है; विशेषकर मान का बड़ा सुन्दर चित्रण हुआ है। इनकी दो पुस्तकें प्रसिद्ध हैं—भ्रमरगीत और प्रेमतत्वनिरूपण।

इनकी पुस्तकाकार रचनाएँ ध्रुवचरित्र, और दानलीला हैं। शेष छंदों

परमानन्ददास का एक बड़ा संग्रह है। इनमें भी भक्तिभाव प्रधान है। इनके पद भक्त की तन्मयता को पूरा-पूरा प्रगट कर सके हैं।

केवल फुटकर पद मिलते हैं जिनमें कृष्ण की अनन्य भक्ति है। इनका

कुम्भनदास दृष्टिकोण इनके इस प्रसिद्ध पद से स्पष्ट है—कुम्भनदास लाल गिरधर बिनु और सबै बेकाम।

ये कुम्भनदास के पुत्र थे। इनके ग्रन्थ हैं—द्वादश यश भक्तिप्रताप और

चतुर्भुजदास हितजू को मंगल। इनकी कविता पर सूरदास का स्पष्ट प्रभाव है, परन्तु इन्होंने कृष्ण-चरित्र को आधार नहीं बनाया, केवल कृष्ण पर कविता की है।

केवल स्फुट पद प्राप्त होते हैं जो अत्यन्त उत्कृष्ट हैं और इनसे ब्रजभूमि

छीतस्वामी से इनका उत्कट प्रेम प्रगट है।

गोविन्द स्वामी—इनके भी केवल स्फुट पद मिलते हैं।

मीरा के पद गुजराती, डिंगल और ब्रज से मिलती-जुलती पश्चिमी हिन्दी

मीरा में पाये जाते हैं। भाषा-वैभिन्न्य का कारण उनका मौखिक रूप से प्रचलित होना है। विषय की दृष्टि से भी एक समस्या उपस्थित हो जाती है। साधारणतः मीरा

होगी, क्योंकि उनका अधिकांश जीवन राजस्थान में ही व्यतीत हुआ था, परन्तु उस समय व्रजभाषा साहित्य के क्षेत्र में प्रतिष्ठित हो रही थी। अतः उसका प्रभाव भी लक्षित है। उस समय तक महाराष्ट्री राजस्थानी और व्रज में इतना अन्तर भी न पड़ा था जितना आज है, यह भी सम्भव है। आज जिस रूप में उनके पद मिलते हैं, वह इसलिए बहुत भिन्न हैं क्योंकि यह पद कई स्थानों से संग्रह किये गये जान पड़ते हैं और संग्रहकर्ता के स्थान की भाषा ने उन्हें प्रभावित किया है।

मीरा की भक्ति गोपियों की-सी है, परन्तु उनमें दासी-भावना की ही प्रधानता है। उनके शृंगार के पीछे भी अपूर्व शान्ति है। संभव है उन पर चैतन्य मतावलम्बी भक्तों का भी प्रभाव पड़ा हो। श्री आनन्दशंकर ध्रुव इस प्रभाव को मुख्य नहीं मानते। उनका कहना है—"हम मीरा का चैतन्य साधुओं के साथ समागम मानते हैं, किन्तु उनकी ज्वाला प्रगट करने वाली शक्तियाँ हम जयदेव और रामानन्द की मानते हैं।"

पृथ्वीराज

सारा उत्तर-पश्चिम भारत कृष्ण-भक्ति से पभावित हो रहा था। भागवत का आदर किसी भी वेद ग्रन्थ से कम न था। वास्तव में मध्य युग के भक्तों के लिए वही वेद था। इसी से उसका आधार लेकर अनेक रचनाएँ हुईं। कृष्णभक्त कवियों ने दशम स्कन्ध के अनुवाद या उसके आधार पर रचे ग्रन्थ प्रस्तुत किये। राम-भक्त तुलसी, जेराम एवं उनके चरित्र को पुष्ट करने तथा कथा-शैली आदि के लिए इसी ग्रन्थ की ओर मुड़कर देखा।

राजस्थान में कृष्ण-चरित्र का वीरत्व-शृङ्गार-पूर्ण अंग अधिक प्रिय था। यद्यपि राजपूताने के अधिकांश राजा शैव थे, परन्तु इस समय कुछ वैयक्तिक रूप से भागवत धर्म को स्वीकार कर लिया था। महाराज पृथ्वीराज इन्हीं महानुभावों में से थे। यह बीकानेर-नरेश राव कल्याणमल के पुत्र और महाराज रायसिंह के छोटे भाई थे। अकबर के दरबार से संबंधित भी थे। इन्होंने रुक्मिणी की कथा लेकर एक सुन्दर पिंगल-काव्य की रचना की। नाभादास ने भक्तमाल में इनके विषय में लिखा है—

सवैया, गीत, श्लोक, बेलि दोहा नवगुण रस।
पिंगल काव्य प्रमाण विविध विध गायो हरि जस॥
परिदुख विदुष सश्लाघ्य वचन रसनाजु उचारै।
अर्थ विचित्रिन मोल सबै सागर उद्धारै॥

रुक्मिणीलता वर्णन अनुप वागीश वदन कल्याण सुव ।
नरदेव उभय भाषा निपुण प्रिथीराज कविराज हुव ।।

इस काव्य में रचना खंडकाव्य के रूप में हुई है और इस पर संस्कृत काव्यों और रीतिशास्त्र का गहरा प्रभाव है यद्यपि ग्रन्थ-फल-निर्देश में कवि का मत है—

"उपजै अहोनिसि आप आपमैं
रुकमणि क्रिसन सरीख रति"

भक्ति के संबंध में भी कवि का मत महत्त्वपूर्ण है—

"मधुकर रसिक सुभ गति जंजरी, फूल फल मुगति मिसि"। परन्तु ग्रन्थ-रचना करते समय कवि की दृष्टि लौकिकता और काव्यशास्त्र की ओर ही अधिक रही है। "कवि ने कृष्ण के चरित्र को दैवी स्वरूप दिया है, परन्तु दूसरी ओर रुक्मिणी को संसार के समस्त आडम्बरों से सजा कर बिलकुल लौकिक रूप दे दिया है"।[२२] उन्होंने रुक्मिणी के शैशव, क्रमागत यौवनावस्था तक के विकासक्रम, पत्रिका, उद्दीपन, नखशिख आदि कितने ही प्रसंगों में कालिदास आदि कवियों को अपना आदर्श बनाया है। यहाँ हमें प्रच्छन्न रूप से रीतिकाल के अंकुर मिल जाते हैं जो परवर्ती कृष्ण-काव्य में विकसित हुए।

कृष्ण-काव्य के परवर्ती कवियों ने कवित्व पर अधिक ध्यान दिया, भक्ति पर कम। स्वयम् सूर भी कवित्व से किस सीमा तक परिचालित थे, यह हम ऊपर दिखा चुके हैं। काव्यशास्त्र को ध्यान में रखने की यह प्रवृत्ति हिन्दी कविता के आरम्भ में भी थी। धीरे-धीरे यही कवियों का आलम्बन बन गई। कृष्ण-भक्ति केवल बहाना मात्र रह गई। कवियों ने उद्दीपन विभाव में ऋतु-वर्णन और नखशिख-वर्णन सम्बन्धी साहित्य उपस्थित किया और कृष्ण-राधा को परोक्ष रूप में रखकर तथा कभी-कभी अपरोक्ष रूप में रखकर भी नायक-नायिका-भेद कहा। वास्तव में, जिसे हिन्दी में रीतिकाल कहा जाता है, उसके विकास में कृष्ण-भक्ति-काव्य का बड़ा हाथ है। एक तरह से रीतिशास्त्र ने कृष्ण-काव्य को प्रभावित किया और परवर्ती काल में कृष्ण-

२२—हिन्दुस्तानी एकेडेमी से प्रकाशित संस्करण की भूमिका, पृष्ठ० १०४

काव्य ने हिन्दी रीति-कविता को। इसे हमें यों भी समझ लेना चाहिए कि रीति और भक्ति की धाराएँ साथ-साथ चल रही थीं, धीरे-धीरे भक्ति साध्य नहीं रही, काव्य-रीति लक्ष्य हो गई।

उ—सूफ़ी साहित्य

मुसलमानी सूफ़ी संतों का आगमन विदेशी आक्रमण के पहले ही हो गया था, इसके प्रमाण मिलते हैं। परन्तु राजसत्ता स्थापित हो जाने के बाद उन्हें विशेष प्रश्रय मिला।

मूल मुसलमानी धर्म तौहीद (एकेश्वरवाद) का प्रचारक है। "ला इलाही इल्लाह मोहम्मद रसूल अल्लाह।" परन्तु यह एकेश्वरवाद भारतीय अद्वैतवाद से भिन्न है। अद्वैतवाद में जिस प्रकार जीव और ब्रह्म की अविच्छिन्न एकता की कल्पना की गई है, उस तरह की बात वहाँ नहीं है। वहाँ ख़ुदा, रसूल और इन्सानों की अलग-अलग सत्ता है। वास्तव में रसूल ईश्वर से अधिक निकट विशिष्ट मानव है जिसके माध्यम से साधारण जीव ख़ुदा तक पहुँचता है। यह एक प्रकार से द्वैत हुआ, यद्यपि मुसलमान विचारक इस बात को यों स्वीकार नहीं करते।

जब फ़ारस पर मुसलमानों का राज्य स्थापित हो गया और सारी जनता मुसलमान हो गई, तो इस्लाम पूर्ण रूप से शुद्ध भी नहीं रह सका। फ़ारस में जो धर्म प्रचलित था वह आर्य्य ही था, अतः मौलिक रूप से भावप्रवण था। नव-मुस्लिमों में एक गिरोह ऐसा उठ खड़ा हुआ जो खुदा और इन्सानों की वहदत (एकता) को मानता था। उसका दृष्टिकोण बहुत कुछ विशिष्टाद्वैत-वादियों जैसा था। सम्भव है उस पर वेदान्त का प्रभाव हो। कट्टर मुसलमान उसे 'बेशरा' (शरियत या इस्लाम धर्मशास्त्र के विरुद्ध) मानते हैं। इसलिए सूफ़ियों में एक दल ऐसा भी उठा खड़ा हुआ जो इस्लामी धर्मशास्त्र को दृष्टि में रखता हुआ उपासना करता था। उन्हें कट्टर मुसलमानों ने भी स्वीकार कर लिया और "बाशरा" (शरियत के अनुरूप) कहा।

शुरू-शुरू में ये सूफ़ी साधक सिंध और पंजाब में आकर बसे थे। यह वह समय था जब भक्ति का आविर्भाव हो चुका था और वह धीरे-धीरे एक जन-आन्दोलन का रूप धारण कर रही थी। सूफ़ियों की प्रेम-मूलक धारणा भक्ति से मेल खाती थी, अतः वह जन-समाज में अपनी साधना के बल से पैठ गये। अनेक हिन्दू उन पर आस्था रखने लगे। इन सूफ़ियों में मुईन उद्दीन (११४२ ई०) क़ुतबुद्दीन करकी, फ़रीद शकर गंज (१२०० ई०), शेख

चिश्ती (११६१ ई०), निज़ामुद्दीन औलिया (१२३५ ई०), सलीम चिश्ती (१५१२ ई०) और मुबारिक नागोरी (१५१० ई०) प्रसिद्ध हैं। धीरे-धीरे इनकी शिष्य-परम्परा बढ़ी और यह सारे उत्तर और दक्षिण भारत में फैल गये।

भारत में आने से पहले सूफ़ियों का एक अपना साहित्य चल पड़ा था। वह बराबर बनता रहा। मुसलमानों के शासनकाल में ईरानी संस्कृति और साहित्य भारतवर्ष में बराबर आते रहे। इस तरह यह साधक फ़ारसी सूफ़ियों की स्वयः-विकसित भावनाओं से बराबर परिचित होते रहे। परन्तु भारतीय धार्मिक वातावरण, दार्शनिक चिन्तन और साहित्य का भी इन पर प्रभाव पड़ता रहा।

हिन्दी साहित्य में सूफ़ी साधना दो भाषाओं में व्यक्त हुई। १—खड़ी बोली (ब्रज, पंजाबी, दकनी और अन्य प्रांतीय बोलियों से मिश्रित), २—अवधी। खड़ी बोली में सूफ़ी साहित्य फुटकर पदों, दोहों और ग़ज़लों आदि के रूप में रखा गया। पश्चिमी और दक्षिणी भारत में इस प्रकार की रचनाएँ प्रचुर मात्रा में हुईं। पूर्वी हिन्दी प्रदेश में अवधी के माध्यम द्वारा यह प्रकाश में आईं। दोनों भाषाओं में "मसनवी" (कथात्मक) साहित्य की रचना हुई। परन्तु खड़ी बोली की मसनवियाँ "दकनी" (फारसी और ब्रजभाषा मिश्रित खड़ी) में हैं और उन पर भारतीय कथा-पद्धति और काव्य का उतना प्रभाव नहीं है, जितना पूर्वी साधकों की अवधी कथाओं में जान पड़ता है। जो कथाएँ इन साधकों ने पदबद्ध कीं, वे मौलिक रूप से भारतीय थीं और जनसाधारण में लोक-कथाओं के रूप में चली आ रही थीं। उन्होंने उनके प्रभाव को समझ कर ही इन्हें अपने भावों के प्रचार का साधन बनाया होगा।

अवधी सूफ़ी प्रेमाख्यानक काव्य की परम्परा कुतबन शेख से आरम्भ होती है। इनका जन्म १६वीं शताब्दी के आरम्भ में हुआ था। इन्होंने 'मृगावती' नाम का काव्य दोहों-चौपाइयों में लिखा। जायसी ने अपने काव्य (पद्मावत) में अपने पूर्व के कवियों के नाम इस प्रकार दिये हैं—

विक्रम धँसा प्रेम के बारा। सपनावति कहँ गएउ पतारा॥
मधुपाछ मुगुधावति लागी। गगनपूर होइगा बैरागी॥
राजकुँवर कंचनपुर गयऊ। मिरगावति कहँ जोगी भयऊ॥
साधु कुँवर खंडावत जोगू। मधुमालति कर कीन्ह वियोगू॥
प्रेमावति कहँ सुरसरि-साधा। ऊषा लगि अनिरुध बर बाँधा॥

इनमें ऊषा-अनिरुद्ध की कहानी तो पौराणिक है, शेष कथाएँ निश्चय ही सूफ़ी साहित्य की सम्पत्ति है। जायसी ग्रंथावली की भूमिका में पं० रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है—"इनमें से मृगावति की एक खंडित प्रति का पता नागरी प्रचारिणी सभा को लग चुका है। मधुमालती की भी फ़ारसी अक्षरों में लिखी हुई एक प्रति मैंने किसी सज्जन के पास देखी पर किसके पास, यह स्मरण नहीं है। चतुर्भुजदास कृत "मधुमालती री कथा" नागरी प्रचारिणी सभा को मिली है जिसका निर्माण-काल ज्ञात नहीं है। "मुगधावती" और "प्रेमावती" का पता अभी तक नहीं लगा है।" इस प्रकार यह सिद्ध है कि प्रेमा-कथाओं की एक बड़ी परंपरा जायसी के पहले चल पड़ी थी। जायसी की लोकप्रिता ने इस परम्परा को प्रोत्साहन दिया। उनके बाद कई प्रेमाख्यान लिखे गये और यह परम्परा १९वीं शताब्दी के आरम्भ तक चली। १६१३ ई० में उसमान ने चित्रावली लिखी, १६२० में शेख नबी ने ज्ञान दीपक लिखा। १६४० में फ़ज़िल शाह ने प्रेमरतन, १६४४ में नूरमोहम्मद ने इन्द्रावती और १७३० में कासिम शाह ने हंस जवाहर की रचना की।

इन सब कथाओं में बहुत साम्य है। सब दोहा-चौपाइयों में लिखी गई हैं। सबमें मसनवियों की शैली अपनाई गई है—ईश्वर-वन्दना, मोहम्मद साहब की स्तुति, शाह वक़्त का वर्णन आदि। सब की भाषा अवधी है। सब में सूफ़ी भावना अन्तरहित है। फ़ारसी प्रेम-कथाओं में पहले पुरुष की स्त्री पर आसक्ति दिखाई जाती है। इतना विदेशीपन होने पर भी षटऋतु-वर्णन बारहमासा, नगर-वर्णन, स्त्री-सौन्दर्य-वर्णन आदि अनेक बातों और रस्म-रिवाजों में भारतीय काव्य-परम्परा का अनुसरण किया गया है। ये मुसलमान साधक-कवि जीवात्मा के विरह का बड़ा सुन्दर चित्रण उपस्थित कर सके हैं। सारा काव्य प्रेम की तन्मयता से व्याप्त है। इन प्रेम-साधकों ने कथा को ही साधन बना लिया है।

इन सूफ़ियों के साहित्य को काव्य की दृष्टि से हम हिन्दी का पहला रोमांस-काव्य कह सकते हैं। इस काव्य में ऐकान्तिक प्रेम का चित्रण किया गया है। रोमांस की तरह इन काव्यों का नायक अनेक घटनापूर्ण कठिन परिस्थितियों में से गुज़र कर अपनी प्रेमिका को प्राप्त करता है। प्रकृति के प्रति इनका दृष्टिकोण अत्यन्त रहस्यात्मक है और अंग्रेज़ी काव्य के १९वीं शताब्दी के कवियों से मिलता-जुलता है। जो हिन्दी साहित्य हमारे सामने हैं, वह फ़ारस के सूफ़ीमत को ज्यों का त्यों हमारेसामने नहीं रखता है

परन्तु वह फारस में विकसित सूफी मत की साहित्यिक अभिव्यक्ति है और उस पर वेदान्त का प्रभाव है। "इसमें तो कोई शक नहीं कि मुसलमान सूफ़ियों पर, भारत में आने के बाद, हिन्दू वेदान्तियों का प्रभाव पड़ा।"[२३]

अवधी सूफ़ी साहित्य

सबसे पहला सूफी प्रेमाख्यानक काव्य मुल्ला दाऊद की नूरक और चन्दा की प्रेमकथा है। इसका रचना काल सं० १३७५ (१३१८ ई०) है। इनके बाद जायसी तक और भी कई प्रेमकथाएँ लिखी गईं परन्तु उनमें से सब उपलब्ध नहीं हैं। जायसी ने पद्मावत में सपनावती, मुग्धावती, मृगावती, खंडरावती, मधुमालती और प्रेमावती का उल्लेख किया है। इनमें से केवल दो मृगावती और मधुमालती प्राप्त हो सकी हैं। मृगावती के लेखक क़ुतबन हैं। मधुमालती के लेखक मंझन हैं। क़ुतबन का समय १४६३ ई० के लगभग है। मंझन के समय के विषय में कुछ पता नहीं चलता। इसके बाद जायसी (मलिक मोहम्मद) का पद्मावत आता है। पद्मावत का रचनाकाल १५३३ ई० है। पद्मावत के बाद उसमान ने चित्रावली लिखी। यह १६१३ ई० का ग्रन्थ है। सूफी आख्यानक काव्यों की यह परम्परा देर तक चलती रही। यह इस प्रकार रही—

ज्ञानदीप	शेख़ नबी	सं० १६७६ (१६१६ ई०)
हंस जवाहर	क़ासिम शाह	सं० १७८८ (१७३१ ई०)
इन्द्रावती	नूर मुहम्मद	सं० १८०१ (१७४४ ई०)
प्रेमरतन	फ़ाज़िल शाह	सं० १६०५ (१८४८ ई०)

इन सूफ़ी प्रबन्ध-रचयिताओं में जायसी ही सब से प्रधान हैं। जायसी के पद्मावत की कथावस्तु ऐतिहासिक है परन्तु यह नहीं समझना चाहिये कि उन्होंने वह इतिहास के अध्ययन से प्राप्त की थी। वास्तव में उन्होंने कथा का वही रूप अपनाया जो अवध में लोकगीतों और कथाओं के रूप में प्रचलित था। यही कारण है कि उसमें इतिहास-विरुद्ध घटनाएँ मिलती हैं। सच तो यह है कि अधिकांश सूफी कवियों के कथानक लोककथा से लिये गए हैं या उन पर आश्रित हैं।

जायसी का ग्रन्थ तत्कालीन अवधी को हमारे सामने रखता है। अतः इस दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण है। उन्होंने प्रत्येक स्थान पर शब्दों के प्रचलित बोलचाल के रूप का प्रयोग किया है। संस्कृत का ज्ञान न होने और काव्य

२३—मौलाना सय्यद सुलेमान नदवी (अरब और भारत के सम्बन्ध, पृष्ठ २०३)

शास्त्र का अधिक सहारा न लेने के कारण भाषा की स्वाभाविकता बनी रह सकी है। जायसी में वेदान्त के सिद्धान्त भी मिलते हैं, विशेषकर अखरावट में, परन्तु जायसी की स्वाभाविक धार्मिक भूमि सूफ़ी प्रेम मार्ग है। "सारी कथा के पीछे सूफ़ी सिद्धान्तों की रूपरेखा है, पर जायसी इस आध्यात्मिक संकेत को पूर्ण रूप से निबाह नहीं सके।" सच तो यह है कि कथा-प्रसंग और आध्यात्मिक संकेत को एक साथ चलाना बड़ा कठिन होता है। जायसी ने कथा-प्रसंग के बीच-बीच में पाठक को बार-बार आध्यात्मिक पक्ष का ध्यान दिलाया है; एवं इसके अतिरिक्त अंत में संक्षेप में सारी कथा पर आध्यात्मिकता का आरोप कर दिया है, परन्तु फिर भी बहुधा वर्णनों के विस्तार में यह लक्ष्य आँख की ओट हो जाता है। जायसी के ऊपर हठयोग और संतमत का प्रभाव भी लक्षित है। हठयोग की लगभग पूरी पद्धति का विवेचन उनके ग्रंथ में हो गया इससे स्पष्ट है कि जायसी के समय में उनके प्रदेश में हठयोग की धारा बलवती थी।

पद्मावत के साहित्य-पक्ष पर हिन्दू और मुसलमान दोनों साहित्य-धाराओं का प्रभाव पड़ा है। (१)—हिन्दू साहित्य-धारा का प्रभाव। पद्मावत को महाकाव्य के ढंग पर रखने का प्रयत्न किया गया है। ग्रीष्म वर्णन, समुद्र-वर्णन, विवाह-वर्णन, युद्ध-वर्णन, भोजन-वर्णन, गढ़-वर्णन, षट्ऋतु और बारहमासा वर्णन मिलते हैं जो इसी ओर इंगित करते हैं। इनके अतिरिक्त हीरामन तोता, नागमती, एवं प्रेमचित्रण में भी हिन्दू साहित्य ग्रन्थों के आदर्श और हिन्दू संस्कृति को अपनाया है। (२)—मुसलमान साहित्य-धाराओं का प्रभाव। पद्मावती की शैली मसनवी की है। मसनवी "दो पाई" छन्द होता है। जायसी ने चौपाई की अर्धालिका का इसी रूप में प्रयोग किया है। फ़ारसी मसनवी-काव्य में ५ या ७ छन्दों के बाद विराम देते हैं; जायसी ने सात अर्धालियों के बाद एक दोहा लिखा है। मसनवियाँ भी प्रेम-कहानियाँ होती हैं। अधिकांश में सूफ़ी आध्यात्मिक प्रेमपक्ष की व्यंजना होती है। पद्मावत में भी आरम्भ उसी रूप से किया गया है जो मसनवियों में मिलता है: १—ईश्वर स्तुति, २—मुहम्मद स्तुति, ३—सुलतान स्तुति, ४—आत्म परिचय, ५—कथा भाग। मसनवी वर्णनात्मक होती है, कहीं-कहीं वर्णन का विस्तार बहुत अधिक हो जाता है। यही बात पद्मावत में है। प्रेम का प्रसंग भी फ़ारसी प्रेम-शैली पर है। पद्मावती के रूप वर्णन से ही राजा मूर्छित हो जाता है। इसके अतिरिक्त विरहवर्णन में भी फ़ारसी शैली के

अनुसार प्रेम का काठिन्य दिखाने के लिए कवि औचित्य और स्वाभाविकता की सीमाओं को लाँघ गया है। रूप-वर्णन में भी अतिशयोक्ति का प्रयोग स्वभाविकता में बाधा डालता है।

ऊ—डिंगल साहित्य की धारा (१४००-१६००)

१२वीं-१३वीं शताब्दियों में राजस्थान में अनेक नये राजपूत राज्य स्थापित हो गये थे। इन नये पुराने राज्यों में डिंगल भाषा और साहित्य की परंपरा सुरक्षित हुई। प्रत्येक राज्य के अपने राजकवि होते थे। इन्हें 'चारण' या 'भाट' कहते थे। इन्होंने 'ख्यातों' और 'बातों' के रूप में डिंगल गद्य और पद्य में प्रत्येक राजवंश का इतिहास लिखा। राजस्थान के इतिहासकार के लिए ये ख्यातें-बातें अत्यंत महत्वपूर्ण हैं और इन्हीं के आधार पर टाड ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'राजस्थान' की रचना की थी। प्राचीन डिंगल ग्रंथों में अनेक क्षेपक इसी समय जोड़े गये और कदाचित् 'रासो' का वर्तमान बृहद् रूप इसी काल से संबंध रखता है। 'रासो' में भट्ट भणंत (क्षेपक) इतनी बढ़ गई है कि चंद्र का मौलिक काव्य इसमें अंतर्धान हो गया और आज वैज्ञानिक अध्ययन के आधार पर उसका पुनरुद्धार भी असंभव जैसा जान पड़ता है। इस बृहद् ग्रंथ के अतिरिक्त अनेक प्रशस्ति ग्रंथ भी लिखे गये जैसे 'रणमल्ल छंद' (ईडर के राठौर राजा रणमल्ल का युद्ध-वर्णन, १५११ ई०)। इनका ऐतिहासिक महत्त्व भले ही हो, साहित्यिक महत्त्व बहुत अधिक नहीं है। वास्तव में इस युग के प्रारंभ होते-होते हिन्दू राष्ट्र नष्ट-भ्रष्ट हो चले थे। हम्मीर के समय (१३०० ई० के लगभग) तक राजपूत राजाओं का वीरत्व जागा रहा, परंतु जब मुसलमान-राज भारत में स्थिर हो गया, तो हिन्दू राजाओं में इतना उत्साह ही नहीं रहा कि आपस में लड़ते, या मुसलमानों से मोर्चा लेते। १४०० १६०० का डिंगल काव्य या तो इतिहासात्मक है, या प्रशस्ति-मात्र। वह अधिकतः प्राचीन परंपरा को आगे बढ़ाता है। उसमें न पहली जागरूकता है, न नवीनता। भक्तिकाल में सारा राजस्थान गोरखपंथियों, संतों, सूफ़ियों और कृष्ण-भक्तों का प्रचार-क्षेत्र बन गया और 'राजस्थानी' (डिंगल) में भी धार्मिक काव्य लिखा गया।

ए—खड़ी बोली उर्दू साहित्य (दकनी साहित्य)

पिछली तीन शताब्दियों में मुलतान और लाहौर मुसलमान सूफ़ी संतों के केन्द्र बन गये थे और इन्हीं केन्द्रों में हिन्दवी साहित्य का जन्म हुआ।

उत्तरी भारत में हिन्दुओं और मुसलमानों की ज़बानों (भाषाओं) का मेल-जोल सुबतग़ीन ग़ज़नवी के समय से ही आरंभ हो गया था। लाहौर की विजय के बाद ग़ज़नवी फ़ौज में हिन्दू सैनिक भी रहने लगे थे। इसी तरह हिन्दू राजाओं के यहाँ मुसलमान फ़ौजें और सिपहसालार नौकर थे। इस तरह नई परिस्थितियों के कारण स्थानीय भाषाओं में अरबी, फ़ारसी, तुर्की के सैकड़ों शब्द आ गये। सत्रहवीं शताब्दी तक भाषा में उर्दू शब्दों का इतना बाहुल्य हो गया कि रासो के वर्तमान रूप में हज़ारों ऐसे शब्द आये हैं। ग़ज़नवी दरबार में हिन्दू राजदूत बराबर रहते थे और इसी समय अफ़ग़ान मुसलमान हज़ारों-लाखों की संख्या में पंजाब में आ बसे। इनकी उपस्थिति का भाषा पर प्रभाव पड़ना आवश्यक था। ये मुसलमान पंजाबी-हिंदवी मिली फ़ारसी बोलते होंगे। १३वीं शताब्दी में लाहौर के मुसलमान कवि मासूद साद सलमा ने एक हिन्दी दीवान (कविता-संग्रह) छोड़ा है, इसका उल्लेख मिलता है। इस मिश्रित भाषा की सबसे पहली उपलब्ध रचना १३६८ ई० में सिन्ध में लिखी गई। आज यह अरबी, फ़ारसी और हिन्दुस्तानी की अजीब खिचड़ी जान पड़ती है।

दैनिक, व्यापारिक और सांस्कृतिक मेल-जोल के साथ-साथ देशी और विदेशी भषाओं में आदान-प्रदान बढ़ा। धीरे-धीरे लोग ऐसी ज़बान बोलने लगे, जो हिन्दू और मुसलमान दोनों की समझ में आ सकती थी। यह जन-भाषा हिंदवी थी। इसमें क्रिया, कारक इत्यादि सब हिन्दोस्तानी हैं, संज्ञाएँ अरबी-फ़ारसी की। परन्तु इनकी संख्या भी बहुत अधिक नहीं थी। लगभग २०० वर्ष तक यह नई ज़बान लाहौर में पनपी। जब ११९२ ई० में मुसलमानों ने चौहानों पर विजय प्राप्त कर ली तो दिल्ली-मेरठ की खड़ी बोली और व्रजभाषा से इस मिश्रित भाषा का संपर्क हुआ। पूर्वी पंजाब की बाँगड़ू और हरियानी भाषाओं का भी प्रभाव पड़ा। इस मिश्रित नई भाषा (हिन्दवी) का पहला प्रसिद्ध कवि अमीर ख़ुसरो (१२५३—१३२५) है।

१४०० ई० के बाद हिन्दवी भाषा और साहित्य का विशेष रूप से विकास हुआ, परंतु १६०० ई० तक वह निश्चित रूप से 'उर्दू' नहीं बन सकी थी। 'उर्दू' नाम तो उसे शाहजहाँ के समय में मिला। इस समय इस भाषा का मुख्य केन्द्र दक्षिण में था और यह 'दकिनी' नाम से प्रसिद्ध थी। इस युग का भी मुख्य साहित्य आध्यात्मिक (सूफ़ी) है। इसके रचयिता प्रसिद्ध पीर या सूफ़ी हैं। इनमें सबसे महात्वपूर्ण हैं सैयद मुहम्मद गैसूदराज़ बन्दानवाज़

(मृ० १४२१ ई०, दकन), बाबा फ़रीद (१६०६ ई० पंजाब), शाह मीरानजी शमसुलउश्शाक़ (मृ० १४९१), शाह बुरहान (मृ० १५८२ ई०), अमीनुद्दीन आला (१५८२—१६७५) और मुहम्मद कुली कुतबशाह (१५८०—१६११) । १३वीं शताब्दी ईसवी में दकन इस्लामी सूफ़ी कवियों का केन्द्र बन रहा था और साधारण जनता में उनकी विशेष मान्यता थी। इन सूफ़ी संतों का भाषा और साहित्य पर कई शताब्दियों तक प्रभाव रहा। मलिक काफ़ूर (१२९४—१३११), मुहम्मद तुग़लक़ (१३३६ ई०) और हसन गंगू की विजयी सेनाओं ने उत्तरी हिन्दवी भाषा और संस्कृति को दक्षिण में पहुँचा दिया। अनेक सैनिक बहमनी राज्य (१३३७—१५१८) में बस गये और इस प्रकार उत्तर की हिन्दवी और दक्षिण की दकिनी में योग हुआ। कबीर के समय (मृ० १३६८ ई०) तक हिन्दी भाषा का रूपरंग काफ़ी विकसित हो गया था, यह कबीर की रचनाओं से स्पष्ट है।

दकिनी का अधिकांश साहित्य धार्मिक है। उसे हम दो हिस्सों में बाँट सकते हैं : १ दीनी २ सूफ़ी। दीनी साहित्य मुसलमान पीरों ने लिखा है और वह अधिकांश प्रचारात्मक है। सूफ़ी-काव्य में हमें उसी 'प्रेम की पीर' के दर्शन होते हैं जो 'जायसी' आदि हिन्दी सूफ़ियों में मिलते हैं। लौकिक साहित्य बहुत कम है। इसका आरंभ मुहम्मद क़ुली क़ुतुबशाह से होता है जिन्होंने हिन्दू-मुसलमान त्योहारों, इस देश के फल-फूलों, पशु-पक्षियों पर कविताएँ लिखीं। उत्तर भारत में 'नज़ीर' ने भी इस प्रकार की कविताएँ लिखी थीं परंतु बाद को फ़ारसी के साहित्य का प्रभाव इतना बढ़ा कि उर्दू कविता में हिन्दीपन का नाम भी नहीं मिलता। दक्षिण की इस धार्मिक कविता में 'मरसिये' (शोकगीत) और मसनवियां (प्रेम-कहानियाँ) सबसे महत्त्वपूर्ण हैं। मसनवियों में लौकिक प्रेम की कहानी को पारमार्थिक प्रेम के रूपक के रूप में ग्रहण किया गया है। परन्तु १४०० ई० से १६०० ई० तक 'ख़ुशनाम' और 'ख़ुशनग़ज़' (शाह मीरानजी की कृतियाँ) नाम की मसनवियों को छोड़कर और कोई महत्वपूर्ण रचना प्रकाश में नहीं आई। इन मसनवियों में भी रूपक अत्यन्त शिथिल है। वास्तव में पिछले युग के हिन्दवी साहित्य की तरह यह दकनी साहित्य भी खड़ी बोली हिन्दी के विकास की दृष्टि से ही महत्वपूर्ण है। इसका साहित्य और इसकी संस्कृति प्रधानतः विदेशी हैं। इस दृष्टि से अभी इस साहित्य का अध्ययन नहीं हुआ है। जायसी आदि कवियों के काव्य 'हिन्दी मसनवियाँ' ही हैं। इस दृष्टि से इन प्रारंभिक मसनवियों का

अध्ययन थोड़ा-बहुत महत्त्व अवश्य रखता है। परंतु 'मरसियों' की कोई परंपरा हिन्दी में नहीं चली।

भाषा संबंधी परिस्थिति कुछ उद्धरणों से स्पष्ट हो सकती है :

"पैगम्बर कहे जे कुछ काम करेगा कोई ख़ुदा नानूं नाले कर तो ओ काम पायमाल होगा। सराना, नवाज़ नाखुदा को मौत कि ओ पालनहारा है आलम का" (शाह मीरानजी बीजापुरी, मृ० १४९६)

"सवाल—यह तनुलदहा बलकि सतन्तर पुकार रूप देता है। यक तिल क़रार नहीं ज्यों मरकट रूप।

जवाब—ऐ आरिफ़! ज़ाहिरतन के फ़ेल ते गुज़रिया व बातिम करतब दिसते। इसका कानून सों मुमकिनुलवजूद। दूसरा तन सो भी कि इस ऐन्द्रीन का विकार व जेष्ठाकरनहारा सो वही तन नहीं तो यों ख़ाक व सुख व दुख भोगनहारा। जेता विकार रूप वही दूसरा तन तो यों नज़र कर देख यह तन फ़हम सों गुज़रिया। तो गुन उसका क्यों रहे।" (शाह बुरहान ख़ानम, मृ० १५८२ ई०)

ऊपर के उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि कुली क़ुतब के समय तक हिन्दवी और दकिनी साहित्य मुख्यतयः प्रयोगात्मक ही रहे। साहित्यक चेष्टा बहुत कम दिखलाई पड़ती है। खड़ी बोली की व्यापकता का लाभ उठाकर मुसलमान पीर, सूफ़ी, संत इसी को जनता में प्रचार का साधन बनाते थे। क़ुली क़ुतबशाह के दरबार में जो लौकिक साहित्य रचा गया, उस पर हिन्दी-संस्कृति का प्रभाव अवश्य है। उदाहरण के लिए मुहम्मद अफ़जल की 'विकट कहानी' का यह सावन-वर्णन :

चढ़ा सावन बजा मारू नगाड़ा। सजन बिन कौन है साथी हमारा
घटा कारी ओ मदमाती यों आही। बिरहों की फौज़ ने कीने चढ़ाही
पपीहा पीउ पीउ निसदिन पुकारा। पुकारत दादुर ओ चिंघर जंगारा
अरी जब कूक कोयल नैं सुनाई। तमामी तनबदन में आग लाई
अँधेरी रैन जुगनू जगमगाता। अरी जलती उपर हैं क्या जलाता
सुनी जब मोर की आवाज बन सों। शकीब अज दिल शुदा आराम तन सों
चला सावत दिगर साजन न आही। अरी किन सोकनी तूने चलाही

यह स्पष्ट है कि इस काव्य के पीछे हिन्दी काव्य की प्रेरणा थी। इस समय के सारे सूफ़ी और लौकिक हिंदवी और दकिनी साहित्य में हिन्दी मुहावरे, हिन्दी शब्द, हिन्दी साहित्य-परंपरा, हिन्दी भाषा अपने विकृत रूप में मिलते हैं। खड़ी बोली साहित्य में इस साहित्य का भी ऐतिहासिक महत्त्व है।

उत्तर मध्य युग

१६००—१८००

उत्तर मध्ययुग का समय १६५० ई० से १८०० ई० तक आता है। पहले पचास वर्षों में मुग़लों का राज्य रहा, परन्तु शेष वर्षों में राजनैतिक क्षेत्र में इतनी उछृंखलता रही कि इस काल को "अंधकार युग" ही कह दिया जाता है। वास्तव में यह काल कला के उत्थान और पतन का इतिहास है। समाज संगठित अवस्था से धीरे-धीरे विशृंखलता की ओर बढ़ रहा था। पतनोन्मुख संस्कृति में ऐहिकतावाद और शृगांर का आधिक्य होता है। इस काल में भारतीय संस्कृति ह्रासोन्मुख थी, अतः उसके साहित्य में ऐहिकतावाद और शृंगार का ही आधिक्य है।

राजनैतिक अवस्था

इस सारे काल में दिल्ली में मुग़ल बादशाहों का राज्य रहा परन्तु वास्तव में राजनैतिक शक्तियों के अध्ययन की दृष्टि से यह काल दो भागों में बाँटा जा सकता है। विभाजन रेखा १७१० ई० के लगभग होगी। इसके पहले भाग में मुग़लों का शासन सर्वोच्च शिखर पर पहुँच कर धीरे-धीरे पतन की ओर बढ़ने लगा था। १६२८ ई० से १६५८ ई० तक शाहजहाँ का राज्य कलाकौशल आदि की दृष्टि से अपूर्व था। १७०७ ई० में आलमगीर के देहान्त के बाद मुग़लशक्ति का ह्रास हो गया और राजनैतिक क्षेत्र में दूसरी शक्तियाँ आईं। ये शक्तियाँ एक ओर मरहठों और सिक्खों की थी, दूसरी ओर पुर्तगाली, फ्रांसीसी और अंग्रेज़ी यूरोपीय शक्तियाँ थीं। १६७४ ई० में शिवाजी का रायगढ़ में राज्याभिषेक हुआ। १६८० ई० में शिवाजी की मृत्यु हुई और संभाजी गद्दी पर बैठे। १७१० ई० से १७१६ ई० तक मुग़लों ने सिक्खों पर बड़े बड़े अत्याचार किये। १७१५ ई० में राजपूताने के सारे हिन्दू राजा मुग़ल साम्राज्य से अलग हो गये थे। मरहठों ने चौथ लेना आरम्भ किया। १७४३ ई० में मालवा, १७५१ ई० उड़ीसा और बंगाल से चौथ लिया। १७३९ ई० में नादिरशाह ने हमले के दिल्ली की रही-सही शक्ति को भी तोड़ दिया। १७३८ ई० में अफ़ग़ानिस्तान मुग़लों के हाथों से निकल गया। १७५८ में दिल्ली भी निकल गई। १७४८ ई० से १७६१ ई० तक यूरोपीय

शक्तियों (फ्रांस और इङ्गलैंड) में युद्ध होता रहा। इंगलैंड विजयी हुआ। १७६८ में कम्पनी को बिहार-उड़ीसा की दीवानी मिली। १७६८ ई० में अहमदशाह अबदाली के आक्रमण ने मरहठों के स्वप्न तोड़ दिये। १८०३ में अंग्रेज-मरहठा-युद्ध में महाराष्ट्र शक्ति का अंत हो गया और पश्चिम भारत के सिक्खों के सिवा और कोई शक्ति न रही। १६०० ई० में चार्टर के अनुसार ईस्ट इंडिया कंपनी की नींव रखी गई। १६३४ ई० में कम्पनी को बंगाल में व्यापार करने का फ़रमान मिला। १७०० ई० में ३ गाँव कलकत्ते, गोविंदपुर और सुतानती ख़रीद कर फोर्ट विलियम कालेज की नींव डाली गई। इसके पश्चात् कम्पनी ने राजनैतिक क्षेत्र में प्रवेश किया।

१७५८ में क्लाइव पहला गवर्नर नियुक्त हुआ। तब से १८०५ तक कम्पनी के राज्यविस्तार का इतिहास चलता है। १७५७ ई० में प्लासी की लड़ाई के बाद २४ परगने की ज़मींदारी कंपनी के हाथ आई। १७७३ ई०—१७७४ ई० में इलाहाबाद और कड़ा भी अंग्रेज़ी इलाके में सम्मिलित हो गये। दक्षिण में टीपू और हैदरअली की समाप्ति ने अंग्रेज़ी शक्ति को सुदृढ़ नीवों पर प्रतिष्ठित कर दिया (१७६६)। दूसरे मरहठा-युद्ध (१८००-२४) की समाप्ति पर बहुत-सा मराठा प्रदेश अंग्रेज़ों की छत्रच्छाया में आ गया। इस युद्ध के साथ ही सारा मध्य देश (अवध को छोड़कर) अंग्रेज़ों के हाथ पड़ा। १८४७ के दूसरे सिक्ख-युद्ध तक पंजाब में सिक्खों का राज्य रहा। मरहठा शक्ति १८५८ में समाप्त हुई। अवध १८२६ में अंग्रेज़ी राज्य में आ गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यह सारा काल, पहले ५० वर्षों को छोड़ कर, मुगलराज्य के क्रमिक ह्रास हिन्दू शक्तियों के उत्थान और पतन तथा अंग्रेज़ी शक्ति के क्रमिक विकास का इतिहास है। आये दिन के युद्धों के नीचे निष्प्राण भारतीय जनता का व्यक्तित्व पददलित हो रहा था—इसीलिए हम साहित्य, कला और कौशल में जनता का व्यक्तित्व उभरता हुआ नहीं पाते।

सामाजिक परिस्थिति

सामाजिक परिस्थिति में विशेष अंतर नहीं हुआ था। पूर्व मध्यकाल के आन्दोलनों ने समाज में जिन नई शक्तियों का प्रादुर्भाव किया था, उनमें शिथिलिता आ गई थी। संतों का वर्णाश्रम के प्रति विरोध भी कम हो गया था। ब्राह्मण की उच्चता पौराणिकों ने एक बार फिर स्थापित कर दी थी। हिन्दू मुसलमानों का सांस्कृतिक विरोध उसी प्रकार चला आता था। भेद-प्रभेद के कारण बिरादरी की संस्थाओं में प्रतिदिन बढ़ती हो रही थी।

आवागमन के साधन अच्छे न होने के कारण यह आवश्यक भी था। अराजकता के उस युग में दूर प्रदेश के निवासियों से न संबंध जोड़े जा सकते थे, न बनाये ही रखे जा सकते थे। सारे देश में ठगों, चोरों, डाकुओं, और युद्धजीवी वर्गों का हडकंप था। इससे समाज की आत्मा संकुचित हो गई थी। वह आत्मनिष्ठ और रूढ़िनिष्ठ था। मंथरा के शब्दों में वह बराबर यही जपता रहा—

"कोउ नृप होइ हमें का हानी
चेरी छाड़ कि होइब रानी"

ज्ञान के प्रसार में बाधा उपस्थित होने के कारण अंध-भ्रांतियों और अंध-रूढ़ियों की जड़ें समाज में गहरी होती रहीं। साधारण जनता ही नहीं, संस्कृतिनिष्ठ उच्च वर्ग भी रूढ़ियों और भ्रांतियों का शिकार हो रहा था।

धार्मिक परिस्थिति

इस काल में कोई ऐसी नवीन धार्मिक उद्भावना नहीं हुई जिससे राष्ट्र में चेतना आती। अवश्य ही, मरहठों पर स्वामी रामदास समर्थ का प्रभाव पड़ा और सिक्खों के दसवें गुरु गोविन्दसिंह ने युद्धजीवी ख़ालसा की स्थापना करके नानक-पंथ में प्राण डाल दिये। परन्तु यह हिन्दू जातीयता का वह आक्रमणकारी रूप था जो उसने राजनैतिक परिस्थिति-वश ग्रहण कर लिया था। संतों के सुधार-आन्दोलन क्षीण पड़ गये थे यद्यपि कितने ही पंथों का अविर्भाव इस काल में हुआ है। उनमें वैष्णव सम्प्रदायों की सारी मान्यताएँ प्रवेश कर गई थीं। वे किसी तरह प्रगतिशील आन्दोलन नहीं रहे थे। सच तो यह है कि पौराणिकों और सगुण वैष्णव भक्तों के कारण संतों द्वारा उपस्थित की हुई प्रगतिशील शक्तियाँ दब गईं। यही नहीं, कृष्णभक्तों के प्रचार ने जनता को शृङ्गार का रुचिकर मार्ग दिखाया। मुगल विलासिता की चकाचौंध से आश्चर्यान्वित जनता और राजे-महाराजे शृंगार सम्बंधी साहित्य और शृङ्गारसमन्वित कृष्ण-भक्ति की ओर ही झुके। इस धार्मिक अराजकता और विश्रंखलता में तुलसी की रामभक्ति और उनके रामचरित-मानस ने ही हिन्दू जनता को आर्य संस्कृतिनिष्ठ रखा।

साथ ही इस सारे काल में दक्षिण और पूर्व में ईसाई धर्म-शक्ति धीरे-धीरे निम्नवर्ग की जनता में अपना प्रचार-आन्दोलन दृढ़ कर रही थी परन्तु ये क्षेत्र हिन्दी से दूर थे।

भाषा और साहित्य-सम्बन्धी परिस्थिति

इस काल में हिन्दी प्रदेश में कई भाषाओं का व्यवहार हो रहा था। मुसलमान, कायस्थ और काश्मीरी ब्राह्मण फ़ारसी और उर्दू साहित्य का भंडार भर रहे थे। राजकीय आश्रय भी फ़ारसी को ही प्राप्त था। हिन्दी का साहित्य दो भागों में बँटा हुआ था; एक राजाश्रयी, दूसरा जनाश्रयी। जनाश्रयी साहित्य धर्म को लेकर चल रहा था। इस काल में अवधी और ब्रज दोनों भाषाओं में प्रचुर धर्म-काव्य लिखा गया यद्यपि वह प्राचीन परंपरा से ग्रस्त था। संत-काव्य भी बड़ी वृहद मात्रा में बना। एक तीसरी प्रकार का जनसाहित्य वार्ताओं (कथाओं) का था। ८४ और २५२ वैष्णावों की वार्ताएँ धर्म की दृष्टि से लिखी गईं; परन्तु राजपूताने में इतिहास को लेकर कितनी ही बातों और ख्यातों की रचनाएँ हुईं। यह भी दृष्टव्य है कि इसी काल से इस प्रकार के कथा-साहित्य द्वारा हिन्दी गद्य की नींव दृढ़ हुई यद्यपि प्रधानता पद्य ही की रही।

राजाश्रय का साहित्य ब्रजभाषा और बुन्देलखंडी में है। इसमें शृङ्गार रस की ही प्रधानता है यद्यपि नीति-संबंधी भी बहुत कुछ मिल जायगा। आश्रय-दाताओं की कुरुचि और समय के वातावरण के कारण इस साहित्य का बहुत कुछ उच्चकोटि का नहीं है। कला की वृद्धि हुई। कृत्रिमता को आश्रय मिला। राधाकृष्ण के धार्मिक नामों के पीछे नायक-नायिकाओं की विलास-लीलाओं को चित्रित किया गया। इस प्रकार का साहित्य मुसलमान राजाश्रय में निर्मित फ़ारसी साहित्य से किसी भी तरह कम शृङ्गारिक, कम ऐहिक और कम कला-पूर्ण नहीं है। वास्तव में एक ही प्रकार के मनुष्यों की रुचि के आश्रय में बनने के कारण दोनों साहित्य समान रूप से प्रभावित हुए।

इस सारे काल में वही साहित्य अपेक्षाकृत महत्वपूर्ण है जो वीर कवियों और चारणों द्वारा प्रस्तुत हुआ है। भूषण, गुरु गोविन्दसिंह, लाल जैसे वीर कवियों के कारण ही यह काल लांच्छना से बच सकता है। वास्तव में यदि यह सिद्ध करना हो कि काव्य अपने समय के वातावरण और लोकरुचि का ही प्रतिबिंब होता है, तो उदाहरण के लिए उत्तर मध्यकाल का साहित्य उपस्थित किया जा सकेगा।

शिक्षा और कला

इस काल में आंतरिक अव्यवस्था के कारण शिक्षा का अत्यन्त ह्रास

हुआ। राजाश्रय से संबंधित व्यक्ति फ़ारसी का अध्ययन करते थे। शेष जनता कदाचित् ही अक्षरज्ञान तक पहुँचती थी। मुग़लों की शक्ति के पतन के साथ मदरसों, मकतबों, ख़ानकाहों और पाठशालाओं की दुर्दशा हो गई। उन्हें धनाभाव के कारण अपने कार्यक्षेत्र को सीमित करना पड़ा। अराजकता के कारण विद्यार्थियों का दूर देश में विद्याध्ययन के लिए जाना भी असंभव था। अतः अपने ही प्रदेश के आस-पास के गाँव-नगर के विद्वान के पास जाकर अध्ययन करने की बात चली। परन्तु इस तरह शिक्षितों की संख्या और सीमित हो गई। शिक्षा भी शीघ्रबोध, दुर्गासतशती और हिन्दी लक्षण-ग्रंथों तक ही बँधी रह गई।

शिक्षा के ह्रास और राजशक्ति के पतन के साथ कला का पतन भी आवश्यक है। इसी से पिछले १६० वर्षों में एक भी महत्त्वपूर्ण कलासृष्टि हमारेसामने नहीं आई। जो कुछ कार्य इस दिशा में हुआ भी, वह मुग़लों का अनुकरण मात्र था। वास्तव में मुग़लों के राजाश्रय में (हमारे काल-विभाग के पहले २५-३० वर्षों में) स्थापत्य, संगीत और चित्रकला जैसी कलाएँ अत्यन्त उच्च शिखर पर पहुँच कर औरंगजेब के कलाद्वेष और उसके बाद की अशांति के कारण पतन के गर्त में ढह गईं।

रीतिकाल की कविता

हिन्दी कविता के रीति-काल के विषय में लोगों में बड़ा मतभेद है। ३०० वर्ष तक हिन्दी-काव्य-साहित्य में एक विशेष प्रकार की प्रवृत्ति चलती रही परन्तु कुछ सामान्य बातों पर ध्यान देने के अलावा इस प्रवृत्ति के मूल तत्त्वों, उसके विकास एवं उसके परिवर्तनों के विषय में अधिक अनुसन्धान नहीं किया गया है।

इस काव्य-धारा को समझने के लिए हमें कई बातों को भूमिका-रूप में समझा देना होगा। १—इस काव्य के कवियों का ध्यान भक्ति, नीति अथवा आचार की ओर नहीं था। इन्होंने लौकिक प्रेम के अनेक रूपों को हमारे सामने रखा। संक्षेप में मूल भावना शृंगार की थी। २—इस काव्य का वह रूप जो इन कवियों ने उपस्थित किया, मुक्तक का था, प्रबन्धात्मक काव्य का नहीं। मुख्य छन्द कवित्त, सवैया, दोहा और बरवै थे। ३—काव्य की आत्मा की ओर से हटकर कवि की दृष्टि कला की ओर गई और वह वहीं अटक

गई। उस समय तक कृष्ण-भक्त कवियों के प्रयोग से ब्रजभाषा हिन्दी प्रदेश की काव्य-भाषा बन चुकी थी और विशेष रूप से मंज कर प्रौढ़ता को प्राप्त हो गई थी। भाषा की अभिव्यंजना शक्ति, शब्दकोष और लचक बढ़ जाने के कारण कला को अधिक प्रश्रय मिला। इसीलिए डा० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' ने रीतिकाल को 'कलाकाल' नाम दिया है। यह एक दिशा है। ४—कवियों ने काव्य-शास्त्र में शिक्षा-दीक्षा ली। उन्होंने रस, अलंकार और छन्दों के उदाहरण-स्वरूप कविता करने की परिपाटी का पालन किया।

केवल कुछ ग्रंथों को छोड़ कर जो नखशिख, षटऋतु, अलकशतक, तिलक-शतक जैसे बँधे हुए विषयों को लेकर चलते हैं, शेष सारा काव्य रसों अलंकारों और छंदों के उदाहरण-स्वरूप ही उपस्थित हुआ है यद्यपि उसमें कवि का लक्ष्य स्वतन्त्र रचना ही है। लक्षणों की ओर उसका ध्यान-भर ही रहता है। इसमें भी अधिकांश काव्य-सम्पदा का संबंध नायिकाभेद से है। जैसे पिछले युग में रामकृष्ण के नाम, गुण, रूप, लीलाओं आदि का इतना महत्त्व रहा कि जीवन के और अनेक अंग अछूते ही पड़े रहे उसी प्रकार इस युग में लौकिक प्रेमलीला ही में जीवन की समाप्ति समझ ली गई। यह प्रवृत्ति यहाँ तक दृढ़ हुई कि भक्त-काव्य के राधाकृष्ण लौकिक नायक-नायिकाओं के रूप में ही चित्रित किये गये।

हिन्दी में रस-निरूपण करने वाले पहले कवि कृपाराम थे जिन्होंने १५४१ में इस प्रकार का काम किया। इसी समय के लगभग मोहनलाल मिश्र ने भी रस-विषयक अपना ग्रन्थ शृंगारसागर लिखा। इनके अनन्तर अकबरी दरबार से संबंधित करनेश कवि ने अलंकार-संबंधी तीन ग्रन्थ करनाभरण, श्रुतिभूषण और भूपभूषण लिखे, इस प्रकार रस और अलंकार-ग्रन्थों का प्रणयन १५४१ से ही प्रारम्भ हो गया था, परन्तु ये प्रयत्न संस्कृत साहित्य शास्त्र से बहुत अधिक प्रभावित नहीं थे, न उस समय इस प्रकार की कोई परिपाटी उठ खड़ी हुई थी, जैसा बाद में हुआ। ऊपर के किसी भी कवि ने काव्यांगों का पूरा परिचय भी नहीं कराया था।

संस्कृत साहित्य के सभी काव्यांगों का परिचय कराने वाले पहले कवि आचार्य केशवदास थे जिन्होंने कविप्रिया और रसिकप्रिया के द्वारा हिन्दी में संस्कृत रीति-शास्त्र को हिन्दी में ला प्रतिष्ठित किया। केशवदास ने भामह, उद्भट और दंडी आदि प्राचीन आचार्यों का अनुसरण किया जो रस-रीति आदि को भी अलंकार मान लेते थे। उनकी प्रकृति स्वयम् चमत्कार-प्रियता

की ओर थी और इसी से उन्होंने संस्कृत साहित्य-शास्त्र के विकास-क्रम की ओर दृष्टिपात नहीं किया। उन्होंने संस्कृत साहित्य शास्त्र की ऐसी पुस्तकों को अपनाया जो साहित्य-शास्त्र के विकास की दृष्टि से बहुत पीछे पड़ गई थीं।

रीति-ग्रन्थ रचने की परिपाटी आधी शताब्दी बाद चली। उसने परवर्ती संस्कृत आचार्यों का आश्रय लिया। अलंकार-ग्रन्थों का प्रणयन चन्द्रालोक और कुवलयानन्द के अनुसरण में हुआ और काव्य के रूप के संबंध में रस को प्रधान मानने वाले ग्रन्थों काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण को आधार बनाया गया। रीति-ग्रन्थ लिखने की अखंड परम्परा चिंतामणि त्रिपाठी से आरम्भ होती है जिन्होंने १६४३ के लगभग काव्य-विवेक, कविकुल कल्पतरु और काव्यप्रकाश की रचना की एवं एक पुस्तक छन्द-शास्त्र पर भी लिखी। इस परम्परा के कवि दोहे में लक्षण लिखते थे और कवित्त या सवैये में उसका उदाहरण देते थे। इस प्रकार एक दोहे में लक्षण स्पष्ट नहीं हो सकता था, न उसमें विवेचन के लिए ही स्थान था। इस काम के लिए गद्य अधिक उपयुक्त होता परन्तु गद्य विशेष प्रयोग में नहीं आ रहा था।

दूसरी बात यह है कि आचार्य का ढोंग भरने पर भी इन कवियों में न इतनी अधिक विद्वत्ता थी जितनी संस्कृत कवियों में, न सूक्ष्म पर्यालोचन-शक्ति। उन्होंने संस्कृत रीति-शास्त्र को किसी प्रकार आगे नहीं बढ़ाया। लक्षण-ग्रन्थ लिखना बहाना मात्र था, उद्देश्य कविता था। एक दोहे में अपर्याप्त लक्षण लिखकर कवि आगे बढ़ जाता था। कभी-कभी उसका उदाहरण लक्षण से मेल भी नहीं खाता था। कुछ अलंकारों के भेद न समझने के कारण गड़बड़ी हो गई थी और प्रायः हिन्दी और संस्कृत आचार्य-कवियों के भेद भिन्न हो गये। परन्तु इस विभिन्नता का कारण कोई वैज्ञानिक दृष्टिकोण नहीं था, अतः हिन्दी साहित्य में अलंकारों आदि का अध्ययन विकास की दृष्टि से नहीं किया जा सकता।

संस्कृत साहित्य में आचार्य और कवि भिन्न व्यक्ति थे। आचार्य साहित्य-शास्त्र पर व्यवस्था देते थे। उनके विवेचन के आधार कवि थे। उनके उदाहरण कवियों की कृतियों से ही लिए होते हैं। परन्तु हिन्दी में कवि आचार्य का काम करने लगा जिसके लिए वह अधिक उपयुक्त नहीं था। यह एक विचित्र बात थी। इसने साहित्यशास्त्र की भली भांति मीमांसा नहीं होने दी। उस समय तक हिन्दी काव्य में यथेष्ट उन्नति हो चुकी थी। परन्तु शायद

साहित्यशास्त्र की दृष्टि से वह इतनी महत्वपूर्ण नहीं थी। इसलिए हिन्दी के इन कथित आचार्यों ने हिन्दी कवियों की रचनाओं को आधारभूत नहीं माना। ये संस्कृत के अनुवाद की ओर झुके। उनकी अधिकांश रचनाएँ अनुवाद मात्र हैं। तात्पर्य यह है कि विस्तृत विवेचन के दर्शन कहीं नहीं मिलते। वास्तव में साहित्यशास्त्र के अनेक विषयों को अछूता छोड़ दिया गया है। दृश्य-काव्य की विवेचना बिल्कुल नहीं हुई। शब्दशक्ति पर केवल कुछ ही लक्षणकारों का ध्यान गया। जहाँ विवेचन किया भी गया वहाँ भी वह अस्पष्ट और भ्रान्तिमूलक हैं। अधिकांश लक्षण-ग्रंथ रस और अलंकार से ही संबंधित रहे। केशवदास को छोड़कर, जो स्पष्टतः अलंकारवादी थे, अन्य लेखकों ने रस को ही काव्य की आत्मा माना परन्तु वह भी किसी विशेष सिद्धांत के अनुसार नहीं। उन्हें हम रसवादी नहीं कह सकते। सच तो यह है कि हिन्दी में अलंकारवाद, रीतिवाद, रसवाद, ध्वनिवाद, वक्रोक्तिवाद आदि सम्प्रदाय नहीं चले। उनके लिये जिस विशेष अध्ययन और सूक्ष्म विवेचनात्मक प्रतिभा की आवश्यकता थी, वह इस युग में दुर्लभ थी।

अलंकारों का विशेष वर्णन तो रहा, परन्तु उनका वर्गीकरण करने की कोई चेष्टा नहीं हुई। जहाँ (जैसे दास के काव्यनिर्णय में) वर्गीकरण दिखलाई भी देते हैं, वहाँ भी वास्तव में किसी विषय या सिद्धान्त को आधार नहीं बनाया गया, केवल कुछ अलंकारों को विशेष प्रकरण मात्र में रख दिया गया है। वास्तव में जैसा पं० रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है "इन रीति-ग्रंथों के कर्ता भावुक, सहृदय और निपुण कवि थे। उनका उद्देश्य कविता करना था, न कि काव्यांगों का शास्त्रीय पद्धति पर निरूपण करना। अतः उनके द्वारा बड़ा भारी कार्य यह हुआ कि रसों (विशेषतः शृंगार रस) और अलंकारों के बहुत ही सरस और हृदयग्राही उदाहरण अत्यन्त प्रचुर परिमाण में प्रस्तुत हुए। ऐसे सरस और मनोहर उदाहरण संस्कृत के सारे लक्षण-ग्रन्थों से चुनकर इकट्ठे करें तो भी उनकी इतनी अधिक संख्या न होगी।"

शृंगार-रस-निरूपण ने हिन्दी में विशेष परिस्थिति उत्पन्न कर दी। शृंगार रस के आलम्बन नायक-नायिका हैं, इसलिए नायिका-भेद पर दृष्टि गई। अनेक ग्रन्थ केवल नायिका-भेद पर लिखे गये। नई-नई नायिकाओं की सृष्टि हुई। फल यह हुआ कि नायिकाओं की संख्या में बहुत वृद्धि हो गई। नायिका के अंगों के वर्णन को स्वतंत्र विषय बना लिया गया और उन पर अलग-अलग रचनाएँ हुईं। इस प्रकार नखशिख-साहित्य का जन्म

हुआ। यही नहीं, तिल और अलक पर भी बहुत कुछ कहा गया। प्रकृति का प्रयोग केवल उद्दीपन के रूप में किया गया। संस्कृत साहित्य से षटऋतु-वर्णन-पद्धति ग्रहण की गई, परन्तु उसका आधार शास्त्रीय ज्ञान रहा, स्वतंत्र प्रकृति पर्यवेक्षण नहीं, इसके अतिरिक्त एक नई पद्धति बारहमासा (बारहों महीनों में विरहिणी की दिनचर्या) लिखने की चल पड़ी। कदाचित् इसका कारण हिन्दी लोक-गीतों का प्रभाव हो। इसका मूल भी विप्रलंभ में था।

रीति-काव्य के कवियों में एक दूसरा वर्ग ऐसे कवियों का था जो एकदम लक्षण-ग्रन्थों की रचना करने नहीं बैठा, परन्तु साहित्य-शास्त्र उन्हें भी अलक्षित रूप से प्रभावित कर रहा था। ऐसे कवियों की रचना तुलना की दृष्टि से पहले कवियों की रचनाओं से अधिक महत्वपूर्ण है। इस वर्ग के हम दो भाग कर सकते हैं। पहले वर्ग के कवियों (विहारी, मतिराम आदि) पर साहित्य-शास्त्र, कला और संस्कृत साहित्य का प्रभाव था। दूसरे वर्ग के कवियों में (जो उत्तरार्ध में आते हैं जैसे बोधा और घनानन्द) अनुभूति की प्रधानता थी और मौलिकता की मात्रा अधिक थी।

रीतिकाल की रचनाओं के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस पर संस्कृत रीतिशास्त्र का प्रभाव तो था ही, परन्तु इससे भी अधिक संस्कृत काव्य-परम्परा का। हमें उन्हीं कवि-प्रसिद्धियों और कवि-समयों के दर्शन होते हैं जो संस्कृत के परवर्ती काव्य में ग्रहण हुए थे। नायिका के अंगों के उपमानों के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है। जहाँ कहीं फ़ारसी आदि का प्रभाव लक्षित है वहाँ भी वह परवर्ती कवियों (गोवर्धनाचार्य आदि) के ढंग पर ग्रहण किया गया है। इस प्रकार इस काव्य की आत्मा संस्कृत के परवर्ती काल से बल पाती है। वह मूलतः भारतीय है, यद्यपि वासना-ऐश्वर्य मूलक। उसमें एक प्रकार से भक्त काव्य के प्रति प्रतिक्रिया भी है जो नैतिक, रोमांटिक और पारलौकिक था। इसके विपरीत रीति-काव्य नैतिक भावनाओं से हीन, क्लासिकल और ऐहिक (लौकिक) था। परन्तु यह नहीं समझना चाहिये कि इस प्रकार की कविता में उस समय की जनता की मूल मनोवृत्ति पाई जाती है! जहाँ तक कलाप्रियता की बात है वहाँ तक तो यह ठीक है परन्तु "शृंगार के वर्णन को बहुतेरे कवियों ने अश्लीलता की सीमा तक पहुँचा दिया था। इसका कारण जनता की रुचि नहीं आश्रयदाता राजा-महाराजाओं की रुचि थी जिनके लिए कर्मण्यता और वीरता का जीवन बहुत कम

रह गया था।" जिस प्रकार राजा-महाराजा और मध्यवर्ग के पंडित या कायस्थ-समाज का जीवन निश्चित परिपाटी से बँध गया था, उसी तरह यह काव्य परिपाटी से बँधा हुआ था।

एक प्रकार से अधिकांश काव्य नागरिक था। उसके प्रकृति-वर्णन कल्पना-मूलक और शास्त्र एवं साहित्य प्रेरित थे। हाँ, बरवों और दोहों में कुछ-कुछ प्राकृत गाथाओं के लेखकों के साहित्य और उनके दृष्टिकोण को अपनाने के कारण गाँव की प्रकृति और ग्रामीण प्रेम एवं ग्रामीण नायक-नायिकाओं का चित्रण हुआ जो इस सारे साहित्य में वही स्थान रखता है जो मरुभूमि में निर्मल जलाशय। यहाँ एक बात पर और ध्यान देना है। इस काल का अधिकांश प्रेम-साहित्य राधाकृष्ण का आलम्बन लेकर चलता है।

परन्तु जैसा प्रत्येक काल में होता आया है इस काल में भी पुरानी काव्य-प्रवृत्तियाँ चलती रहीं। इसका कारण था कि उनके उपादान अब भी क्षेत्र में उपस्थित थे। संतों, भक्तों और चारणों का अभाव नहीं हो गया था। इन्होंने क्रमशः संतकाव्य, भक्तकाव्य, और चारणकाव्य (या वीरकाव्य) की परंपरा में योग दिया। फिर भी मूल प्रवृत्ति शृंगार की ही थी और इसीलिए हम इस काल को रीतिकाल या कलाकाल कहते हैं।

अ—रीति-काव्य

हिन्दी के रीति-काल का मूल जन-भावना या लोक-रुचि, ऐहिकता और संस्कृत एवं अपभ्रंश की परम्परा में है। इसका रूप मुक्तक काव्य का है और इसकी अन्तर्गत धारा शृंगार रस की है। रस, अलंकार, नायिका-भेद, नायक-नायिका के अंगों और उनके विलास का वर्णन—ये इसके विषय हैं। इनमें से नायिका-भेद कामशास्त्र का अंग है। अन्य विषयों के चिन्तन में भी मौलिकता अधिक नहीं है।

रीति-काव्य का आरम्भ अपभ्रंश से होता है और इसका सम्बंध हिन्दी प्रदेश के पश्चिमी भाग से है। सन् ईसवी के आरम्भ के पास ऐसी रचनाएँ दीख पड़ती हैं जो रीतिशास्त्र पर आश्रित हैं। इस प्रकार की सबसे प्राचीन रचना प्राकृत भाषा में लिखी हाल की सतसई है। इससे पहले मुक्तक के दर्शन नहीं होते। इसका प्रभाव संस्कृत पर भी पड़ा और उसमें सतसई, शतक, आदि मुक्तक लिखने की परम्परा खूब विकसित हुई। गोवर्धनाचार्य ने हाल की सतसई के आधार पर आर्यासप्तशती लिखी और अमरुक ने अमरुकशतक की रचना की।

सतसई-साहित्य लोक-साहित्य नहीं है परन्तु वह अन्य साहित्यों की अपेक्षा लोक-जीवन के निकटतर अवश्य है। यह साहित्य ऐहिक जीवन की प्रतिदिन की छोटी-छोटी घटनाओं पर आश्रित होता है। लौकिक प्रेम-भावना, धर्म-भावना और आचार-विचार एवं जन-साधारण के व्यवहार इसमें प्रतिबिम्बित होते हैं। प्रेमी-प्रेमियों की शृंगारिक क्रीड़ाएँ निःसंकोच कह डाली जाती हैं। ये प्रेम-लीलाएँ नगर में नहीं, ग्राम में प्रतिष्ठित होती हैं। यह इस साहित्य की विशिष्टता है और इसीलिए इसके नायक-नायिका काम-कुशल और भावप्रवण तो अवश्य होते हैं परन्तु वे अहीर-अहीरिन होते हैं। बाद के साहित्य में इनके साथ-साथ राधा और कृष्ण भी स्थान पाते हैं। कवि उन्हें भी सामान्य प्रेमी-प्रेमिका के रूप में देखता है।

यह हम कह चुके हैं कि भावधारा के रूप में शृङ्गार रस प्रधान है। परन्तु शास्त्रीय दृष्टि से अलंकारों को ही विशेष महत्व मिला है, रस को नहीं। वास्तव में रस, अलंकार और ध्वनि को एक स्थान पर एकत्रित करने की चेष्टा की गई है जो सब जगह समान रूप से सफल नहीं हुई है।

संस्कृत अलंकारशास्त्र में आचार्य व्याख्याता होता था, कवि नहीं। वह अपने मत के समर्थन में प्रसिद्ध रचनाओं से लक्षण उपस्थित करता था। संस्कृत के आचार्य अपने अलंकारशास्त्र और रस-ग्रन्थों में उदाहरण-स्वरूप प्राकृत, अपभ्रंश (गाथा) और संस्कृत के श्लोक उद्धृत करते थे। उन्होंने स्वयम् उदाहरण उपस्थित करने का प्रयत्न नहीं किया। मुक्तकों से सब प्रकार के लक्षण उपस्थित करना सरल था, इसलिए सैकड़ों मुक्तक पद और श्लोक उद्धृत किए गये। यहाँ हिंदी में एक दूसरी रीति चली। कवित्व और आचार्यत्व के मेल करने का प्रयत्न हुआ। ग्रन्थकर्ता लक्षण स्वयम् गढ़ता था। रीति-काव्य का एक बड़ा भाग अलंकारों को स्पष्ट करने के लिए ही लिखा गया है, परन्तु सूक्ष्म अध्ययन करने से यह पता चलता है कि हिन्दी रीति-काल के कवियों में लक्षणों की शुद्धता का ध्यान रखने और अलंकार-विषयक अन्वेषण की प्रवृत्ति इतनी नहीं थी, जितनी किसी प्राचीन आचार्य के रीति-ग्रंथ का सहारा लेकर लक्षण के बहाने से स्वतंत्र रचना करने की। इसी से कभी-कभी वे ऐसे उदाहरण गढ़ते हैं जो किसी भी प्रकार परिभाषा पर पूरे नहीं उतरते या जब कभी उन्हें पता चल जाता है कि उनका उदाहरण प्रसिद्ध लक्षण से भिन्न है तो उसकी शुद्धता सिद्ध करने के लिए वे एक नये भेद की स्थापना कर लेते हैं।

रीति के तीन अंग हैं—रस, अलङ्कार, ध्वनि। रस की शास्त्रीय व्यवस्था सबसे प्राचीन है। यह भरतमुनि के नाट्य शास्त्र में मिलती है। वास्तव में रस का प्रधान माध्यम नाटक ही होगा। अलङ्कारशास्त्र का संबंध केवल भाषा से है, अतः उसका माध्यम काव्य है। भरतमुनि के नाट्य शास्त्र में प्रसंग-वश केवल कुछ अलङ्कारों की चर्चा कर दी गई है परन्तु उनका विशेष विवेचन बाद में हुआ। ध्वनि-सम्प्रदाय (प्रवर्तक, आनन्दवर्धनाचार्य) में रस और अलङ्कार को एक स्थान पर एकत्र किया गया। आनन्दवर्धनाचार्य ने कहा कि रस ध्वनित भी हो सकता है, अतः जहाँ केवल अलङ्कार है वहाँ भी रस की ध्वनि उत्पन्न की जा सकती है। इस व्याख्या के अनुसार फुटकल पदों में अलङ्कार के साथ रस का सृजन भी संभव समझा गया। हिन्दी रीति-काल में उसी ध्वनि-सम्प्रदाय का अनुसरण किया गया।

इसी रीति-विवेचन में एक चौथी धारा कामशास्त्र की मिल गई थी। ऐसा संस्कृत साहित्य में ही हो चुका था। संस्कृत के कवि प्रेम-प्रसंग में कामशास्त्र के ज्ञान का पर्याप्त परिचय देते हैं। हिन्दी में प्रेम के व्यावहारिक चित्रण में इससे सहायता ली गई।

नाट्य शास्त्र में रसनिरूपण करते समय नायिका-भेद की चेष्टा की गई थी। हिन्दी रीति-कालीन कविता में इसे काव्य का विषय बना लिया गया और कल्पना के बल पर बड़ी दूर तक विकसित किया गया।

परन्तु रीति अंगों के अतिरिक्त संस्कृत काव्य-साहित्य की कवि-प्रसिद्धियाँ और काव्य-रूढ़ियाँ और संस्कृत-शृंगार-काव्य के अंग भी हिन्दी के रीति-काव्य में प्रवेश कर गये। स्त्री के अंगों के उपमान, कवि-समय, और पिंगल (छन्दों) के विषय में भी इस काव्य पर संस्कृत का विशेष आभार है। इनके अतिरिक्त राधा-कृष्ण के प्रेम-प्रसंग (दानलीला, मान, मानमोचन, रास और बंशी-वादन आदि) जो कृष्ण-काव्य के प्रमुख अंग थे और जिनका निरूपण रीतिशास्त्र के ढंग पर होता था या हो सकता था; हिन्दी रीति-काव्य में आ गये और उसके आवश्यक अङ्ग बन गये।

यों तो हिन्दी के आविर्भाव-काल में ही काव्य और अलङ्कारशास्त्र पुष्ट हो चुका था। कवि लोग काव्य-विवेचना को दृष्टि में रख कर कविता करते थे। चंद्र, सूर, तुलसी आदि में दो बातें साफ़ दिखलाई देती है। चारणों और भक्त कवियों ने कवित्व-कौशल दिखाने की चेष्टा की है। उन्होंने रस, अलङ्कार और नायिका-भेद को कुछ-कुछ दृष्टि में अवश्य रखा है। परन्तु रीति-

काल में काव्यकौशल (कला) का महत्व इतना अधिक तो हो गया था जितना और किसी काल में नहीं हुआ था। रस, अलङ्कार और नायिका-भेद ही सब कुछ हो गये, भाव की मौलिकता कुछ नहीं रही। इसी से फुटकल पदों की भरमार हो गई। सारा रीति-काव्य मुक्तक रूप में उपस्थित हुआ है। यह मुक्तक काव्य दोहा, सवैया और कवित्त छन्द में ही अधिक है। सबसे आश्चर्य की बात यह है कि इसका अधिकांश भाग रस, अलङ्कार एवं नायिका-भेद के रूप में उपस्थित किया गया है। वास्तव में नायिका-भेद रसशास्त्र के ही अन्तर्गत आ जाता है। परन्तु रीतिकाल के कवियों ने इसे स्वयम् एक स्वतंत्र शास्त्र बना लिया। सच तो है कि रीति-युग की मौलिकता नायिका-भेद के विस्तार में ही है। नाट्य शास्त्र की एक सामान्य बात को लेकर इतना तूल दे दिया गया है। कवियों की प्रवृत्ति अलङ्कार-निरूपण की अपेक्षा नायिका-भेद पर ही अधिक रही।

परन्तु यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि २००,-२५० वर्ष के इन कवियों के काव्य को क्या रस, अलङ्कार, नायिकाभेद के उदाहरण के रूप में ही समझा जाय? यह भूल होगी। सारे रीति-काल में रसों और अलङ्कारों के वैज्ञानिक अथवा शास्त्रीय विवेचन की प्रवृत्ति कहीं भी नहीं दीखती। कवियों ने विवेचना के लिए दोहा जैसे छोटे छन्द का प्रयोग किया है, अतः यह स्पष्ट है कि विवेचना उनका ध्येय थी ही नहीं। जिस तरह पिछले कवि (भक्त कवि) राधा-कृष्ण की लीला को कविता का बहाना समझते थे, उसी तरह इस युग के कवि लक्षणों को बहाना मात्र समझते थे। सच तो यह है कि उन्हें एक अच्छा सहारा हाथ लग गया था, इसी से वे अपने उदाहरणों में अधिक सतर्क भी नहीं जान पड़ते। इसीसे कहीं-कहीं जब उन्हें यह पता लगता है कि उनका उदाहरण उस अलङ्कार में नहीं आता जिसके उदाहरण-स्वरूप वह उपस्थित किया गया है, तो वह एक नया अलङ्कार-भेद गढ़ लेते हैं।

इस युग के आश्रय-ग्रन्थ कुवलयानन्द, चन्द्रालोक अथवा इसी युग के किसी हिन्दी कवि के अलङ्कार-ग्रन्थ होते थे। जिन कवियों ने लक्षणों के रूप में अपनी कविता उपस्थित नहीं की, वे भी रीति-ग्रन्थों से प्रभावित थे। पुरुष-रूप (नायक) का वर्णन बहुत कम किया गया और स्त्री-रूप के बहुत से प्राचीन उपमानों को भुला दिया गया। परन्तु यदि रीति-काव्य ने संस्कृत की सारी रूढ़ियाँ और कवि-प्रसिद्धियाँ नहीं अपनाईं तो उसने स्वयम् इस प्रकार की कुछ रूढ़ियाँ गढ़ लीं जिनसे कवि बराबर प्रभावित होते रहे। इन

कवियों ने लोक-जीवन को अधिक निकट से देखा, विशेषकर जहाँ तक शृङ्गार का सम्बंध है। परन्तु उन्होंने बहुधा उसे राधाकृष्ण की प्रेमलीला के रूप में हमारे सामने रखा। वास्तव में अलौकिक शृङ्गार की लौकिक प्रतिष्ठा भक्तों ने ही कर दी थी। कृष्ण, गोपियाँ, राधा की प्रेम-विरह और अभिसार-कथाएँ लोक-जीवन के प्रेम-विरह और अभिसार से मिल गई थीं। रीतिकाल में भक्ति की तन्मयता कम रही, काव्य और कला का पक्ष अधिक दृढ़ होने के कारण उसका रूप ही बदल कर सामने आया। भक्तों की कृपा से लोग लौकिक जीवन में अलौकिक और अलौकिक जीवन में लौकिक देखने लगे थे। शृङ्गार से समुद्र में कहीं-कहीं उनके भक्त हृदय का आलोक भी झलक जाता है तो हम आश्चर्य करते हैं, परन्तु यह आश्चर्य की बात नहीं। सच तो यह है कि इन कवियों ने काव्य-पक्ष में शास्त्रीय परम्परा (रस-अलङ्कार) का नेतृत्व स्वीकार कर लिया था, परन्तु भावपक्ष में वह लोक-जीवन और कृष्ण-चरित्र को लेकर ही चले थे।

कवियों की अनुकरण-प्रवृत्ति का फल यह हुआ कि वह उत्तर कालीन संस्कृत आचार्यों की दुनिया में रहने लगे। अलङ्कारों और नायक-नायिकाओं के बाहर की दुनिया के दर्शन उन्हें नहीं हुए। उन्होंने अपने स्वतन्त्र चिन्तन की बलि कर दी। स्वतंत्र चिन्तन की ही नहीं, स्वतंत्र व्यक्तित्व की भी।

रीति-काव्य का जन्म अथवा अभ्युदय (१६५० तक)

रीति-ग्रन्थों के प्रणयन का चलन कृपाराम (आ० का० १५४१) से बहुत पहले हो गया था। कृपाराम ने लिखा है कि और कवियों ने बड़े छंदों में विस्तार-पूर्वक शृङ्गार रस का वर्णन किया है पर मैंने सुघरता के विचार से दोहों में वर्णन किया है। इससे हमारा मन्तव्य स्पष्ट है। परन्तु चूँकि अन्य रीति-ग्रन्थ अभी उपलब्ध नहीं हो सके हैं, इसलिए इस परम्परा के आदि में कृपाराम को ही स्थान मिलता है। इन्होंने १५४१ ई० में रस-रीति पर 'हिततरंगिणी" नामक ग्रन्थ दोहों में लिखा। यह पहला रीति या लक्षण-ग्रंथ है। मनोहर कवि ने १५६१ ई० के लगभग शृङ्गार-रस-सम्बंधी फुटकर दोहे कहे हैं। बलभद्र मिश्र (ज० का० १५४३) ने पहली बार नायिका के अङ्गों को स्वतंत्र रूप से कविता का विषय बनाया। कृपाराम ने "हिततरंगिणी" में इस रीति का अवलम्बन कर नायिकाओं का वर्णन अवश्य किया था, परन्तु वे इससे आगे नहीं बढ़े थे। बलभद्र मिश्र का

'नख-शिख' शृङ्गार का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है जिसमें उन्होंने नायिका के अङ्गों का वर्णन, उपमा, उत्प्रेक्षा, सन्देह आदि अलङ्कारों के प्रचुर विधान द्वारा किया है। 'दूषण विचार' नाम के अपने दूसरे ग्रन्थ में उन्होंने काव्य के दोषों का निरूपण किया है। १५७० ई० के लगभग जमाल ने ब्रज मिश्रित राजस्थानी में शृङ्गार के दोहे लिखे। केशवदास (१५५५ ई०—१६१७ ई०) ने रीति-शास्त्र के लगभग सभी अङ्गों पर लिखा। उनका 'कविप्रिया' अलङ्कार-ग्रन्थ है, और 'रसिकप्रिया' रस-ग्रन्थ है। अपने प्रसिद्ध ग्रंथ रामचन्द्रिका में उन्होंने छन्दशास्त्र के समस्त छन्दों का प्रयोग किया है। अब्दुल रहीम खानखाना (१५५३ ई०—१६२६ ई०) ने बरवै नायिकाभेद, मदनाष्टक, शृङ्गार-सोरठ, रासपंचाध्यायी नगर-शोभा, फुटकल कवित्तों और सवैयों की रचना की। कादिरबख्श (ज० का० १५७४ क० का० १६०३) ने शृङ्गार के कवित्त लिखे। सयद मुबारिक अली बिलग्रामी उपनाम मुबारिक (ज० का० १५८३, क० का० १६१३ के पीछे) ने अलकशतक और तिलकशतक की रचना की। शृंगार काव्य के एक आलम्बन नायिका के अंग-प्रत्यंगों का जो वर्णन चल पड़ा था, यह ग्रन्थ उसी के फल हैं। उन्होंनेपरवर्ती कवियों को भी प्रभावित किया। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त इनके अनेक कवित्त-सवैये भी संग्रह-ग्रन्थों में मिलते हैं। इसके बाद सेनापति का नाम आता है जिनका जन्मकाल १५८६ के आस-पास है। इनकी विशेषता इनका सुन्दर प्रकृति वर्णन है। यह सहृदय शृङ्गारिक कवि हैं परन्तु भावुकता के साथ चमत्कार को भी निभाते चलते हैं। १६३१ में सुन्दर कविराय ने 'सुन्दर शृङ्गार' नाम का नायिका-भेद का ग्रन्थ लिखा।

रीति-काव्य का स्वर्ण युग

सत्रहवीं शताब्दी के मध्य तक पहुँचते पहुँचते रीति-काव्य की धारा साहित्य में सबसे प्रधान धारा हो चली थी। अगले पचास वर्षों में जिस साहित्य का निर्माण हुआ, वह किसी भी काल के सर्वोच्च साहित्य की तुलना में रखा जा सकता है। इस विकास-काल के प्रथम कवि चिन्तामणि त्रिपाठी (जन्म १६०९, क० का० १६४३) हैं। इन्होंने काव्यशास्त्र के लगभग सभी अंगों पर लिखा। "बहुत दिन तक नागपुर के सूर्यवंशी भोसला मकरंद शाह के यहाँ रहे और उन्हीं के नाम पर 'छन्द-विचार' नामक पिंगल का बहुत भारी ग्रन्थ बनाया और 'काव्यविवेक', 'कवि-कुल-कल्पतरु', 'काव्यप्रकाश' और 'रामायण' ये पाँच ग्रन्थ इनके बनाये हमारे पुस्तकालय में मौजूद हैं। इनकी

बनाई रामायण कवित्त और नाना प्रकार के अन्य छन्दों में बहुत अपूर्व है।" बेनी बंदीजन (आ० १६४३) के नखशिख और षट्ऋतु-संबंधी फुटकर पद मिलते हैं। महाराज़ा जसवंतसिंह (१६१६—१६७४ ई०) ने 'चन्द्रालोक' की छाया लेकर 'भाषाभूषण की रचना की। इस ग्रन्थ में चन्द्रालोक के अनुकरण में एक ही दोहे में लक्षण और उदाहरण दोनों रखे गये, इसलिए सुविधापूर्ण होने के कारण रीति-काव्य के अभ्यासियों में इसका खूब प्रचार रहा। इस ग्रन्थ की 'अलंकार रत्नाकर' (वंशीधर १७३५), अलंकार चिंतामणि (प्रतापसाही १८३७) और भूषणचन्द्रिका (गुलाब कवि १७७५) टीकाएँ भी लिखी गईं। इस काल के सब से प्रसिद्ध और लोकप्रिय कवि बिहारीलाल हैं। जिनका जन्म १६०३ के लगभग हुआ और जो अनुमानतः १६६३ के बाद तक रहे। यह प्रसिद्ध बिहारी-सतसई के रचयिता हैं। मतिराम (जन्म १६१७ के लगभग) ने अलंकार-ग्रन्थ ललितलता, पिंगल-ग्रन्थ छन्दसार और रस-ग्रन्थ रसराज की रचना की। इनके अन्य ग्रन्थ साहित्यसार, लक्षण-शृंगार और मतिराम सतसई हैं। कुलपति मिश्र ने रसरहस्य (रस-ग्रन्थ १६७०) की रचना की। यह ग्रन्थ मम्मट के 'काव्यप्रकाश' का छायानुवाद है। इनका नखशिख-संबंधी एक अन्य ग्रन्थ भी है। सुखदेव मिश्र (क० का० १६६३—१७०३) ने वृत्तविचार (१६७१) और छन्द-विचार नाम के ग्रन्थ लिखे। "ये बहुत प्रौढ़ कवि थे और आचार्यत्व भी इनमें पूरा था। छन्दशास्त्र पर इनका-सा विशद निरूपण और किसी कवि ने नहीं किया है।" फाज़िल अलीप्रकाश और रसार्णव में शृंगार रस के सुन्दर उदाहरण हैं। शृंगारलता एक और रीति-ग्रन्थ है। कालिदास त्रिवेदी ने १६९२ में 'वारवधूविनोद' ग्रन्थ लिखा। इसमें नायिका-भेद और नखशिख वर्णन है। इनके फुटकर कवित्त बहुत सरस हैं। राम (जन्म १६४६) ने नायिका-भेद का एक ग्रन्थ 'शृंगार सौरभ' लिखा, निवाज (आ० १६५० के लगभग) ने संयोग शृंगार के वर्णन में फुटकर छन्दों की रचना की। ये इनकी काव्य-कुशलता और सहृदयता के प्रमाण हैं।

परम्परा-पालन (१७००-१८००)

अगली शताब्दी में रीति-काव्य की धारा ही प्रधान रही। पिछली शताब्दी के कई प्रसिद्ध रीति-कवि इस काल में भी लिखते रहे। जिनमें

देव[1] (देवदत्त १६७३) सबसे प्रमुख हैं। इस शताब्दी के अन्य प्रमुख कवि श्रीधर या मुरलीधर[2] (१६८० ई० के लगभग जन्म), सूरति मिश्र[3] (कविता-काल १८वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध), कवीन्द्र उदयनाथ[4] (जन्म १६६९), श्रीपति[5] (आ० १७२०), वीर[6] (आ० १७२२), रसिक सुमति[7] (आ० १७८५), गंजन[8] (१७२६), भिखारीदास[9] (क० का० १७२९—१७५०) भूपति[10] (राजा गुरुदत्तसिंह आ० १७३४), तोषनिधि[11] (आ० १७३४), दलपतिराम और वंशीधर[12] (आ० १७३५), सोमनाथ[13] (क० का० १७३३-

१—ग्रन्थों की संख्या के सम्बन्ध में मतभेद है, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि इनका साहित्य विशद है। आचार्य पं० रामचंद्र शुक्ल ने इनके २५ ग्रन्थों का उल्लेख इस प्रकार किया है—भावविलास, अष्टयाम, भवानीविलास, सुजानविनोद, प्रेमतरंग, रागरत्नाकर, कुशलविलास, देवचरित्र, प्रेमचंद्रिका, जातिविलास, रसविलास, काव्य-रसायन या शब्दरसायन, सुखसागर तरंग, वृत्तविलास, पावसविलास, ब्रह्मदर्शन पच्चीसी तत्त्वदर्शन पच्चीसी, आत्मदर्शन पच्चीसी, जगद्दर्शन पच्चीसी, रसानन्दलहरी, प्रेमदीपिका सुमतिविनोद, राधिकाविलास, नीतिशतक, नखशिख, प्रेमदर्शन।

२—नायिकाभेद, चित्रकाव्य आदि के रचयिता।

३—अलङ्कार-माला, रसरत्न-माला, सरसरस, रसग्राहक चंद्रिका, नखशिख, काव्यसिद्धांत, रसरत्नाकर इनके ग्रंथ हैं।

४—ग्रन्थ हैं, रसचंद्रोदय, विनोदचंद्रिका, जोगलीला।

५—ग्रन्थ हैं, कविकल्पद्रुम, रससागर, अनुप्रासविनोद, विक्रमविलास, सरोज-कलिका, अलङ्कार गङ्गा।

६—कृष्णचंद्रिका ग्रन्थ के रचयिता हैं।

७—इन्होंने अलङ्कार-चन्द्रोदय ग्रन्थ रचा है जिसका आधार-ग्रन्थ कुवलया-नन्द है।

८—भावभेद, रसभेद और षट्ऋतु समन्वित ग्रन्थ की रचना की है।

९—इनके ग्रन्थ हैं, रससारांश, छंदोर्णव पिंगल, काव्यनिर्णय, शृंगारनिर्णय, नामप्रकाश, विष्णुपुराण भाषा, छंदप्रकाश, अमरप्रकाश।

१०—सतसई, कंठाभूषण और रसरत्नाकर ग्रंथों की रचना की।

११—ग्रंथ हैं, सुधानिधि, विनयशतक और नखशिख।

१२—इन दोनों ने ग्रंथ "अलङ्कार रत्नाकर" लिखा।

१३—इनके ग्रंथ "रसपीयूषनिधि" में समस्त काव्यांगों का अत्यन्त विशद विवेचन है। इनके कुछ अन्य ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं।

१७३५), रसलीन[१४] (सैयद गुलामनबी, आ० १७३७), रघुनाथ बंदी[१५] (क० का० १७३३-१७५३), दूलह[१६] (क० का० १७४३-१७६८), कुमारमणि भट्ट[१७] (आ० १७४६), शम्भुनाथ मिश्र प्रथम[१८] (आ० १७४६), रूपसाहि[१९] (आ० १७५६), ऋषिनाथ[२०] (क० का० १७३१-१७३४ तक), वैरीसाल[२१] (आ० १७६८), दत्त[२२] (आ० १७७३) रतन कवि[२३] (जन्म १७४१), हरिनाथ[२४] (आ० १७६६), मनीराम मिश्र[२५] (१७७२, चंदन[२६] (आ० १८८८), देवकीनन्दन[२७] (क० का० १७८४-१८००), महाराज रामसिंह[२८] (आ० १७८२-१८०३), मानकवि[२९] (आ० १७८७), थानकवि[३०]

१४—"अङ्गदर्पण" इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है। रसनिरूपण-संबंधी एक दूसरा ग्रन्थ 'रसप्रबोध' भी उपलब्ध है।

१५—इनकी रचनाएँ काव्यकलाधर, रसिकमोहन, जगतमोहन, और दृश्य-महोत्सव हैं।

१६—कविकुलकंठाभरण" इनका प्रसिद्ध अलङ्कार ग्रन्थ है।

१७—इनका ग्रन्थ है "रसिकरसाल"।

१८—इनकी रचनाएँ हैं रसकल्लोल, रसतरंगिणी, अलङ्कारदीपक।

१९—रीति-सम्बन्धी ग्रंथ "रूपविलास" के रचयिता।

२०—अलङ्कारमणिमंजरी के रचयिता।

२१—अलङ्कार-सम्बन्धी ग्रन्थ भाषाभरण रचा है।

२२— " " लालित्यलता के रचयिता

२३—समस्त काव्यांगों पर "फतेहभूषण" नाम के ग्रन्थ की रचना की है। इनका दूसरा ग्रन्थ केवल अलङ्कार से सम्बन्ध रखता है। इसका नाम अलङ्कारदर्पण है।

२४—इन्होंने 'अलङ्कारदर्पण' नाम के ग्रन्थ की रचना की।

२५—इनके दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं—छंदछपानी (छंदशास्त्र पर) और आनंदमंगल (भागवत दशम स्कंध का पद्यानुवाद)

२६—एक दरजन से अधिक ग्रन्थ लिखे जिनमें प्रमुख हैं शृंगारसागर, काव्याभरण और कल्लोलतरंगिणी।

२७—उन्होंने शृंगार चरित्र, अवधूतभूषण और सरफराज़ चंद्रिका नामक ग्रन्थ बनाये हैं। ये ग्रंथ रस, भाव, नायिकाभेद और अलङ्कारों से सम्बन्ध रखते हैं।

२८—इनके ग्रन्थ हैं, अलङ्कारदर्पण, रसनिवास और रसविनोद।

२९—इनकी रचना का नाम नरेंद्रभूषण है। यह मुख्यतः अलङ्कार-ग्रन्थ है, परन्तु इसमें शृंगार एवं अन्य रसों के भी अत्यंत सुन्दर उदाहरण हैं।

३०—इनका रीति-ग्रन्थ "दलेल प्रकाश" काव्यांगों के सम्बन्ध में एक साधारण ग्रन्थ है परन्तु उदाहरणों की भाषा और कला अत्यंत पुष्ट है।

(आ० १७६१), बेनी३१ (क० का० १७९२-१८२३), और जसवन्तसिंह द्वितीय३२ (क० का० १७९९) हैं।

इस शताब्दी में अनेक ऐसे कवि हो गये हैं जिन्होंने अलंकार-निरूपण नहीं किया, न रस-ग्रन्थ लिखा परन्तु जो युग की सामान्य प्रवृत्ति शृंगार से प्रभावित अवश्य थे। इन कवियों में हमें कुछ ऐसे कवि मिल जाते हैं जिन्होंने परम्परा का पालन नहीं किया था और अत्यन्त अनुभूतिपूर्ण कविता की। घनानन्द, ठाकुर, और बोधा ऐसे ही कवि हैं। सबलसिंह चौहान ने (आ० १६६१-१७२४) ऋतु-शृंगार का भाषा अनुवाद किया और रूपविलास तथा एक पिंगल ग्रन्थ लिखा। वृन्द कवि ने शृंगार शिक्षा (१६९१) और भाव-पंचाशिका नाम की दो रस-संबंधी पुस्तकें लिखीं। आलम (आ० १६६३-१७०३) और शेख३३, घनानन्द३४ (१६९८-१७३९), रसनिधि३५ (आ० १६६०), ठाकुर बुन्देलखंड३६ (जन्म १७९६), बोधा३७ (बुद्धिसेन, जन्म १७४३, क० का० १७७३-१८०३) इस समय के कवियों में प्रमुख हैं।

३१—इनके दो ग्रन्थ विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। एक अलङ्कार-सम्बन्धी टिकैत रायप्रकाश, दूसरा रस-सम्बन्धी रसविलास।

३२—इनका शृंगार-शिरोमणि एक बृहद् शृंगार ग्रन्थ है। कविता अधिक उत्कृष्ट नहीं है।

३३—आलम की कविताओं का एक संग्रह 'आलमकेलि' नाम से प्रकाशित हुआ है यद्यपि इसमें संग्रहीत कविताओं के अतिरिक्त भी कितनी ही कविताएँ जनता में प्रचलित हैं। शेख इनकी प्रेमिका थी और बाद में पत्नी हुईं।

३४—इनके ग्रन्थ हैं सुजानसागर, विरहलीला, कोकसार, रसकेलिवल्ली। आचार्य शुक्लजी के अनुसार "कृष्णभक्ति सम्बन्धी इनका एक बहुत बड़ा ग्रन्थ छत्रपुर के राज-पुस्तकालय में है जिसमें प्रियाप्रसाद, ब्रजव्यवहार, वियोगबेली, कृपाकंद निबंध, गिरिगाथा, भावनाप्रकाश, गोकुलविनोद, धाम-चमत्कार, कृष्णकौमुदी, नाममाधुरी, वृन्दावनमुद्रा, प्रेमपत्रिका, रसवसन्त इत्यादि अनेक विषय वर्णित हैं।"

३५—इनका 'रतनहजारा' दोहा-ग्रन्थ प्रसिद्ध है।

३६—इनकी कविताओं का एक संग्रह "ठाकुर-ठसक" नाम से प्रकाशित हो चुका है।

३७—इनकी विरहवारीश रीतिकाव्य की विशिष्ट पुस्तक है। इनकी दूसरी पुस्तक का नाम है इश्कनामा।

केशवदास

केशवदास रीति-परम्परा के प्रथम आचार्य कहलाते हैं, यद्यपि इनसे पहले भी रीति-ग्रन्थों की रचना हो चली थी, जैसा हम अन्यत्र लिखा चुके हैं। जो हो, रीतिशास्त्र के सभी अंगों पर केशवदास से पहले नहीं लिखा गया था, अतः रीतिशास्त्र को व्यवस्थित रूप देने का श्रेय केशवदास को ही है।

केशवदास अलंकार-सम्प्रदाय के आचार्यों के मतावलम्बी थे। वे अलंकार को ही काव्य की आत्मा मानते थे। यद्यपि उन्होंने काव्य के सभी अंगों का निरूपण किया है परन्तु रस की अपेक्षा अलंकार को ही श्रेष्ठ माना है। उनकी रचनाओं में भी इसी आदर्श का समर्थन दिखलाई पड़ता है। उनके अनेक पद अलंकारों के उदाहरण-स्वरूप लिखे गये हैं और उनमें सहृदयता को कहीं भी स्थान नहीं मिला है। उन्होंने चमत्कार पर अधिक ध्यान रखा है और क्लिष्ट पद-योजना में तो वे अद्वितीय हैं जिसके कारण लोग उन्हें कठिन काव्य के प्रेत कहा करते हैं। परन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि बहुत से पद ऐसे भी हैं जिनमें हृदय की वास्तविक प्रेरणा के दर्शन होते हैं। सच तो यह है कि जो कवि वृद्धावस्था में भी इतना रसिक हो सकता है कि युवतियों से वृद्ध कहे जाने पर शोक प्रगट करे वह सदैव चमत्कारप्रिय ही नहीं रह सकता।

केशवदास ने अपने समय की सभी काव्य-धाराओं में योग दिया है। रीति-काव्य के अन्तर्गत उनके दो ग्रन्थ कविप्रिया और रसिकप्रिया आते हैं। रामचन्द्रिका लिख कर उन्होंने राम-काव्य की पुष्टि की यद्यपि इस ग्रन्थ में उनका आदर्श भक्ति नहीं था, वरन् छन्द-कौशल और वाग्वैदग्ध्य का प्रदर्शन था। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने समय के वीर रस काव्य में भी योग दिया। जहाँगीर जसचन्द्रिका और वीरसिंह देव चरित उनके इस प्रयत्न को सूचित करते हैं। वास्तव में केशवदास की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी, यद्यपि उनकी मूल प्रवृत्ति शृंगार और चमत्कार की ओर ही थी। उनकी रामचन्द्रिका हिन्दी के प्रबन्ध-काव्यों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है और तुलसीदास के सम्वादों को छोड़ कर उनके सम्वाद सर्वश्रेष्ठ हैं। इस ग्रन्थ में वे अपने पूर्ण आचार्यत्व के साथ उपस्थित होते हैं। यद्यपि उन्होंने छन्द और अलंकार-निरूपण को ही स्थान दिया है जो उनके पांडित्य का सूचक है और कहीं-कहीं प्रकृति-वर्णन में अत्यन्त अनर्गल कल्पनाएँ की हैं, परन्तु इन सब दोषों के होते हुए भी रामचन्द्रिका हमारे साहित्य का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है।

चिन्तामणि त्रिपाठी

हिन्दी के इस रीतिकाल में केशवदास का अनुकरण नहीं हुआ, यह महत्व चिन्तामणि त्रिपाठी को ही प्राप्त है। वे रसवादी थे और वे रस के अन्तर्गत ही अलंकारों को उनका उपयुक्त स्थान देते थे। उन्होंने भी काव्यशास्त्र के सब अंगों पर लिखा, परन्तु केशवदास की कविता के विरुद्ध उनकी कविता सच्चे हृदय की उपज थी जो भाषा-लालित्य और अनुप्रास का सहारा लेकर और भी हृदयग्राही हो गई है।

बिहारीलाल

रीति-काल के सब से प्रसिद्ध कवि बिहारीलाल हैं। रामचरितमानस के बाद पिछले २५० वर्षों में बिहारी-सतसई ही सबसे लोकप्रिय ग्रन्थ रही है। ३२ मात्रा के छोटे से दोहे में बिहारी ने सौन्दर्य और प्रेम के अन्यतम चित्र भर दिये हैं और इस पर विशेषता यह है कि उनमें से अधिकांश दोहों के पीछे अलंकरण की प्रवृत्ति भी है। सचमुच बिहारी के दोहे हीरे की तरह कटे-छंटे हैं। अनेक खंड-दृश्यों, अनेक मुद्राओं, अनेक अंग-भंगिमाओं और हाव-भावों तथा कार्य-व्यापारों को भाषा की समास-शक्ति और मधुरता का आश्रय लेकर उक्तिकौशल के रूप में उपस्थित किया गया है। सारी बिहारी-सतसई ध्वनि-काव्य का उत्कृष्ट उदाहरण है। कहीं-कहीं व्यंजना औचित्य की सीमा का उल्लंघन कर गई है और ऐसे स्थानों पर व्यंगार्थ को समझने के लिये अत्यन्त क्लिष्ट कल्पना का सहारा लेना पड़ता है। संचारी भावों की व्यजना अनुभावों और हावों की योजना, वर्णन-वैचित्र्य, शब्द-वैचित्र्य और सौन्दर्य तथा प्रेम की मार्मिक व्यंजना में बिहारी-सतसई के जोड़ का दूसरा ग्रन्थ हिन्दी में नहीं है।

मतिराम

मतिराम की सर्वश्रेष्ठ विशेषता उनकी प्रसादपूर्ण, सरल, कोमल ब्रजभाषा है जो उनके भावों को अत्यन्त सरसता से प्रकाशित कर देती है, ऐसी सुन्दर मधुर और रसस्निग्ध भाषा रीति-काल के किसी कवि ने नहीं लिखी। मतिराम के सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ रसराज और ललितललाम हैं, परन्तु उनकी सतसई भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। यह अवश्य है कि मतिराम-सतसई की अलंकार-योजना बिहारी-सतसई की अलंकार-योजना जैसी नहीं है, परन्तु भाषा और भावों की उत्कृष्टता की दृष्टि से वह प्रत्येक प्रकार बिहारी-सतसई के समकक्ष रखी जा सकती है। रसराज और ललितललाम के छन्द रस और अलंकार के

उदाहरण-स्वरूप उपस्थित किये गये हैं परन्तु उनकी कविता भी अत्यन्त रमणीय है।

देव

देव सौन्दर्य के बहुत बड़े पारखी हैं। उनका शब्द-भंडार और कल्पना-कोष अत्यन्त सुष्ठ है। वह इतने बड़े पंडित नहीं हैं जितने केशवदास और न इतने बड़े कलाकार हैं जितने बिहारी परन्तु उनमें पांडित्य कला, कौशल, सांसारिक अनुभव और काव्य-प्रतिभा का इतना सुन्दर मिश्रण है कि वे रीतिकाल के प्रमुख कवि ठहरते हैं। उनका काव्य-क्षेत्र भी रीतिकाल के अन्य कवियों की अपेक्षा अत्यन्त ही व्यापक है और उनके प्रेम में लौकिक और पारलौकिक दोनों अंग बड़े सुन्दरता से प्रकाशित हुए हैं। उनकी प्रारम्भिक और अंतिम रचनाओं में बड़ा अन्तर है। उनकी प्रारम्भिक रचनाओं की शृंगारिकता धीरे-धीरे संयत होती गई है और वृद्धावस्था की दर्शन पच्चीसियों में दार्शनिक और धार्मिक भावों के अनुभूतिपूर्ण वर्णन मिलते हैं।

भिखारीदास

रीतिकाल के आचार्यों में भिखारीदास का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने बहुत से ग्रन्थ लिखे हैं परन्तु उनमें कोई उतना लोकप्रिय नहीं रहा जितना काव्यनिर्णय। इस ग्रन्थ में इन्होंने छन्द, रस, अलंकार, रीति, गुण, दोष और शब्द-शक्ति आदि सभी काव्यांगों पर विचार किया गया है। इन सब विषयों पर विस्तार-पूर्वक लिखा गया है और अनेक स्थलों पर भिखारीदास की आलोचना-शक्ति के अच्छे दर्शन होते हैं। उन्होंने कई बड़े महत्व की उद्भावनाएँ की हैं। परन्तु कहीं-कहीं लक्षण भी अपर्याप्त और भ्रामक हैं और उदाहरण उनसे मेल नहीं खाते। सच तो यह है कि अन्य आचार्यों की भाँति भिखारीदास का आचार्यत्व भी पूर्ण नहीं था। उनकी महत्ता यही है कि उन्होंने इस क्षेत्र में और आचार्यों से अधिक कार्य किया। वे भी उन्हीं की तरह मूलतः कवि हैं और इसी रूप में उनका महत्व है। भिखारीदास की भाषा शब्दाडम्बर और चमत्कार से रहित है और उनके कहने का ढंग बहुत विलक्षण है।

पद्माकर

रीतिकाल के अन्तिम चरण के कवियों में पद्माकर सबसे प्रसिद्ध हैं। उनकी रचनाएँ भी बहुत अधिक हैं। इनमें उत्तर रीतिकाल की कविता अत्यंत प्रौढ़ता को प्राप्त हुई है। वह कलाकार कवि हैं। उन्होंने अपने छन्दों में अनुप्रास-योजना पर

बहुत ध्यान दिया है। यद्यपि उनमें भावों का प्रकाशन अत्यन्त सरलता से हुआ है और हावों के बड़े सुन्दर चित्र आये हैं। पद्माकर का सबसे प्रसिद्ध ग्रंथ जगत्‌विनोद है। इसमें उनकी कल्पना, भावुकता और भाषा की अनेकरूपता के दर्शन होते हैं। भाव के अनुसार चलनेवाली भाषा में इनकी तुलना बहुत कम कवियों से की जा सकती है। उनकी कविता में लाक्षणिकता और मूर्तिमत्ता का ऐसा सामंजस्य है कि इनके पद चमत्कार जान पड़ते हैं।

प्रतापसाही

यह रीतिकाल के अंतिम महत्वपूर्ण आचार्य और कवि हैं। इन्होंने शुद्ध ब्रजभाषा का प्रयोग किया है। इनके कवित्तों में आचार्यत्व का सुन्दर संयोग है। यद्यपि इनकी रचनाओं में रीति-काव्य की रूढ़िगत विशेषताओं की ही मात्रा अधिक पाई जाती है तथापि काव्य की दृष्टि से अनेक स्थलों पर मौलिकता के भी दर्शन होते हैं।

प्रतापसाही के बाद कोई बड़ा रीति-कवि नहीं हुआ यद्यपि परिपाटी का पालन १९वीं शताब्दी के अन्त तक होता रहा।

रीतिकाल के इन कवियों में कुछ ऐसे कवि भी मिलते हैं जिन्होंने रीति-परिपाटी से अलग होकर कविता लिखी। ये कवि घनानन्द, बोधा और ठाकुर (बुन्देलखंडी) हैं। इन्होंने प्रेम संबंधी अत्यंत उच्च कोटि के मुक्त छन्द लिखे हैं। इनमें घनानन्द शुद्ध ब्रजभाषा के प्रयोग के लिए भी प्रसिद्ध हैं। यह कोई कम महत्व की बात नहीं है कि इन कवियों ने लक्षण-निरूपण को अस्वीकार कर स्वतन्त्र रूप से रचनाएँ उपस्थित कीं।

आ—भक्ति-काव्य

इस सारे काल में भक्ति की रचनाएँ होती रहीं। रामभक्ति और कृष्ण-भक्ति दोनों का साहित्य पुष्ट हुआ, यद्यपि इस प्रकार के साहित्य में अनुभूति और मौलिकता की मात्रा उस साहित्य से बहुत ही कम रही जो भक्तिकाल में हमारे सामने आया है। अनुभूति की कमी को काव्यशास्त्र के ज्ञान से पूरा करने की चेष्टा की गई और संस्कृत काव्यशास्त्र का सहारा लिया गया। राम और कृष्ण सम्बन्धी साहित्य का अनुवाद इस युग की विशेषता है। अध्यात्म रामायण, भगवद्‌गीता, पद्मपुराण, श्रीमद्‌भागवत, महाभारत और हरिवंश पुराण इस युग के भक्त-लेखकों की सामग्री का आधार हुआ करते थे। इस समय तक अनेक भक्ति सम्प्रदाय प्रतिष्ठित हो चुके थे और इन सम्प्रदायों में जिस साहित्य की सृष्टि होती थी वह अधिकतः साम्प्रदायिक

होता था और संकुचित दृष्टिकोण के कारण उसमें मौलिकता का विशेष विकास नहीं हो पाता था।

राम-साहित्य

रीवा के महाराज विश्वनाथसिंह (१७२१-१७४०) ने अनेक ग्रन्थों की रचना की जिनमें आनन्द रघुनन्दन नाटक, गीता रघुनन्दन शतिका, रामायण, गीता रघुनन्दन प्रामाणिक, विनयपत्रिका की टीका, रामचन्द्र जी की सवारी, आनन्द रामायण और संगीत रघुनन्दन प्रमुख हैं। जनकराज-किशोरीशरण (आ० १७४०) ने भी कई ग्रन्थ लिखे। भगवन्त राय खीची ने शिवसिंहसरोज के अनुसार सम्पूर्ण रामायण लिखी परन्तु उनकी हनुमत पचीसी (१७६०) ही उपलब्ध है। गोकुलनाथ (मृत्यु १८६३) ने "सीता-राम-गुणार्णव" नाम से अध्यात्म रामायण का अनुवाद किया। मधुसूदनदास ने १७८२ में राम के राज्यारोहण की कथा के बाद का वृत्तान्त लेकर 'रामाश्वमेध' काव्य रामचरितमानस के ढंग पर बनाया। इसका आधार पद्म पुराण है। यह राम-काव्य का उत्कृष्ट ग्रन्थ है। गणेश बन्दीजन (आ० १७९३-१८५३) ने वाल्मीकि रामायण श्लोकार्थ प्रकाश की रचना की।

कृष्ण-साहित्य

कृष्णगढ़ नरेश महाराज सावन्तसिंह (नागरीदासजी, जन्म १६९९, क० का० १७२३-१७६२) ने कृष्ण-साहित्य सम्बन्धी कोई ७३ पुस्तकें लिखीं। बख्शी हंसराज (जन्म १७४२) सखीभाव के उपासक थे। इनकी रचनाओं की मात्रा भी यथेष्ट है। अलबेली अलि (विष्णु स्वामी सम्प्रदाय) १८वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में रचना करते थे। चाचा हितवृन्दावनदास (जन्म १७०८, क० का० १७४३-१७९४) के २००० से अधिक पद राधाकृष्ण के सम्बन्ध में मिलते हैं। इस समय के अन्य कृष्णभक्त कवि भगवत रसिक (टट्टी सम्प्रदाय, क० का० १७७३-१७९३), श्री हठीजी (हितहरिवंश की शिष्यपरम्परा में, आ० १७४०), गुमान मिश्र (क० का० १७४३-१७८३, जिन्होंने कृष्णचन्द्रिका की) रचना की) और ब्रजवासीदास (वल्लभ सम्प्रदाय) हैं जिन्होंने तुलसीदास के अनुकरण में दोहा-चौपाइयों में १७७० ई० में ब्रज-विलास की रचना की। गोकुलदास, गोपीनाथ और मणिदेव ने मिलकर ५० वर्षों (१७७३-१८२३) में समग्र महाभारत और हरिवंश का विविध छन्दों

में अनुवाद किया। इनके अतिरिक्त मंचित (आ० १७७६) ने कृष्ण-चरित्र सम्बन्धी दो पुस्तकें सुरभी दानलीला और कृष्णायन लिखी हैं। पहली पुस्तक सार छन्द में है और दूसरी तुलसी के मानस के अनुकरण में दोहे-चौपाई में। १७९६ में कृष्णदास ने माधुर्यलहरी नाम से कवित्त छन्द में कृष्ण-चरित्र लिखा।

अन्य

रामचन्द्र (आ० १७६८) ने चरणचन्द्रिका नाम के ग्रन्थ की रचना की जिसमें ६२ कवित्तों में पार्वतीजी के चरणों का वर्णन है। मनियारसिंह (आ० १७८४) ने पार्वती या देवी की स्तुति में कवित्त छन्द में सौन्दर्यलहरी और हनुमान की स्तुति में हनुमत छब्बीसी लिखी। गणेश बन्दीजन (आ० १७६३-१८५३) ने प्रद्युम्न-विजय नाटक लिखा।

इ—संत-काव्य

सन्तकाव्य की धारा सारे मध्ययुग को प्लावित करती रही है, यद्यपि जैसे-जैसे समय बीतता गया वह अपने केन्द्र से कुछ हटती गई और उसकी शक्तियाँ शिथिल होती गईं। फिर भी उसमें इतना बल था कि वह शताब्दियों तक जनसमाज, विशेषतः निम्न वर्ग को बल देती रही।

रीतिकाल की सन्तकाव्य-धारा के सम्बंध में हमें कई बातें कहना हैं। पहली बात तो है भाषा-सम्बंधी। इस समय तक ब्रजभाषा का इतना महत्त्व हो उठा था कि अधिकांश सन्तों की भाषा ब्रज हो गई, सधुक्कड़ी न रह सकी। दूसरी बात विषय से सम्बंध रखती है। एक तो सन्तविषयों में भक्तों की सगुण भावना और पूजोपचार का योग हो गया, दूसरे कितने ही सन्त जहाँ एक ओर कबीर की परम्परा को बनाये रखते हैं, वहाँ दूसरी ओर राम-कृष्ण के भक्त भी हैं। तीसरी बात यह है कि परवर्ती सन्त-साहित्य में सूफ़ी मत के सिद्धांतों का बहुत अधिक मिश्रण हो गया है। कबीर के समय से सन्तकाव्य की प्रवृत्ति इस ओर थी।

नीचे हम कुछ संतों और साहित्य का विवेचन करेंगे।

स्वामी प्राणनाथ (आ० का० १५५३)

इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कुलजुम स्वरूप' है। अभी यह सम्प्रदाय से बाहर नहीं निकल सका है, इसलिए इसकी साहित्यिक जाँच नहीं हुई है। परन्तु इसमें

संतों के वही प्रिय विषय होंगे—मूर्तिपूजा, जाति-भेद-खंडन, ब्राह्मण-पूजा-निषेध, हिन्दू-मुसलमान ऐक्य का उपदेश आदि।

रज्जब (आ० का० १६५३)

इन्होंने छप्पय छन्द में इसी नाम का एक ग्रंथ लिखा है जिसमें दादूपंथ के सिद्धान्तों का वर्णन है।

सुन्दरदास (१६५३—१७०३)

सुन्दरदास संत-साहित्य के सबसे अधिक पंडित और शास्त्रीय कवि है। इन्होंने इंदव, मनहरण, हंसाल और दुर्मिल आदि कठिन छन्दों का प्रयोग किया है। यही नहीं, रसनिरूपण और अलंकार को भी इन्होंने अपनी दृष्टि में रखा है। इनकी बहुज्ञता इनके ग्रन्थों से प्रगट है। इनके ग्रंथों में सुन्दर-विलास, ज्ञानसमुद्र और पद विशेष प्रसिद्ध हैं। इन्होंने बरवै भी लिखे हैं। सांख्य और अद्वैत के दार्शनिक सिद्धान्तों पर भी इन्होंने कविता की है।

धरनीदास (जन्म १६७६)

इनके दो ग्रन्थ प्रेमप्रकाश और सत्यप्रकाश प्रसिद्ध है। पद, कवित्त, सवैये, ककहरा, रेख़ता सब कुछ कहा है। इनका एक ग्रन्थ अलिफ़नामा फ़ारसी में भी है। इन्होंने दोहों में बारहमासा भी लिखा है। इनके काव्य में आध्यात्मिक विरह का विशेष स्थान है।

बुल्ला साहब (१७०० —१७३० के लगभग)

भावधारा के अनुसार बुल्लासाहब निर्गुण म. के अन्तर्गत आते हैं, यद्यपि वे सूफ़ी-परम्परा से संबंधित थे। इनकी भाषा पूर्वी है। इन्होंने हठयोग को भी ध्यान के लिए उपयुक्त बताया है और संत मत के सभी विषयों पर लिखा है।

गुलाल (१७०० के लगभग)

इनका सम्बन्ध भी एक सूफ़ी परम्परा से है परन्तु इनकी रचनाओं में कबीर का ही प्रभाव अधिक लक्षित है। इनकी भाषा पर पूर्वीपन की छाप है। इन्होंने बारहमासा, हिंडोला, रेखता मङ्गल, आरती, होली और बसंत आदि विषयों पर लिखा है। यह आध्यात्मिक और रहस्यात्मक शृंगार को भली भाँति प्रगट कर सके हैं

चरनदास (१७०३—१७८२)

इनके चार ग्रन्थ अमरलोक, अखंडधाम, भक्तिपदारथ, ज्ञानसरोदय और इनके अतिरिक्त फुटकर पद (शब्द) उपलब्ध हैं। योग, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य

तथा कबीर-साहित्य के सभी खंडन-मंडन सम्बन्धी विषय इनके साहित्य में उपस्थित हैं। साहित्यिकता अधिक है।

बालकृष्ण नायक (आ० का० १७६८)

इन्होंने कई पुस्तकें लिखी हैं जिनमें ध्यानमंजरी और नेहप्रकाशिका मुख्य हैं। ध्यानमंजरी में श्री सीताराम की युगल मूर्ति की शोभा और ध्यान संक्षेप में है और नेहप्रकाशिका में श्री सीताजी का अपनी सखियों के साथ विहार करना वर्णित है।

अक्षर अनन्य (आ० का० १६५३)

इनके ग्रन्थ हैं—राजयोग, विज्ञानयोग, ध्यानयोग, सिद्धान्तबोध, विवेक-दीपिका, ब्रह्मज्ञान और अनन्य प्रकाश। इनकी महत्ता यह है कि इन्होंने भक्ति और ज्ञान की अपेक्षा राजयोग की ओर ही विशेष ध्यान दिया है।

गरीबदास (१७१७—१७८२)

लगभग ४००० पद मिलते हैं। सिद्धान्त और कविता पर कबीर और उनके साहित्य का प्रभाव स्पष्ट है।

जगजीवनदास (आ० का० १७६१)

इनके प्रधान ग्रन्थ ज्ञानप्रकाश, महाप्रलय, और प्रथम ग्रन्थ है। निर्गुण ब्रह्म की महिमा, गुरु महिमा, अहिंसा, सत्य, आत्मसमर्पण, वैराग्य आदि इनके विषय हैं।

रामचरण (आ० का० १७७५, जन्म १७१८)

इन्होंने भी प्रचुर मात्रा में सन्त-काव्य उपस्थित किया है।

दूलनदास (आ० का १३१६)

इनका झुकाव कृष्णभक्ति की ओर विशेष है। लिखते हैं—दीनदयाल सरन की लज्या छत्र गोबर्धन ताना। इनके प्रेम के पद बड़े सुन्दर हैं।

दयाबाई-सहजोबाई (आ० १७४३)

इनकी कविता व्रजभाषा में है। स्त्री-हृदय होने के कारण उसमें प्रेम और भक्ति की भावनाएँ बड़ी मार्मिकता से प्रकाशित की गई हैं। दयाबाई का ग्रंथ 'दयाबोध' है। जिसकी रचना १७६१ में हुई। दोनों चरणदास की शिष्या थीं और इनकी रचनाओं में गुरु-भक्ति बड़े सुन्दर ढंग से प्रगट हुई है।

तुलसीदास (हाथरस वाले, जन्म १७८८)

इनकी तीन पुस्तकें घटरामायण, शब्दावली और रतनसागर प्रसिद्ध हैं। घटरामायण राम-कथा नहीं है। इन रचनाओं में पांडित्य विशेष है। निर्गुण ब्रह्म, जन्म-मरण, कर्म-फल और सृष्टि-उत्पत्ति आदि दार्शनिक विषयों की विस्तृत विवेचना की गई है। पौराणिक और काल्पनिक कथाओं का भी प्रयोग हुआ है। इनकी अधिकांश रचना दोहा, चौपाई और हरिगीतिका छन्दों में है।

पलटूदास (आ० का० १७६३)

इनके साहित्य में सूफ़ी मत की बहुत-सी बातें (जैसे सूफ़ी दशाओं नासूत, मलकूत, जबरूल और लाहूत का वर्णन) आ गई हैं। परन्तु अधिकांश काव्य कबीर के निर्गुणवाद के अन्तर्गत आ जाता है।

ई (१) चारण-काव्य (डिंगल साहित्य)

इस समय यद्यपि उत्तरी भारत में मुसलमान राज्य स्थापित था और एक तरह सारा हिन्दुस्तान परतंत्र था, परन्तु राजस्थान और बुंदेलखंड में अब भी स्वतंत्रता की दीपशिखा जल रही थी। वास्तव में इन्हीं हिन्दू राज्यों में हिन्दू संस्कृति सुरक्षित रही। इस काल में वीर-काव्य के केन्द्र यही हिन्दू राज्य थे। उत्तर काल में शिवाजी के नेतृत्व में मरहठों ने हिन्दू पद-पादशाही स्थापित करने का प्रयत्न किया।

राजपूताने में मेवाड़, मारवाड़, महोबा, चित्तौड़, बूँदी, जयपुर, नीमराणा, रीवा, पन्ना और भरतपुर राज्यों में चारण-साहित्य का निर्माण हुआ।

मेवाड़

मेवाड़ में राजा जगतसिंह ने १६२८-१६५४ तक, राजसिंह ने १६५४-१६८१ तक और जयसिंह ने १६८१-१७०० तक राज्य किया। राणा जगतसिंह के समय का एक महत्वपूर्ण ग्रंथ जगतविलास है जिसके लेखक के विषय में विशेष ज्ञात नहीं। राजसिंह के राजकवि मान ने १६६० में राजदेव विलास ग्रंथ लिखा, जिसमें औरंगजेब और राजसिंह के युद्धों का वर्णन है। सदाशिव ने 'राज रत्नाकर ग्रंथ' लिखा। यह ग्रंथ वीर-काव्य से अधिक वीरस्तुति-काव्य (प्रशस्ति) है। एक ग्रंथ 'राजप्रकाश' और लिखा गया। इसके रचयिता के विषय में कुछ पता नहीं है। इसमें जयसिंह के अनेक युद्धों का वर्णन है। ये युद्ध अन्य हिन्दू राजाओं से ही हुए हैं, मुसलमानी

राजसत्ता से नहीं। इसी समय का कवि रणछोड़ का लिखा हुआ राजपन्ना नाम का एक और ग्रंथ मिलता है।

मारवाड़

जयपुर में महाराजा सूर्यसिंह के बाद गजसिंह और उनके पश्चात् उमरसिंह सिंहासन पर बैठे। जोधपुर में अजीतसिंह ने १६८१-१७२४ तक, उनके उत्तराधिकारी अभयसिंह ने १७२४-१७५० तक फिर महाराजा विजयसिंह ने १७५३-१७८४ तक राज्य किया।

अमरसिंह के आश्रय में रहनेवाले दो कवियों (समय, १६३४) ने उनके संबन्ध में कविताएँ लिखीं। उस ज़माने में राजाओं में यह चलन चल पड़ा था कि वे अपना और अपने वंश का इतिहास लिखवाते थे। इससे वीर-काव्य स्तुति-काव्य में परिणित हो रहा था। अजीतसिंह ने एक ग्रंथ 'राज-रूप ख्याल' लिखवाया। यह इतिहास सूर्यवंश के आरम्भ से लेकर १७२४ तक चलता था। अभयसिंह के समय में करण ने १६३८ से १७३१ तक का इतिहास लिखा। विजयसिंह ने अपने कवियों से विजय विलास लिखवाया। इसमें विजयसिंह और रामसिह के युद्धों का वर्णन है।

मालवा

गभीर राम ने राजा जगतसिंह के उस विप्लव का वर्णन किया जो उन्होंने १६५० में शाहजहाँ के विरुद्ध खड़ा किया था।

उदयपुर

'रावरतन रायसा' किसी चारण कवि की रचना है। इसमें उदयपुर महाराज रावरतन की स्तुति है।

जयपुर

सवाई जयसिंह (१६९८-१७४३) ने "जयसिंह कल्पद्रुम" नाम का अपना जीवन-चरित्र लिखा।

बूँदी

बूँदी के महाराज बुधराव स्वयम् अच्छे कवि थे।

नीमराणा

१७२८ में जोधाराम (ब्राह्मण) ने "हम्मीर काव्य" लिखा। शारङ्गधर (१०वीं शताब्दी) का भी यही विषय था।

रीवा

रीवा केन्द्र से घनश्याम शुक्ल (१६८०) की कविता हमारे सामने आई।

पन्ना

पन्ना राज्य के कवियों ने भी चारण-साहित्य की वृद्धि में योग दिया। हरिकेश (१७३१ ई०) छत्रसाल के दरबार से संबंधित थे। इन्होंने वीररस की अच्छी कविता की। छत्रसाल (१६४६—१७३१ ई०) के राजकवियों में लाल (गोरेलाल पुरोहित) ने 'छत्रसाल' लिखा। इसमें बुंदेलखंड के राजघराने का चरित्र है।

भरतपुर

भरतपुर केन्द्र का सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'सूदन' (१७५० ई०) का सुजान-चरित्र है। इसमें उन युद्धों का वर्णन किया गया है जिनमें महाराज भरतपुर के पुत्र सूरजमल ने भाग लिया था।

आश्रयदाताओं की प्रशंसा में वीर रस की कविताएँ फुटकर रूप से बराबर बनती रहीं। वीरता के दो रूप सामने रखे गये—युद्ध-वीरता और दान-वीरता। इस प्रकार की रचनाओं में वास्तविकता की अपेक्षा अतिशयोक्ति की मात्रा अधिक है। ये रचनाएँ तीन प्रधान रूपों में हमारे सामने आती हैं—एक, रस-ग्रन्थों के आदि में वीर रस के उदाहरण-स्वरूप; दो, अलंकार-ग्रन्थों में अलंकारों के उदाहरण-स्वरूप (इस प्रकार का सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ शिवराज भूषण है); तीन, स्वतंत्र रचनाओं के रूप में (शिवाबावनी, छत्रसाल दशक, हिम्मत बहादुर विरुदावली इस प्रकार की रचनाएँ हैं।) इन रचनाओं में वही स्थायित्व प्राप्त कर सकीं जिनके नायक लोकनेता थे और जिन्हें जनता की श्रद्धा प्राप्त हो सकी थी। केवल रूढ़ि के अनुसार आश्रयदाता से धन-प्राप्ति के उद्देश्य से लिखी रचनाएँ लोप हो गईं। एक अन्य प्रकार की वीर रस की रचनाएँ वे थीं जिनके नायक महाभारत और रामायण के वीर पुरुष थे। इन्हें भी जनता ने अपनाया।

रीतिकाल के सबसे प्रसिद्ध वीर-कवि भूषण हैं जो महाराज शिवराज (शिवाजी) के समकालीन माने जाते हैं। शिवराज-भूषण और शिवाबावनी उनकी उत्कृष्ट रचनाएँ हैं। लाल कवि (गोरेलाल पुरोहित, आविर्भावकाल १७१७) ने छत्रप्रकाश की रचना की। खुमान (क० का० १७७३—१८२७) ने १७९८ ई० में लक्ष्मणशतक लिखा जिसमें लक्ष्मण और मेघनाथ के युद्धों का वर्णन है। श्रीधर या मुरलीधर (क० का० १७१०) ने अपने ग्रन्थ जंगनामा में फर्रुखसियर और जहाँदार खाँ के युद्ध का वर्णन किया। सूदन (क० का० १७६३ के आस-पास) ने सुजान चरित्र की रचना की।

ई—(२) प्रबंध-काव्य

रीतिकाल में प्रबन्ध-काव्य की विशेष उन्नति नहीं हुई। जो प्रबन्ध लिखे भी गये उनमें से अधिकांश कवित्व की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने प्रबन्ध-काव्य के दो भाग किये हैं, १—कथात्मक प्रबन्ध और २—वर्णनात्मक प्रबंध।

कथात्मक प्रबंध

कथात्मक प्रबंध अधिकतः पुराणों और संस्कृत काव्य-ग्रन्थों और नाटकों के अनुवाद हैं। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण सबलसिंह चौहान का महाभारत (१६६१-१७२४) और छत्रसिंह कायस्थ का ग्रन्थ विजय मुक्तावली (१७००) हैं। विजय मुक्तावली में महाभारत की कथा स्वतंत्र रूप से कही गई है। सबलसिंह चौहान का ग्रन्थ अनुवाद मात्र है और उसमें इतनी स्वतंत्रता नहीं है। एक अन्य प्रबंध गुरु गोविन्दसिंह (१६६६-१७०८) का चंडी-चरित्र है। गुमान मिश्र ने १७४३ में नैषध काव्य का नाना छन्दों में अनुवाद किया है। सरयूराम पंडित (आ० १७४८) ने जैमिनि पुराण भाषा ग्रन्थ दोहा-चौपाइयों तथा अन्य छन्दों में लिखा। हरनारायण (आ० १७५५) ने माधवनल कामकन्दला और बैताल पच्चीसी नाम के काव्य लिखे। ब्रजवासीदास (आ० १७५०) ने प्रबोधचन्द्रोदय नाटक का अनुवाद किया।

वर्णनात्मक प्रबन्ध

इनका सम्बन्ध अधिकतर राम और कृष्ण की लीलाओं के साथ जुड़ा हुआ है। इनके विषय ये हैं—दानलीला, मानलीला, जलविहार, बनविहार, मृगया, झूला, होली-वर्णन, जन्मोत्सव-वर्णन, मङ्गल-वर्णन, रामकलेवा आदि। वास्तव में ये महाकाव्य के अंग हैं जिन्हें स्वतंत्र रूप से काव्य का विषय बना दिया गया है।

ई—(३) रोमांचक कथा-काव्य

सारे मध्य युग में हम कथा-काव्य लिखने की प्रवृत्ति पाते हैं। "गावहि कवि प्राकृतिजन गाना" आदि तुलसी की चौपाइयों से यह प्रकट है कि उनसे पूर्व लौकिक कथाएँ चल रही थीं। इनमें से आज बहुत कम प्राप्य हैं। इन कथाओं में काव्यतत्व और घटना-वैचित्र्य पर विशेष ध्यान दिया गया है। कोई आध्यात्मिक संकेत इनके पीछे नहीं है। ये कथाएँ सूफ़ी कथाओं

की भाँति जन-भाषा की शैली में नहीं लिखी गई वरन् उनकी शैली साहित्यिक रखी गई। स्थान-स्थान पर संस्कृत के छन्द और श्लोक (पद) भी आ जाते हैं। इनका झुकाव रोमांस की ओर है। इन सब का विषय प्रेम है और अब तक जितनी ऐसी कथाएँ प्राप्त हुई हैं उनके लेखक हिन्दू हैं। इस कथा-काव्य को हम हिन्दू प्रेम-काव्य भी कह सकते हैं। हम सूफ़ी कथा-साहित्य और हिन्दू कथा-साहित्य दोनों को रोमांस कह सकते हैं, अन्तर केवल इतना है कि सूफ़ी कथा-साहित्य का लक्ष्य एक विशेष आध्यात्मिक संकेत होता है जो दूसरे प्रकार की कथाओं में नहीं मिलता।

इन रचनाओं से यह पता चलता है कि जहाँ भक्ति-काल में सारी जनता भक्ति का रस लेने लगी थी वहाँ उसकी साधारण प्रवृत्ति अर्थात् लोक-कथा द्वारा मनोरंजन का ह्रास नहीं हो गया था। यह कहना कि उस समय जनता भक्ति और फिर बाद में शृङ्गार के अतिरिक्त और कुछ सोच ही नहीं रही थी, भ्रमात्मक है। जनता में प्रचलित अनेक प्रकार की कथा-कहानियाँ साहित्य के रूप में आकर उसका मनोरंजन कर रही थीं। दूसरी ओर राजस्थान बुन्देलखंड और दक्षिण में हिन्दू शक्तियाँ जाग्रत हो रही थीं और अपनी स्वतन्त्रता के लिए सतत संघर्षशील थीं, अतः वीर-काव्य एवं राजस्तुति काव्य भी यथेष्ठ मात्रा में मिलता है। वास्तव में मध्ययुग का वीर-काव्य अत्यन्त पुष्ट, विस्तृत और विविध है।

जो हिन्दू प्रेम-कथाएँ हमें प्राप्त हुई हैं उनमें से कुतुबशतक (कुतुबद्दीन और साहिबा की प्रेमकथा) और जलाल गहाणी की बात (जलाल और गहाणी की प्रेमकथा) के लेखक और निर्माण-काल के संबंध में हमें कुछ ज्ञात नहीं। अन्य कथाओं में लक्ष्मणसेन पद्मावती (दामो, १४५६), ढोला मारवणी चउपही (हरराज, १५५०), रसरतन (पुहकर, १६१८), कनक-मंजरी (काशीराम, १६६३), कामरूप की कथा (हरसेवक मिश्र, १८४४), चन्द्रकला (प्रेमचन्द, १७१६), और प्रेमपयोनिधि (मृगेन्द्र, १८६५) मुख्य हैं।

उ—दकनी साहित्य और उत्तर का उर्दू साहित्य

(१६००—१८०० ई०)

हम बता चुके हैं कि 'दकनी' भाषा और साहित्य का आरंभ बहमनी राज्य (१३३७—१५१८) के समय में हुआ। वास्तव में मुहम्मद तुग़लक़ (१३२६ ई०) और हसन गंगू की विजयी सेनाएँ उत्तर की हिन्दवी को

अपने साथ दकन में ले गई और यही 'दकनी' बनी। २० वर्ष की महान चेष्टा के बाद औरंगज़ेब ने दक्षिण पर विजय प्राप्त की, परंतु दकनी भाषा और साहित्य औरंगज़ेब की मृत्यु (१७०७ ई०) तक दक्षिण में पनपते रहे। इसके बाद 'वली' ने दकनी के साहित्य को उत्तर में पहुँचा दिया और वह उर्दू के नए नाम से उत्तर भारत में फैल गया।

१६०० ई० तक दकनी में जो साहित्य बना वह एकदम धार्मिक है। इसे सूफ़ियों और पीरों का साहित्य कहना चाहिये। अधिकांश साहित्य गद्य में है जो खड़ी बोली गद्य के विकास के अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण है परंतु पद्य भी कम नहीं है। गद्य और पद्य दोनों में हिन्दीपन की मात्रा इतनी अधिक है कि इसे हिन्दी का साहित्य कहना ठीक होगा। इस धार्मिक साहित्य में साहित्यिकता की मात्रा बिलकुल नहीं हो, यह बात नहीं। हाँ, मूल प्रेरणा धार्मिक है, लक्ष्य प्रचार या साधना; अतः साहित्य अधिक नहीं है। इस धार्मिक साहित्य की परंपरा में इस युग में सबसे महत्वपूर्ण नाम शाह बुरहान के पुत्र अमीनुद्दीन आला (१५८२—१६७५) का है।

दकनी साहित्य का पूर्ण विकास दक्षिण के कुतुबशाही और आदिलशाही दरबारों में हुआ। कुतुबशाही खानदान का चौथा बादशाह मुहम्मद क़ुली क़ुतुबशाह (१५८०—१६११) है। यही पहला दक्षिणी कवि है जिसने 'दीवान' (संग्रह) के रूप में ५०,००० शैरों को इकट्ठा किया। भाषा दकनी है और विषय हैं हिन्दू-मुसलमान त्योहार, रस्म-रिवाज, ऋतु-चर्चा, फल-फूल, पशु-पक्षी। उत्तर में कुछ दिनों बाद नज़ीर अकबराबादी ने इसी ढंग की रचना की है। क़ुतुबशाही राज शिया था, अतः मरसियों (शोकगीतों) को विशेष विकास प्राप्त हुआ। इन मरसियों की भाषा एक तरह से हिंदी के बहुत निकट है :

१—तुझबिन जोगन का रख भेस,
राख लगाऊँ खोले केस,
तुझको ढूढूँ देस-विदेस,
सूना तेरा पालना
दुख की कंथा पहनूँ तन,
ग़म की धूनी जानूँ मन,
तुझ बिन मुझको घर है बन,
सूना तेरा पालना

२—जलबे सें उठते रन कों चला तब कही दुल्हन
दामन पकड़ के लाज सों असुवाँ भरे नयन
मत छोड़ कर सिधारो तुम इस हाल में हमन
तुम बिन रहेगा हाय यह सूना भवन मेरा

वास्तव में यह भाषा आज की खड़ी बोली से बहुत दूर नहीं पड़ती और यह दकनी साहित्य हिंदी भाषा और साहित्य में एक नई परंपरा जोड़ देता है। इस ख़ानदान के और बादशाहों (सुलतान मुहम्मद .कुतबशाह १६११-२६, अबदुल्ला .कुतुबशाह १६२६-७४ और अबुलहसन तानाशाह १६७४-८६) ने साहित्य-सृजन की इस परंपरा को जारी रखा और वजही, ग़वास्सी, इब्न निशाती, कुतुबी, नूरी और हाशिमी जैसे प्रतिभाशाली कवियों ने इस दकनी साहित्य-रचना में योग दिया। इन कवियों को हिन्दीपन का कितना आग्रह था यह इस बात से ही जाना जा सकता है कि इब्न निशाती ने अपनी प्रसिद्ध मसनवी का नाम 'फूलबन' रखा था। बीजापुर के मुसलमानी राज (आदिलशाही) ने भी मेलजोल की यह भाषा आगे बढ़ाई। इब्राहीम आदिल-शाह (१५८०-१६२६) ने अपने प्रमोद कानन (पाई बाग़) का नाम 'नवरस पुर' रखा और अपनी रचना का 'नवरस नामा'। इसके समय में गुजरात से बहुत से मुसलमान कवि बीजापुर आ बसे। इनकी कविता ने दकनी में जान डाल दी! आदिल शाही राज- रंपरा ने भी दकनी साहित्य की बराबर सेवा की। १६८६ ई० में औरङ्गजेब ने बीजापुर और गोलकुंडा के मुसलमानी राज्य उजाड़ दिये। इसके फलस्वरूप कुछ ही वर्षों में दकनी साहित्य समाप्त हो गया। परन्तु १७३० ई० तक फिर भी इस साहित्य की परंपरा चलती रही। इसका अंतिम कवि वली (१६६७ ई०—१७४१ ई०) हैं। वली तीन बार उत्तरी भारत आये। उस समय दिल्ली में फ़ारसी का राज्य था, परन्तु वली की ग़ज़लें दिल्ली के गली-कूचों में गाई जाने लगीं। वली की गजलों ने दिल्ली के साहित्यिक वातावरण में क्रांति उत्पन्न कर दी। १७२३ ईस्वी के अपने दूसरे दिल्ली प्रवास में अपनी लोकप्रियता से प्रभावित होकर वली ने अपनी बहुत-सी ग़ज़लों की भाषा दिल्ली की भाषा बना दी। दिल्ली के कवि इसका अनुकरण करने लगे। इस प्रकार उर्दू ग़ज़ल की नींव पड़ी। वली के इस परिवर्तन के बाद दिल्ली की भाषा ही साहित्यिक भाषा बन गई और दकिनी का दौर समाप्त हो गया। स्वयं दकन के कवि भी इस नई भाषा (उर्दू) में कविता करने लगे।

अठारहवीं शताब्दी के आरंभ तक दिल्ली में भी हिंदीपन का ज़ोर था, यह मीरजाफर 'ज़टल्ली' (१६५६-१७१३) की इन पंक्तियों से प्रगट है। विषय है विरह-वर्णन :

सखी री चेत रुत आई ननाही
अजहुँ उम्मीद मेरी बर न आही
बआलम फूलियाँ फुलवारियाँ सब
करें सैराँ पिया सँग नारियाँ सब
सखी यह रुत मुझे नागन डसत है
फिरूँ बौरी तमामी जग हँसत है
अरी मैं इश्क सों डरती फिरौं थी
नसीहत मैं अपन सौं यों करौं थी
कि पंछी सों लगन हरगिज़ न कीजे
अरे दिल दे हज़ारों ग़म न लीजे

'उर्दू' की नींव मुहम्मदशाह रँगीले (१७१६-१७४८) के दरबार में पड़ी। दरबार के बड़े-बड़े फ़ारसी के कवि वली की लोकप्रियता से प्रभावित होकर जब जनभाषा में लिखने लगे तो उन्होंने अपनी कविता को फ़ारसी का इतना रंग दिया कि वह 'दकनी' और 'हिन्दी' से बिलकुल दूर एक नई भाषा की चीज हो गइ। भाव में पक्की ईरानी। वली का प्रभाव देर तक बना नहीं रह सका और इसीलिये दिल्ली की कविता की एक नई परंपरा चली। यह फारसी-कवि दकनी भाषा को 'लचर' कहते थे और इन्होंने अपनी नई भाषा का नाम 'रेख्ता' (उठाया हुआ या खड़ा किया हुआ) दिया। १७२२ से १८०० ई० तक का 'रेख्ता' का काव्य साहित्य फारसी तत्सम-प्रधान इस नई भाषा का साहित्य है। दस वर्ष बीतते-बीतते ही नई भाषा और साहित्य से सारा हिंदीपन निकल चुका था। १७५० ई० के बाद का दिल्ली का काव्य हिंदी भाषा और साहित्य की परंपरा से इतना दूर जा पड़ता है कि हिंदी साहित्य के इतिहास में उसका कोई स्थान नहीं होगा। अपवाद के रूप में हमें केवल नज़ीर अकबराबादी (१७५० ई०-१८३० ई०) का काव्य मिलता है। भाषा और भावना दोनों की दृष्टि से उनका साहित्य कुली कुतबशाह की कविता का उत्तराधिकारी है और उसे हिंदी का साहित्य मान लेने में कोई कठिनाई नहीं होगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि खड़ी बोली हिंदी की एक परंपरा हिंदवी

और दकनी साहित्यों में सुरक्षित है जिनका समय १०५० ई० से १८३० ई० तक आता है। इस परंपरा का सब से पहला कवि मा'सूद (१०४५—११२१) है और अंतिम कवि नज़ीर अकबराबादी (१७५० ई०—१८३० ई०)। लाहौर, दिल्ली, गुजरात और दकन इस साहित्य के केन्द्र हैं। जान पड़ता है, मुसलमानों के आक्रमण के समय सारे मध्यदेश में एक सामान्य भाषा चल रही थी। नाथों, संतों और पीरों-सूफ़ियों ने इसी का प्रयोग किया। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने जिसे 'सधुक्कड़ी भाषा' कहा है, वह यही सामान्य बोली है जो थोड़ी बहुत बदलती अवश्य रही है, परन्तु जो खड़ी बोली हिन्दी से अभिन्न है। 'वीसलदेव रासो' (१२२५ ई०) में इसका प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ता है। गोरखनाथ, चरपट, नामदेव, पीपा, कबीर, रविदास, नानक, अंगद, अमरदास की भाषा में प्रादेशीयता की मात्रा अवश्य है, परंतु मूल रूप से यह वही भाषा है जिसका इस्लामी रूपांतर 'हिंदी' या 'दकनी' है। इस प्रकार खड़ी बोली साहित्य की परंपरा गोरखनाथ (१०वीं शताब्दी) से प्रारंभ होकर आज तक अविच्छिन्न चली आती है।

वर्तमान युग

१८००—१९२५

वर्तमान युग १८०० के लगभग आरम्भ होता है। अभी इस युग का प्रारम्भिक काल ही चल रहा है। इतिहास की दृष्टि से यह काल ब्रिटिश-काल कहलाता है। हमने संस्कृति के अंगों को धार्मिक दृष्टिकोण से विभाजित किया है। इस दृष्टि से इस काल को ईसाई काल कहना चाहिये परन्तु यह नाम उपयुक्त और उचित प्रतीत नहीं होता। वास्तव में इस काल को वर्तमान काल या सुधार काल कहना अधिक समीचीन होगा। इस काल की संस्कृति के विषय में अभी हम विस्तृत तथा निश्चित रूप में विचार नहीं कर सकते, क्योंकि प्रायः प्रत्येक क्षेत्र में उसकी प्रवृत्तियों को निश्चित रूप नहीं मिला है और उसकी प्रवृत्तियों में बराबर परिवर्तन हो रहे हैं।

राजनैतिक परिस्थिति

भक्ति-काल के अन्तर्गत १७५७ ई० के पश्चात् मध्यदेश की राजनीतिक परिस्थिति परिवर्तित होने लगी थी। १७६१ ई० में पानीपत का युद्ध हुआ था, जिसमें महाराष्ट्रीय शक्ति अहमदशाह अब्दाली द्वारा पराजित हुई थी, १७६४ में बक्सर के युद्ध में अवध की सेनाएँ युद्ध में अंग्रेजों से पराजित हुई थीं। १८०२—१८०४ तक मरहठों के युद्ध के पश्चात् पश्चिमी मध्यदेश भी अंग्रेजों के आधीन हो गया।

१८०९—१८४६ तक (द्वितीय सिक्ख युद्ध तक) धीरे-धीरे अंग्रेज़ों की शक्ति बढ़ती गई। १८४६ के सिक्ख युद्ध में मध्य का समस्त पश्चिमी भाग और पंजाब अंग्रेज़ों के आधीन हो गया और १८५६ तक समस्त हिन्दी प्रदेश अंग्रेज़ों द्वारा जीत लिये गये।

सन् १८५७ में विप्लव हुआ जिसके पश्चात् राजनीति का द्वितीय कांड आरम्भ हुआ। १८५७ का विद्रोह अखिल भारतीय सैनिक विद्रोह नहीं था, प्रत्युत इसका संबंध प्रमुख हिन्दी प्रदेश से था। मेरठ, दिल्ली, आगरा, झाँसी लखनऊ, कानपुर, पटना आदि स्थान ही विद्रोह के केन्द्र थे। और इस विप्लव में भाग लेने वाले क्रान्तिकारी सिर्फ सैनिक ही नहीं थे, परन्तु वह राष्ट्रीय विद्रोह नहीं था। इस विद्रोह के सूत्रधार वे राजा, नवाब और तालुकेदार थे जिनसे अधिकार या राज्य अंग्रेज़ी शासन ने छीन लिये थे इन्हीं लोगों ने हिन्दी प्रदेश के सैनिकों की सहायता से देशव्यापी विद्रोह फैलाया। इस विद्रोह के दबाने में हिन्दी प्रदेश के सीमान्त निवासियों ने हमारे विरुद्ध अंग्रेज़ों

की सहायता की। गोरखे, राजपूत और सिक्ख हमारे विरुद्ध लड़े। फलतः जो हिन्दी प्रदेश १८०२—१८५७ तक ईस्ट इंडिया कम्पनी के आधीन था वह तत्पश्चात् अंग्रेज़ी साम्राज्य के अन्तर्गत हो गया।

१८५७ से राजनीतिक क्षेत्र में एक नवीन रूप दिखाई देता है अर्थात् इस वर्ष से सुधार की भावना जागृत होती है। राजनीतिक परिवर्तन होते रहे। १८७८ में कांग्रेस की स्थापना हुई। तब से १६०५ तक कांग्रेस में नर्म दल ही प्रस्ताव पास करता रहा। १९०५ में वंग-भंग की प्रसिद्ध घटना घटी। इसी समय जब जापान ने रूस को परास्त किया तो उसके प्रभाव-स्वरूप भारतवर्ष में भी उत्क्रान्ति और जागृति की भावना प्रबल हुई और तभी से सुधार की भावना ने उग्र रूप धारण कर लिया। पुनः योरोपीय महायुद्ध के पश्चात् १९१८—१९२२ तक असहयोग आन्दोलन हुआ और १६३०—१६३२ तक सत्याग्रह आन्दोलन चला। इन आन्दोलनों के फलस्वरूप राजनीतिक सुधार आन्दोलन की शक्ति अधिक बढ़ गई। १६०५ तक तो उच्चवर्ग के व्यक्ति ही इस सुधार भावना में लीन थे परन्तु १०९५—१०१० तक यह भावना मध्यम श्रेणी में फैली और अब तो यह सर्वसाधारण तक पहुँच गई है। अब तो हमारे गाँवों में भी राजनीतिक समस्याओं पर विचार होने लगा। इस प्रकार जब से अंग्रेज़ी सत्ता भारतवर्ष में स्थिर हुई है उसी समय से राजनीतिक सुधारों की भावना भी जागृत हुई है और सब से अधिक रोचक बात तो यह है कि हम सुधार की ओर अग्रसर होते हुए अपने संस्कृति के आदि काल की ओर जा रहे हैं। हम जनपद की संस्थाओं की ओर मुड़ रहे हैं। वैदिक काल में जनपद ही राज्य संचालन करता था। वास्तव में प्रजातन्त्र जनपद का ही नवीन रूप है और आज भी हम यह कहते हैं कि जब जनसाधारण देश की परिस्थितियों पर विचार करेगा तभी देश का भला होगा।

सामाजिक परिस्थिति

सुधार की भावना वर्तमान काल में समाज में भी दिखलाई देती है। सर्वत्र परिवर्तन की भावना से ओत-प्रोत है। बिरादरी की व्यवस्था अब उपयुक्त नहीं मानी जाती। पंजाब में जाति-पाति-तोड़क मंडल आदि छोटी-छोटी संस्थाओं से लेकर आर्य समाज तक प्रत्येक संस्था में परिवर्तन की भावना है। परन्तु आजकल राजनीतिक समस्या इतनी महत्वपूर्ण हो गई है कि समाज-सुधार की ओर हमारा ध्यान पूर्ण रूप से नहीं जा रहा है। हमारे समाज में इस समय प्रायः दो वर्ग के लोग हैं। एक तो प्राचीन परिपाटी वाले और दूसरे प्राचीन व्यवस्थाओं को उखाड़ फेंकने वाले।

पहले की अपेक्षा पर्दा-प्रथा में विशेष परिवर्तन हुआ है। अब बहू का पर्दा श्वसुर से, परिवार के अन्य व्यक्तियों से, अतिथि से और समाज के साथ अलग-अलग रूप में होता है।

धार्मिक परिस्थिति

वर्तमान काल में धर्म असाधारण परिस्थिति में है। हिन्दू धर्म या सनातन धर्म जिस रूप में प्रचलित है वह बौद्ध सुधार, पौराणिक तथा भक्ति काल के धर्म के मिश्रित प्रभाव से उत्पन्न हुआ है। इनमें से भक्ति सम्प्रदाय और पौराणिक धर्म का अधिक प्रभाव पड़ा है। इस समय सनातन धर्म के प्रत्येक क्षेत्र में क्षीणता दृष्टिगोचर होती है। सर्वसाधारण के अन्दर आस्तिकता की भावना वर्तमान है। पुनर्जन्म और कर्म-सिद्धान्त किसी-न-किसी रूप में समाज में माने जाते हैं। पौराणिक देवताओं और अवतारों पर विश्वास रखा जाता है और वे इष्टदेव के रूप में पूजे जाते हैं।

भक्ति-काल की भक्ति-भावना की छाप समाज पर गहरी पड़ी दिखलाई देती है यहाँ तक कि शैव और शाक्तों में भी भक्ति भावना प्रविष्ट हो गई है। तीर्थ-यात्रा, व्रत-उपवास आदि नियमों का पौराणिक ग्रन्थों के आधार पर पालन भी किया जाता है परन्तु प्रत्येक अंग में शिथिलता और अव्यवस्था है। मन्दिरों की अवस्था अच्छी नहीं है, धार्मिक भावना जनता के अधिक निकट नहीं प्रतीत होती। ईसाई धर्म का प्रभाव सर्वसाधारण पर स्पष्ट रूप से उतना नहीं पड़ा है। हिन्दी प्रदेश में उच्चवर्ण वालों ने ईसाई धर्म को ग्रहण नहीं किया, केवल निम्न श्रेणी और निम्न जाति के लोगों ने ही ईसाई धर्म स्वीकार किया।

धार्मिक क्षेत्र के प्रत्येक अंग में सुधार की भावना दृष्टिगोचर होती है। मद्रास में थियोसोफिकल सोसाइटी, बंगाल में ब्रह्म समाज और बम्बई में प्रार्थना समाज सुधार की ओर प्रवृत्त हुए हैं। परन्तु हिन्दी भाषाभाषी प्रदेश में आर्य समाज और राधास्वामी सत्संग का ही विशेष महत्व है। इन सुधारों का संबंध विशेषतयः उच्च श्रेणी या मध्यम श्रेणी के जन-समुदाय से ही है, जनसाधारण से नहीं।

हिन्दी प्रदेश के सुधार-आन्दोलनों की विशेषता यह है कि उनकी प्रवृत्ति प्राचीनता की ओर है। उपनिषदों और वेदों को आर्यसमाज प्रामाणिक मानता है और वैदिक धर्म का पुनरुत्थान उसका लक्ष्य है। इन सुधार आन्दोलनों में केवल धार्मिक आन्दोलन ही दिखाई नहीं देता, वरन् समाज, राजनीति

आदि क्षेत्रों में भी इनके द्वारा आन्दोलन हो रहा है। विधवा-विवाह, शुद्धि, भोजन में सवर्णता का भेदभाव दूर करना, विवाहादि के विषय में साम्य, जातिगत भेद-निवारण, मूर्तिपूजा बहिष्कार आदि की भावनाएँ प्रबल हैं। राधास्वामी सम्प्रदाय एक प्रकार से संत-सम्प्रदाय का आधुनिक रूप है। संत-सम्प्रदाय के प्रमुख-प्रमुख सभी सिद्धान्त राधास्वामी सम्प्रदाय के अन्तर्गत मिलते हैं। यथा, गुरु का स्थान, योगाभ्यास आदि की महत्ता। इस सम्प्रदाय में आधुनिकता की छाप भी है। इसमें आधुनिक व्यवसायों की उन्नति की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। अब तक के सभी धार्मिक सुधारों में सांसारिक अभ्युदय पर विशेष बल नहीं दिया गया था। इस ओर सर्वप्रथम राधास्वामी सत्संग ही प्रवृत्त हुआ। यह नहीं कहा जा सकता कि इन सुधारों का प्रभाव कितना स्थायी होगा। इस समय इन आन्दोलनों पर दृढ़ विश्वास करने वाले और उन पर चलने वाले व्यक्ति अल्पसंख्यक ही हैं, यद्यपि अस्पष्ट रूप से सभी प्रभावित हैं।

साहित्यिक परिस्थिति

प्राचीन संस्कृत आर्य-साहित्य और भाषाओं का अध्ययन इस काल में प्रायः लुप्त सा हो रहा है। संस्कृत की तो कुछ पूछ भी है परन्तु पाली 'प्राकृत' अपभ्रंश को लोग प्रायः भूल गये हैं।

१९वीं शताब्दी में ब्राह्मी लिपि को लौकिक लिपि नहीं मानते थे। हिन्दी प्रदेश के विश्वविद्यालयों और पाठशालाओं में इन भाषाओं के अध्ययन का कोई प्रबन्ध न था। संस्कृत के अध्ययन को केवल एक छोटे से वर्ग (ब्राह्मण वर्ग) ने अपना लिया है। जनसाधारण संस्कृत का अध्ययन नहीं करते और संस्कृत को आज भी साधारण शिक्षा में नहीं गिनते। आजकल जो संस्कृत का अध्ययन हो रहा है वह अपूर्ण और एकांगी है। संस्कृत के विद्वान् प्रायः विशेषज्ञ बनने की दृष्टि से उसका अध्ययन करते हैं। वे साधारण शिक्षा की दृष्टि से संस्कृत नहीं पढ़ते।

एक नवीन विदेशी भाषा और उसके साहित्य से हमारा परिचय हुआ। यद्यपि हम अंग्रेजी भाषा को पढ़ते और जानते हैं परन्तु अंग्रेज़ी साहित्य के निर्माण में (मौलिक रचना में) हमारे हिन्दी प्रदेश का हाथ बहुत कम है। इस प्रदेश में जो अंग्रेज़ी पुस्तकें लिखी गई हैं उनका महत्त्व बहुत कम हैं। वे या तो पाठ्य पुस्तकें हैं या खोज-सम्बन्धी पुस्तकें। मौलिक ललित साहित्य के निर्माण के क्षेत्र में विशेष कार्य नहीं हुआ है। इसके अतिरिक्त हमारी

भाषा का साहित्य दो धाराओं में विभक्त हो रहा है—हिन्दी और उर्दू। इस प्रकार हम साहित्य की दृष्टि से एक नवीन परिस्थिति में चल रहे हैं।

शिक्षा और कला

शिक्षा की प्राचीन संस्थाएँ योरुप के अनुकरण के कारण टूट गई हैं। नवीन शिक्षा-संस्थाओं में हमारी सांस्कृतिक अध्ययन की उपेक्षा हो रही है। उनमें कला की शिक्षा का कोई स्थान नहीं है। ६००, ७०० वर्षों तक विदेशी प्रभाव पड़ने के कारण हमारी कलाएँ समाप्तप्राय हैं; यद्यपि अब कुछ समय से बंगाल और बम्बई के अनुकरण में हमारे हिन्दी प्रदेश में भी कला की उन्नति की ओर ध्यान दिया जा रहा है।

उन्नीसवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध

(अ) गद्य : उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व

अंग्रेज़ों के आने और फोर्ट विलियम कालिज की स्थापना से कहीं पहले ही हिन्दी गद्य में रचनाएँ प्रारंभ हो चुकी थीं। पिछली शताब्दियों की साहित्यिक धाराओं का परिचय देते हुए हमने प्राचीन गद्य का उल्लेख किया है, परन्तु उस सब सामग्री को एक स्थान पर रख देना उचित होगा जिससे अर्वाचीन गद्य-साहित्य के अध्ययन की वीथिका बन सके।

९४३ ई० और १३४३ ई० के बीच में हमें राजस्थानी गद्य के दर्शन होते हैं। पृथ्वीराज के समय की कुछ सनदें आदि भी प्रकाशित हुई हैं। पं० गौरी-शंकर हीराचन्द ओझा उनकी सत्यता में सन्देह करते हैं और उन्हें बाद के समय का बताते हैं। हिन्दी के सबसे प्राचीन लेखक गोरखनाथ हैं। इनके समय के संबंध में बड़ा मतभेद है। मिश्रबन्धु इनका समय १३५० ई० मानते हैं, परन्तु आधुनिकतम खोजों से यह ९४३ ई० सिद्ध होता है।

हिन्दी गद्य के इस प्रारम्भिक उत्थान के बाद उसका दूसरा काल शुरू होता है। इसका समय १३४३ ई० से १६४३ ई० तक है। इस समय काशी और ब्रज साहित्यिक केन्द्र थे। अवधी गद्य बहुत कम मिलता है परन्तु ब्रज-भाषा गद्य में कुछ धार्मिक ग्रन्थ अवश्य लिखे गये। खड़ी बोली का प्रारम्भ भी हो गया था और मुसलमान और सन्त उसमें रचनाएँ भी करते थे। परन्तु भक्तों को तो राम-कृष्ण की कथाएँ कहनी थीं, वे इस भाषा में नहीं कही जा सकती थीं। यद्यपि खड़ी बोली एक प्रान्त विशेष के हिन्दुओं की ही बोली थी परन्तु मुसलमान शासकों द्वारा अपनाये जाने के कारण हिन्दुओं ने उसका बहिष्कार किया।

ब्रजभाषा गद्य में विट्ठलनाथ का शृङ्गाररस मंडन, गोकुलनाथ के किसी शिष्य की ८४ वार्ता और २५२ वार्ता, नन्ददास की विज्ञानार्थ प्रवेशिका, नासिकेत पुराण भाषा, और अष्टयाम (१६००) १६वीं शताब्दी की रचनायें हैं। १७वीं शताब्दी के ब्रजभाषा गद्य का एक नमूना तुलसीदास का पंचनामा है जो १६१२ में लिखा गया है। ओरछा निवासी बैकुण्ठदास (आ० १६१८—१६२४) ने बैकुण्ठ माहात्म्य और अगहण माहात्म्य की रचना की। इन दोनों ग्रन्थों पर खड़ी बोली की छाप है। १७वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में भुवन दीपिका (१६१४) और विष्णुपुरी (१६३३) लिखे गये। इन ग्रन्थों और लेखकों के अतिरिक्त ब्रजभाषा गद्य के अन्य ग्रन्थ और लेखक भी हैं।

गद्य के इस दूसरे उत्थान काल में खड़ी-बोली गद्य भी गद्य-लेखकों के प्रयास से अछूता न रहा। अकबर के दरबारी गंग भट्ट ने 'चन्द छन्द वर्णन की कथा' लिखी। यह खडी बोली गद्य की पहली रचना है। इस समय राजस्थानी गद्य भी लिखा गया।

१६४३ से १८४३ तक ब्रजभाषा और राजस्थानी में गद्य का निर्माण होता रहा परन्तु इस समय की रचनाओं में से अधिकांश लोप हो गई हैं। विहारी सतसई की अनेक टीकायें लिखी गईं। इनकी भाषा शिथिल है और उसे साहित्यिक गद्य नहीं कहा जा सकता। इस समय का सबसे महत्वपूर्ण ग्रंथ अब्बुल फ़ज़ल की आईने अकबरी का अनुवाद है। दामोदरदास दादू-पंथी ने ब्रजभाषा गद्य में मार्कण्डेय पुराण नाम भाषा का ग्रन्थ लिखा। सुरति मिश्र (आ० १७१०) ने वैताल पचीसी और आगरा नारायणदास ने भक्तमाल प्रसंग की रचना की। हीरालाल ने आईने अकबरी की भाषा-वचनिका लिखी। अन्य लेखक भी हैं जैसे मनोहरदास निरंजनी (आ० १६५०), हेमराज पांडेय, भगवान मिश्र मैथिल और रामचन्द्र दास (१७८७)। इस समय की ब्रजभाषा गद्य की अन्य रचनायें नासिकेतोपाख्यान (१७०७ के पहले), भूगोल पुराण (१७०५ के पहले), हितोपदेश और "ग्रन्थावली-ग्वालेरी भाषा में" हैं। रीवा के राजा महाराज विश्वनाथ (१७२१—१७८०) ने अपने हिन्दी के सर्वप्रथम नाटक आनन्द रघुनन्दन में ब्रजभाषा का प्रयोग किया। राजस्थानी गद्य में भी काम होता रहा। १८वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में "मुहणोत नैणसी री ख्यात" की रचना हुई। १६५८ ई० में खिरिया जग्गो ने 'रावरतन महेश देवोत्तरी' वचनिका लिखी। बांकीदास (१८८१—१८३३) ने ऐतिहासिक कथाओं का एक संग्रह 'असीया चारण बांकीदास री' और 'जोधपुर राठौर री

ख्यात' की रचना की। खड़ी बोली में मडोवर का वर्णन और चकत्ता की पादशाही की परम्परा (१७५३ ई०) नाम के ग्रन्थ पाये जाते हैं। इनके लेखकों के विषय में कुछ ज्ञात नहीं। १७९० ई० के पहले की खड़ी बोली मिश्रित राजस्थानी की एक रचना कुनबदी साहिबज़ादा री बात है।

उन्नीसवीं शताब्दी का गद्य

१६ वीं शताब्दी का बहुत कुछ साहित्य सामने नहीं आया है। जो आया है, वह साहित्य की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण नहीं है, परन्तु भाषा की विकास की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इसे ही उत्तरार्द्ध के लेखकों के लिए भूमि तैयार करने का श्रेय प्राप्त है। अनेक लेखकों और परिस्थितियों में से निकल कर खड़ी बोली हिन्दी इस योग्य हुई कि उसमें मौलिक रचना की जा सके और साहित्य-सृजन हो। पूर्वार्ध के मुख्य लेखक इंशा, सदल मिश्र और लल्लू जी लाल हैं। इन पचास वर्षों में हिन्दी-समाचार पत्रों ने गद्य के विकास में महत्वपूर्ण भाग लिया। उस समय का गद्य मुख्यतः धर्म-प्रचार, पाठ्य पुस्तकों, समाचार पत्रों और ज्ञान-विज्ञान के लिए लिखा गया। उससे जनता के ज्ञान में वृद्धि हुई। सच तो यह है कि उस समय जनता नये ज्ञान-विज्ञान से परिचित होने की इच्छुक थी और पूर्वार्ध के गद्य ने उसकी इच्छा को पूरा किया।

पूर्वार्ध में हिन्दी भाषा के प्रचार और गद्य शैली के विकास में यूरोपियन लेखकों का महत्वपूर्ण हाथ रहा परन्तु उन्होंने सीमित क्षेत्र में काम किया। ईसाई मिशनों का काम शताब्दी के आरम्भ से ही शुरू हो गया था परन्तु उसकी गति बहुत धीमी रही। १८१३ ई० से ईसाई पादरियों ने अंजील आदि के अनुवाद उपस्थित कर के हिन्दी-भाषा के प्रचार में विशेष रूप से भाग लिया फोर्ट विलियम कालिज का काम विशेष स्थायी नहीं है। उसका महत्व इतना ही है कि वहाँ से कुछ कोष और व्याकरण प्रकाशित हुए जिनमें पहली बार वैज्ञानिक दृष्टिकोण से काम लिया गया है।

भाषा का प्रयोग अनिश्चित है। अधिकांश लेखक पंडिताऊ भाषा लिखते हैं। लल्लू जी की भाषा का ईसाई पादरियों पर प्रभाव पड़ा परन्तु हिन्दी लेखकों ने उनका अनुकरण नहीं किया। पहले यह भाषा केवल पंडित वर्ग में प्रयोग में आती थी परन्तु जब पंडित वर्ग से बाहर निकली तो संस्कृत शब्दावली और पंडिताऊपने को धीरे धीरे छोड़ने लगी। काव्य में रीति (शृंगार),

वीर, भक्ति की धारायें चल रही थीं। काव्य की भाषा ब्रजभाषा थी। पूर्वार्ध के गद्य पर नवीन युग का प्रभाव है परन्तु कविता पर इस प्रकार का कोई प्रभाव नहीं। प्राचीन रूढ़ियां और परम्परायें चल रही हैं। इस समय का गद्य नये विषयों और नई शैलियों को लेकर चलने लगता है परन्तु पद्य प्राचीन वातावरण में ही साँस लेता है। राजदरबारों से हटकर वह अभी जनता के सामने नहीं आया है। इसी कारण न उसमें मौलिकता है न सजीवता। पूर्वार्ध का साहित्य पाठ्य-पुस्तकों, विवरण पत्रिकाओं, अनुवादों आदि तक सीमित है। उसमें जीवनी, उपयोगी साहित्य, इतिहास आदि का पता नहीं। विज्ञान-संबंधी पाठ्य-पुस्तकें अवश्य मिलती हैं।

१६ वीं श० पूर्वार्द्ध का गद्य

१६वीं शताब्दी का पूर्वार्ध गद्य के जन्म और विकास के लिए महत्वपूर्ण है। इससे पहले, जैसा हम दिखा चुके हैं, गद्य-साहित्य का निर्माण पर्याप्त मात्रा में हो चुका था। मैथिली, ब्रजभाषा, राजस्थानी और खड़ी में बहुत सी रचनाएँ इस शताब्दी के पहले की मिलती हैं। परन्तु वास्तव में इस शताब्दी से पूर्व का गद्य साहित्यिक दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं हैं। संस्कृत और विदेशी भाषाओं के अध्ययन की प्रधानता, अशान्तिपूर्ण परिस्थिति और आवागमन के साधनों का अभाव, काव्य की लोकप्रियता और भावों तथा विचारों में अनेकता का अभाव कुछ ऐसे कारण थे जिन्होंने गद्य के विकास में बाधा डाली। इस समय जो गद्य लिखा गया वह केवल टीकाओं और धर्म प्रचार करने के लिए किया गया। मध्ययुग का साहित्य मुख्यतः काव्य-साहित्य है, परन्तु उस समय लोग संस्कृत भाषा और साहित्य से विमुख हो रहे थे और धर्म और दर्शन लोकोन्मुख थे, अतः गद्य का निर्माण प्रचुर मात्रा में हो सकता था परन्तु काव्य के प्रयोग की कुछ ऐसी रूढ़ि हो गई थी कि उसी का प्रयोग हुआ, यहाँ तक कि उपयोगी साहित्य भी काव्य के रूप में सामने आया। उस समय गद्य की अपेक्षा पद्य लिखना सरल भी था। पद्य की भाषा और शैली परिमार्जित हो चुकी थी और लेखक बड़ी सरलता से अपने विचारों को पद्य में प्रगट कर सकते थे।

इस समय गद्य को प्रगति देने के कई साधन उपस्थित हो गये थे। समाज-सुधार आन्दोलन ने नये विचारों और भावनाओं को जन्म दे दिया था। हिन्दी के बहुत से लीथो और टाइप प्रेस खुले हुए थे और उनमें से कई समाचार पत्रों का प्रकाशन करते थे। कुछ ऐसी संस्थाओं का जन्म हो गया था जो स्वार्थ

वश ही सही, हिन्दी भाषा और नागरी लिपि को अपनाने लगी थीं। इन संस्थाओं ने धर्म-सम्बन्धी पुस्तकों और पाठ्य पुस्तकों को हिन्दी रूप दिया अथवा इन पर स्वतंत्र रचना की। पादरियों के मिशन, राजा राममोहन राय और केशवचन्द्र सेन का ब्रह्म समाज, और स्वामी दयानन्द का आर्य समाज, धर्म और समाज को लेकर वाद-विवाद करने पर तुले थे और इनके द्वारा हिन्दी गद्य की वृद्धि स्वाभाविक थी। अन्य भौतिक कारण भी थे। आवागमन के साधन बहुत अच्छे थे। राष्ट्रीयता के विकास ने हिन्दू-मुसलमानों को एक रंगमंच पर ला खड़ा किया। अन्तिम बात यह है कि जनता अपने अधिकारों के प्रति सतर्क होने लगी थी।

१८१५ में राजा राममोहन राय ने वेदान्त सूत्र का हिन्दी अनुवाद किया। १८२४ ई० में गोराबादल की कथा का राजस्थानी गद्य से खड़ी बोली गद्य में अनुवाद हुआ।

१६वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ईसाई मिशनों का काम भी महत्वपूर्ण है। सबसे महत्वपूर्ण मिशन जिसका संबंध हिन्दी से है श्रीरामपुर का डेनिकस मिशन है। यहीं पहला हिन्दी-प्रेस स्थापित हुआ जिसका संबंध केरी और मार्शमैन से है। केरी के उत्साह से १७४५ में एक स्कूल भी खुला। १८०० ई० तक श्रीरामपुर में बहुत से स्कूल खुल गये थे। १८१८ ई० में इनकी संख्या १२६ थी। इनमें पाठ्य पुस्तकों और शिक्षा-सम्बन्धी ग्रन्थों का निर्माण हुआ।

इन मिशनों ने बाइबिलों के बहुत से अनुवाद प्रकाशित किये। यह अनुवाद का काम १८०६ से ही शुरू हो गया था। १८१६ तक नया अंजील संपूर्ण प्रकाशित हो गया। १६०६ में न्यू टेस्टामेंट प्रकाशित हुआ था और १६१८ ई० में ओल्ड टेस्टामेंट को मिला कर पूरा बाइबिल प्रकाशित किया गया। इन अनुवादों की भाषा खड़ी बोली हिन्दी थी। हिन्दी से मिशनरियों का तात्पर्य इसी बोली से था। उन्होंने हिन्दी बोलियों (ब्रज, अवधी आदि) में भी साहित्य प्रकाशित किया। यह सब साहित्य प्रचार के लिए बंगाल से लेकर पंजाब तक मुफ़्त बांटा गया।

आगरा और इलाहाबाद के मिशनों ने भी काम किया। इन केन्द्रों से भी बड़ा साहित्य प्रकाशित हुआ। उन्होंने कुछ बाहरी प्रकाशन संस्थाओं को भी सहायता दी, जैसे आगरा की स्कूल बुक सोसाइटी को।

१६वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में गद्य के क्षेत्र में विशेष रूप से काम हुआ। यह काम इन्शाउल्ला खाँ, राजा राममोहन राय और युगल किशोर के गद्य से

शुरू हुआ। इन्होंने फोर्ट विलिमम कालिज से बाहर रहकर हिन्दी गद्य को पुष्ट किया। इसके अतिरिक्त सदासुखलाल नियाज़ का नाम भी उल्लेखनीय है।

वेल्ज़ली के समय (१७९८-१८०५) के कुछ पहले ही सर विलियम जोन्स (१७४६-१७९४) योरोप को संस्कृत से परिचित करा चुके थे। इस परिचय के फलस्वरूप भाषा-विज्ञान के अध्ययन में क्रांति हो गई और विद्वानों का ध्यान भारत की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति की ओर गया। परन्तु भारतीय प्रान्तीय भाषाओं (देशी बोलियों) को महत्त्व वेल्ज़ली ने ही दिया। अंग्रेज़ी राजसत्ता के स्थापित होने के बहुत समय बात तक उसके अधिकारियों के लिए यह आवश्यक नहीं था कि भारतीय भाषा का ज्ञान प्राप्त करें। कम्पनी के नौकर कभी-कभी काम चलाऊ देशी भाषा सीख लेते थे।

१५ जनवरी १७८४ को एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना हुई और उसके द्वारा पूर्वी भाषाओं में खोज शुरू हुई। इस सोसाइटी से संबंधित अनेक ऐसे विद्वानों ने महत्त्वपूर्ण काम किया जो पूर्व के साहित्य से परिचित थे। वारेन हेस्टिंग्स ने उन्हें बहुत सहायता दी। इन विद्वानों में एक विद्वान डा० जोन वार्थविक गिलक्रिष्ट थे जो १७८२ में भारतवर्ष आये। इन्होंने १७८७ में इंगलिश एन्ड हिन्दुस्तानी डिक्शनरी लिखी। कम्पनी के नौकरों को हिन्दुस्तानी सीखने में इस ग्रन्थ ने बड़ी सहायता दी। १७९० में गिलक्रिष्ट ने इस काम के लिये एक पाठशाला खोली। उस समय कितने ही अफ़सरों ने खड़ी हिन्दी सीखी, विशेष कर फ़ौजी अफ़सरों ने। कुछ ने व्रजभाषा भी सीख ली। अफ़सर लोग सिपाहियों के सम्पर्क में आकर उनकी बोलियां भी सीख जाते थे।

वेल्ज़ली ने कम्पनी के नौकरों के लिये १७९८ की एक विज्ञप्ति के अनुसार देशी भाषा का ज्ञान आवश्यक कर दिया। इस ज्ञान के बिना कम्पनी किसी भी व्यक्ति को नौकर नहीं रखती थी। १७९४ के अपने एक पत्र में वेल्जली ने हिन्दुस्तानी शिक्षा प्रदान करने के लिये एक कालिज खोलने की बात लिखी है। १८०० में इस कालिज की स्थापना हुई। इसका उद्देश्य कम्पनी की जड़ें मज़बूत करना था। कम्पनी जानती थी कि वह मुग़लों के साम्राज्य की उत्तराधिकारिणी होने वाली है। यह उसकी दूरदर्शिता थी कि उसने ऐसा प्रबन्ध करना चाहा कि उसके नौकर उस भाषा से परिचित हो जाँय जिसे वे लोग बोलते हैं जिन पर उन्हें शासन करना है। यह कालिज फोर्टविलियम कालिज था। वेल्ज़ली ने कम्पनी के डायरेक्टरों से सहायता

चाही परन्तु उन्होंने १८०२ में उसकी स्कीम को ही रद्द कर दिया। इसका कारण यह नहीं था कि कम्पनी इस आवश्यकता को नहीं समझती थी। बात यह थी कि कम्पनी के अधिकारी वेल्ज़ली की पालिसी से प्रसन्न नहीं थे और उन्हें उसकी प्रत्येक बात बुरी लगती थी। उन्होंने स्वतंत्र रूप से इसी काम के लिये इंग्लैंड के हेलोवरी स्थान पर १८५० में ईस्ट इंडिया कालिज खोला। डायरेक्टर आप इसकी देखभाल करते थे। उन्होंने फ़ारसी, संस्कृत और अरबी के अध्ययन को अधिक महत्त्व दिया। भारत से दूर होने के कारण वे भाषाओं संबंधी सच्ची स्थिति से परिचित नहीं थे।

परन्तु वेल्ज़ली की संस्था छोटे पैमाने पर फिर भी काम करती रही। उस समय जो सबसे अच्छे पंडित और मुन्शी कम्पनी को मिल सकते थे, उन्हें कम्पनी ने फोर्ट विलियम कालिज में स्थान दिया। वेल्ज़ली के आग्रह पर डा० गिलक्रिष्ट को अपना सारा समय और ध्यान कालिज की ओर देना पड़ा। वे हिन्दुस्तानी भाषा के अध्यक्ष हुये। उनके नीचे पंडित और मुन्शी रखे गये। पंडितों की संख्या बहुत कम थी और उनमें से अधिकांश का काम उर्दू अनुवादकों को सहायता देना मात्र था। कम्पनी 'भाखा' और 'हिन्दुस्तानी' दो भाषायें स्वीकार करती थीं। पिछली भाषा से उसका तात्पर्य उर्दू ही था। लल्लू जी लाल भाखा के लिये और मौलवी हफ़ीज़उद्दीन आदि हिन्दुस्तानी के लिये रखे गये। कालिज का काम २४ नवम्बर १८०० ई० को शुरू हुआ। साधारण पठन पाठन के काम के अतिरिक्त यह कालेज हिन्दुस्तानी-सम्बन्धी विषयों पर वाद-विवाद भी चलाता था। इस विवाद में कालिज के पंडित और मुन्शी तथा अन्य प्रोफेसर पक्ष अथवा विपक्ष में भाग लेते। १८०१ ई० के बाद से कोई भी आदमी कम्पनी में नौकर नहीं हो सकता था जब तक वह इस कालिज की क़ानून और भाषा की परीक्षायें पास न कर लेता।

फोर्ट विलियम कालिज ने अनेक पुस्तकें प्रकाशित कीं। उसका उद्देश्य इन पुस्तकों को पाठ्य पुस्तकों के रूप में उपस्थित करना था। स्वयम् डा० गिलक्रिष्ट ने १८०१ में एक संग्रह प्रकाशित किया जिसमें प्रेमसागर, बाग़ोबहार, गुलबकावली, वैताल पच्चीसी आदि से लिये हुये पाठ थे। फोर्ट विलियम कालिज का ध्येय कम्पनी के लिये ऐसे नौकर तैयार करना था जो भारतीय रीति-रिवाज, साहित्य, क़ानून से थोड़े बहुत परिचित हों। इसके लिये पद्य से काम नहीं चल सकता था, गद्य की आवश्यकता थी। हिन्दी गद्य असङ्गठित और

अनिश्चित दशा में था। इसलिये गिलक्रिष्ट को ऐसे गद्य की आवश्यकता समझ पड़ी जिसमें वे यह आवश्यक ज्ञान प्रदान कर सकें। उन्होंने पिछली राजसत्ता और पिछले शासक वर्ग एवं मध्यवर्ग के सभ्य समाज की भाषा की ओर दृष्टि की। यह भाषा फ़ारसी या फ़ारसी-प्रधान उर्दू थी। साधारण जनता से उन्हें कोई मतलब न था। देश का जो समुदाय उनके सन्मुख था, वह चाहे हिन्दू हो या मुसलमान, उसकी भाषा उर्दू थी। इसे ही गिलक्रिष्ट ने हिन्दुस्तानी कहा। 'भाखा' इससे अलग थी। उसका स्थान महत्त्वपूर्ण समझा गया। 'भाखा' सीखने की आवश्यकता इसलिये पड़ी कि कम्पनी के लोगों को शिक्षित सज्जनों के बाहर भी काम करना पड़ता और उनकी भाषा यही होती। परन्तु हिन्दुस्तानी कम्पनी की आवश्यकता को बहुत कुछ पूरा कर देती। अंग्रेज़ अधिकारियों का काम जिन लोगों से पड़ता था उनमें वह मज़े में चलती।

फोर्ट विलियम कालिज से हिन्दी खड़ी बोली में एक ही पुस्तक निकली—प्रेमसागर। इसकी शैली शिथिल है। भाषा व्रजभाषा के मिश्रण से बिगड़ गई है। लल्लू लाल की 'राजनीति' शुद्ध व्रज में थी। बैताल पचीसी और सिंहासन बत्तीसी हिन्दुस्तानी (उर्दू या रेख़ता) में थीं। अतः फोर्ट विलियम कालिज को न हिन्दी गद्य-निर्माण का श्रेय दिया जा सकता है, न भाषा निर्माण या प्रचार का। साहित्य की दृष्टि से प्रेमसागर महत्त्वपूर्ण नहीं है और प्रचार की दृष्टि से उसने हिन्दी लेखकों की शैली पर कोई भी प्रभाव न डाला। अन्य भाषाओं की अपेक्षा फोर्ट विलियम कालिज में हिन्दी विद्यार्थियों की संख्या बहुत कम रही। उसका सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य कोष और व्याकरण का संकलन है। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण काम गिलक्रिष्ट का ही है। उन्होंने १७९६ में तीन भागों में हिन्दुस्तानी ग्रामर एन्ड डिक्शनरी की रचना की और १७९८ में ओरयन्टल लिंग्गुइस्ट नाम की एक पुस्तक लिखी जिसमें हिन्दुस्तानी व्याकरण पर विस्तृत भूमिका थी और हिन्दुस्तानी में कहानियां, लेख, कथनोपकथन और शब्दकोष थे। कालिज खुल जाने पर उनका काम और भी तीव्रता से चलने लगा। उन्होंने ही पहली बार इन विषयों को वैज्ञानिक रूप से हमारे सामने रखा।

१८२५ में ही फोर्ट विलियम कालिज के अधिकारियों ने अपने दृष्टिकोण की ग़लती को समझ लिया था। १८४१ में बंगाल के गवर्नर ने नये नियम बनाये जिनके अनुसार हिन्दी को स्वतंत्र रूप से स्थान मिला। परन्तु इस

परिवर्तन से साहित्य को कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। हिन्दी भाषा के विकास के लिये कालिज महत्वपूर्ण संस्था नहीं रह गया था। कालिज से कोई नया ग्रन्थ नहीं निकला। वही लल्लूलाल आदि के ग्रन्थ पढ़ाये जाते थे और 'हिन्दुस्तानी' पुस्तकें हिन्दी के नाम पर चलती थीं।

विदेशी लोगों ने हिन्दी गद्य के परिमार्जन और प्रचार में जो काम किया उसका ऋण हमें स्वीकार कर लेना चाहिये। यह काम कई रूपों में हमारे सामने आया। इनमें आगरा और कलकत्ता केन्द्र से किया हुआ काम विशेष महत्वपूर्ण है।

आगरा केन्द्र में हिन्दी-प्रचार का काम आगरा स्कूल बुक सोसाइटी और आगरा कालिज द्वारा हुआ। आगरा कालिज १८२३ ई० में हिन्दू और मुसलमान नवयुवकों को फारसी और हिन्दी परन्तु मुख्यतः संस्कृत और अरबी की शिक्षा देने के लिए खोला गया था। परन्तु इसके सुचारु रूप से संचालन में विशेष बाधा थी कि उस समय अच्छे पाठ्य ग्रन्थ न थे और जो थे भी वे किसी प्रकार उन्नत न थे। इसलिए कालेज की कमेटी ने १८३३ ई० में आगरा स्कूल बुक सोसाइटी की स्थापना की और नई पुस्तकें लिखवाने और पुरानी पुस्तकों के संशोधन का कार्य आरम्भ किया। इसका फल यह हुआ कि १८३८ से १८५० तक विभिन्न विषयों पर बहुत सी पाठ्य पुस्तकें छप कर सामने आईं। इनमें कुछ ये हैं—ग्रहमंडल का संक्षिप्त वर्णन, रेखागणित, पदार्थ-विद्यासार, शिक्षा-संग्रह, मार्शमान साहब का हिन्दुस्तान का इतिहास, सभाविलास, सिंहासन बत्तीसी, बेताल पचीसी, भूगोल, दर्शन, मिस बर्ड का इंगलैंड का वर्णन, कहानियों की पोथी, आदम का व्याकरण, सतसई, सुदामा चरित्र गीतावली, सतसई सटीक, पंडित रतनेश्वर का लाहौर से बम्बई तक आने का वर्णन, स्त्री-शिक्षा, इंजील, सुलेमान गीत, मंगनेतन साहब का धर्मशास्त्र। इन ग्रन्थों का गद्य भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से अत्यंत निर्बल है, मुहावरों का प्रयोग बहुत कम हुआ है, कला के दर्शन नहीं होते। परन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि उस समय गद्य धीरे-धीरे वैज्ञानिक विषयों को प्रगट करने लगा था और विषयों की विभिन्नता की ओर बढ़ रहा था।

एक दूसरी सोसाइटी नार्दर्न इंडिया क्रिश्चियन ट्रेक्ट बुक सोसाइटी १९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के अन्त में (३० जुलाई १८४८) आगरा में स्थापित हुई। इसी वर्ष एक दूसरी सोसाइटी बनारस में भी स्थापित हुई।

कलकत्ता, मदरास और बम्बई में भी इसी प्रकार की सोसाइटियाँ काम करने लगीं। अगले ५० वर्षों में इन सोसाइटियों ने बहुत-सी पुस्तकें प्रकाशित कीं। श्रीरामपुर और आगरा में विशेष काम हुआ। इन सोसाइटियों ने अपना काम धर्म-प्रचार तक सीमित नहीं रखा वरन् ज्ञान और विज्ञान के साहित्य को भी जनता तक पहुँचाया।

आ—पद्य

यद्यपि इस समय गद्य-साहित्य में खड़ी बोली का प्रयोग होने लगा था, परन्तु सारा पद्य साहित्य ब्रजभाषा में ही था। वैष्णव-भक्ति, वीरकाव्य और शृंगार (रीति) काव्य की तीनों धाराएँ बलहीन होकर चल रही थीं। इनमें अन्तिम प्रधान थी। यह आश्चर्य की बात है कि इस सारे काल में पद्य पर पश्चिमी सम्पर्क और पश्चिमी साहित्य का प्रभाव नहीं पड़ा।

वैष्णव भक्ति में कृष्ण-लीला और शृंगार का योग १६वीं शताब्दी में सूरदास के काव्य में ही हो गया था। धीरे-धीरे भक्ति का पुट निकल गया और लौकिक नायक-नायिकाओं के श्रृंगार की सृष्टि हुई। जिस युग की बात हम कह रहे हैं, उससे पहले दो शताब्दियों में कविता का आधार रीतिशास्त्र ही हो रहा था। इस समय भी उसी के अनुकरण में लेखक रीति-काव्य-कला की रक्षा करते हुए मुक्तक में रचना करते थे और सवैया, कवित्त, घनाक्षरी, सोरठा, दोहा और चौपाई का प्रयोग करते थे। शृंगारी कवियों में पद्माकर (१७३३—१८३३), ग्वाल (आ० १८१५) पजनेस (रामसहायदास आ० १८०३-१८२३), चन्द्रशेखर बाजपेई (१७९८-१८७५) और सरदार (१८४५—१८८३) प्रमुख हैं। भक्ति-काव्य के लेखकों में मुख्य दीनदयाल (१८०२—१८५८), पद्माकर, ग्वाल और चन्द्रशेखर बाजपेई हैं। वीर रस के दो प्रधान लेखक ग्वाल और चन्द्रशेखर बाजपेई हैं। दोनों ने अलग अलग हम्मीर हठ नाम के काव्यों की रचना की। दीनदयाल ने नीति-काव्य भी लिखा है।

वास्तव में शृंगार, भक्ति, वीर-काव्य और नीति प्रत्येक विषय पर अनेक लेखक हुए परन्तु उनका काव्य महत्वपूर्ण नहीं है। शृंगारिक कवियों ने अधिकतः परम्परा का पालन किया है। वीर कवियों की कृतियाँ अपने-अपने आश्रयदाताओं की स्तुतियाँ मात्र हैं। भक्ति की धारा भी निर्बल हो गई है। वास्तव में काव्योद्भावना, नवीन विचारों और कला की दृष्टि से १६वीं शताब्दी का पूर्वार्ध महत्वपूर्ण नहीं है।

उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हिन्दी-गद्य धार्मिक व्यवहार से बाहर निकल सका। इससे पहले का गद्य, जैसा हम देख चुके हैं, अधिकतः प्रचार मात्र के लिए था। वार्ताओं का गद्य इसी प्रकार था। उसमें साहित्यिकता और शैली के विकास के लिए अधिक स्थान नहीं था। १९वीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में गद्य का अनेक दिशाओं में विकास हुआ, अनेक संस्थाएँ और अनेक व्यक्ति उसकी वृद्धि करने में तत्पर हुए। विदेशी लेखकों, श्रीरामपुर के पादरियों, फोर्ट विलियम कालिज के अधिकारियों, शिक्षा विभाग और टेक्सट बुक सोसाइटियों द्वारा हिन्दी गद्य अनेक प्रकार से पुष्ट हुआ, परन्तु इस सारे काल में भी हिन्दी गद्य प्रौढ़त्व को प्राप्त नहीं हो सका। पहले पूर्वार्द्ध में काम करने वाली अनेक शक्तियों का ह्रास हो चुका था। फोर्ट विलियम कालिज समाप्त हो चुका था। उसने हिन्दी गद्य पर विशेष प्रभाव नहीं डाला था। हाँ, उसके कार्य विशेषकर लल्लूलाल के प्रेमसागर ने ईसाई-प्रचारकों के गद्य पर प्रभाव डाला। परन्तु साहित्य और प्रचार की दृष्टि से हिन्दी-गद्य विकास के लिए पादरियों का काम कोई महत्वपूर्ण नहीं है। जो हो, पूर्वार्द्ध में हिन्दी गद्य लिखने का चलन प्रारम्भ हो गया था और वह धीरे-धीरे ऐसी शक्ति हो गया था कि उसके प्रवाह को रोका नहीं जा सकता है। यह अवश्य है कि मेकाले की शिक्षा-नीति गद्य की उत्तरोत्तर वृद्धि में बाधक हुई। इसके अतिरिक्त स्वयम् जनता की प्रवृत्ति गद्य की अपेक्षा पद्य की ओर अधिक थी, और इस प्रवृत्ति में एकदम परिवर्तन नहीं हो सकता था।

१९वीं शताब्दी के दूसरे उत्तरार्द्ध में सरकारी शिक्षा-नीति बदली। ग़दर के बाद अपेक्षाकृत अधिक शांति रही और संस्कृति एवं सुधार-संबन्धी आन्दोलन शुरू हुए जिन्होंने गद्य के क्षेत्र में विशेष हितकारी प्रभाव डाला।

नवीन शिक्षा-योजना का जन्म १८५४ में हुआ। उसके अनुसार राज्य की ओर से भारत भर की भाषाओं में प्रारम्भिक स्कूल खुले। हिन्दी प्रान्त में जो स्कूल खुले उनमें शिक्षा का माध्यम हिन्दुस्तानी थी। उस समय राज्य (अंग्रेजी सरकार) हिन्दुस्तानी का तात्पर्य उर्दू समझती थी। उसके लिए दोनों शब्द पर्यायवाची थे। १८३७ में उर्दू ही कोर्ट (कचहरी) की भाषा हो गई थी। इससे हिन्दी अक्षर भी धीरे-धीरे अपरिचित हो गये। अक्षरों के परिवर्तन के साथ मध्यवर्ग की उस जनता में जिसका सम्पर्क अदालतों से था

फ़ारसी और अरबी के शब्दों की एक बड़ी संख्या ने प्रवेश कर लिया। इन सब बातों का फल यह हुआ कि उर्दू गद्य बड़ी शीघ्रता से परिमार्जित होने लगा और हिन्दू जनता उसे ही अपनाने लगी। नये स्कूलों में भी अदालत की भाषा को स्थान मिला क्योंकि जो लोग पढ़ते थे, उनका ध्येय नौकरी था।

इस परिस्थिति को बदलने में राजा शिवप्रसाद (१८२३—९५) का मुख्य हाथ था। वे स्वयम् दूसरे सर्किल के इन्सपेक्टर थे और उन्हें सरकारी शिक्षा-नीति का पालन करना आवश्यक था परन्तु उनकी निरन्तर चेष्टाओं का फल यह हुआ कि हिन्दी लिपि को भी सरकारी क्षेत्र में स्थान मिला। वास्तव में आधुनिक हिन्दी के इतिहास में यह महान् क्रान्तिकारी परिवर्तन था क्योंकि लिपि अपनाना भाषा-क्षेत्र में सुधार का पहला क़दम होता है। लोग राजा शिवप्रसाद के अत्यन्त विरुद्ध हैं और उन्हें हिन्दी के हितों का विरोधी समझते हैं परन्तु उन्हें समझना चाहिये कि उस समय हिन्दी गद्य उर्दू की तुलना में अत्यन्त अपरिपक्व था, और उसे शिक्षा में स्थान मिलना अच्छा नहीं था। वह उपयोगी साहित्य को पढ़ाने के लिए उपयुक्त भी नहीं था। दूसरे राजा साहब का दृष्टिकोण मध्यवर्ग तक सीमित था और मध्यवर्ग नौकरियों की ओर झुक रहा था जिसमें अदालत की भाषा का प्रयोग होता था और स्वयम् उसकी भाषा भी उर्दू प्रधान थी। तीसरी बात यह थी कि यद्यपि हिन्दी में पाठ्य पुस्तकों का अभाव नहीं था, फ़ोर्टविलियम कालिज के अन्तर्गत स्थापित टेक्सट बुक सोसाइटी ने और इसके अतिरिक्त पादरियों ने भी प्रचार की दृष्टि से पाठ्य पुस्तकें प्रकाशित की थीं, परन्तु मेकाले की शिक्षा-योजना ने पाठ्य पुस्तकों के निर्माण को धक्का अवश्य पहुँचाया था जिसके कारण १८३७ के बाद बहुत कम हिन्दी पाठ्य पुस्तकों की रचना हुई, और इस कारण नई शिक्षा-पद्धति के समय उर्दू में हिन्दी से अच्छी पाठ्य पुस्तकें थीं। जो पुरानी थीं भी, वे नई पद्धति में अधिक उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकती थीं।

राजा साहब ने जहाँ एक ओर सरकारी नीति का पालन किया वहाँ उन्होंने यह भी कहा कि जब तक कचहरी में फ़ारसी लिपि चलती है तब तक इस देश में संस्कृत शब्दों को जारी करने की चेष्टा व्यर्थ है। बाबू बालमुकुन्द के शब्दों में अदालत की भाषा उर्दू होने के कारण जो "लोग नागरी अक्षर सीखते थे वे भी फ़ारसी अक्षर सीखने के लिए विवश हुए और हिन्दी भाषा हिन्दी न रह कर उर्दू बन गई।........हिन्दी उस भाषा का नाम रहा

जो टूटी-फूटी चाल पर देवनागरी अक्षरों में लिखी जाती थी।" सच तो यह है कि उस समय की परिस्थिति देखते हुए शिक्षा विभाग में उर्दू और हिन्दी की अलग-अलग योजनाएँ सम्भव ही नहीं थीं क्योंकि हिन्दू और मुसलमान विद्यार्थी साथ-साथ पढ़ते थे। राजा साहब कदाचित् अदालत की भाषा के विषय में सतर्क थे। उन्होंनें अदालतों में उर्दू के प्राधान्य के विरुद्ध आवाज नहीं उठाई। परन्तु शिक्षा-विभाग के सम्बन्ध में उन्होंने सुधार सम्बन्धी आवाज़ अवश्य उठाई। इतना होने पर भी उन्होंने सरकारी नीति का पालन करते हुए और समय की आवश्यकताओं को देखते हुए अपनी भाषा को फ़ारसी-अरबी के शब्दों से भर दिया। राजा साहब मध्यवर्ग के व्यक्ति थे और उनकी दृष्टि में यही वर्ग और उसकी भाषा महत्वपूर्ण थी। अतः उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता। दूसरी बात यह है कि अदालत की भाषा सदैव ही सभ्यों की भाषा समझी जाती है। उस समय भी यही बात थी। अदालत की भाषा उर्दू थी और वही सभ्यों की भाषा समझी जाती थी। हिन्दी देहाती थी। उसमें ब्रज-भाषा, अवधी और अन्य प्रान्तीय बोलियों का भी मेल था। साहित्य की भाषा अभी शुद्ध खड़ी नहीं हो पाई थी। राजा साहब ने उसे बोलियों के मेल से पाक रखना चाहा। फ़ारसी शब्द हिन्दी कवियों ने ग्रहण कर लिए थे। उनको अपेक्षाकृत आवश्यकता भी कम थी। गद्य में फ़ारसी शब्दों का प्रयोग आवश्यक हो रहा था—इस समय इस बात की आवश्यकता थी कि सुधार-वादी हठ को छोड़ दें और संस्कृत शब्दों के स्थान पर, कम से कम कुछ समय के लिए, फ़ारसी शब्द ही रखें। शायद इस आवश्यकता को समझते हुए राजा साहब ने सरकार से प्रार्थना की कि वह हिन्दी-उर्दू पाठ्य-पुस्तकों की भाषा को परस्पर निकट लाने का प्रयत्न करें। यह १८७६ ई० की बात है। सरकार ने उनकी बात मान ली, परन्तु हिन्दी के पक्ष में फल अच्छा न हुआ।

परन्तु न जाने क्यों, शायद संसर्ग-दोष से या भाषा सँवारने के विचार से उनकी हिन्दी में फ़ारसी शब्द उत्तरोत्तर अधिक घुसते गये और इस प्रकार उनके प्रारम्भिक विचारों और अन्तिम विचारों में बड़ा मतभेद हो गया। हो सकता है उनके अधिक-अधिक फारसी शब्दों के प्रयोग के पीछे हिन्दी के उपासकों के विरोध की प्रतिक्रिया हो। राजा साहब का जैसा तीव्र विरोध हुआ था उसे देखते हुए यह बात असम्भव भी नहीं है। वास्तव में राजा साहब की यह धारणा ही भ्रमात्मक थी कि कचहरी की भाषा ही आदर्श है और

मध्यवर्ग ही भाषा का निपटारा करता है। उनका प्रधान उद्देश्य हिन्दी-उर्दू के बीच की खाई को पार कर हिन्दुस्तानी की सृष्टि करना था।

हम राजा साहब की कृतियों और विचारों में भाषा-संबंधी अनेक वैभिन्न्य देखते हैं परन्तु यदि ध्यान दिया जाय तो इन विभिन्नताओं के कारण भी मिल जायेंगे। उन्होंने जो पुस्तकें साधारण जनता के लिए लिखीं और जिनका विषय धर्म था उनकी भाषा धार्मिक पारिभाषिक शब्दों और संस्कृति मूलक प्रयोगों के कारण अवश्य ही संस्कृत प्रधान होती। 'मानव धर्मसार' और 'योगवाशिष्ठ' के कुछ चुने हुए श्लोकों की भाषा ऐसी ही है। यह बात इस तरह और भी स्पष्ट हो जाती है कि जिन ग्रन्थों का आश्रय धर्म ग्रन्थ नहीं हैं जैसे 'मानव धर्मसार का सार' नाम की पुस्तक में, वहाँ भाषा हिन्दुस्तानी की ओर झुकी है। इस पुस्तक पर लल्लूलाल की प्रेमसागर-शैली का भी प्रभाव है और संस्कृत शब्दों के साथ व्रजभाषा रूप भी मिलते हैं। इसी ग्रन्थ की भाषा को सुधार करके राजा साहब ने अपनी पाठ्य पुस्तकों में प्रयोग किया है। भूगोल हस्तामलक, वामा मनोरञ्जन और राजा भोज का सपना आदि पुस्तकों की भाषा को बोलचाल के निकट लाने और उसके द्वारा बालकों की बोलचाल सुधारने का प्रयत्न किया गया है। एक ही पुस्तक में हिन्दी-उर्दू के साम्यवाची शब्द प्रयोग में आये हैं। १८५२ की लिखी बैताल पचीसी की भाषा उर्दू है और वह तत्सम फ़ारसी और अरबी शब्दों से भरी है। इसके बाद राजा साहब शीघ्र ही उर्दू को ही हिन्दी की जननी मानने लगे और आगे चल कर उन्होंने केवल दो प्रकार की भाषाएँ लिखीं—एक ठेठ हिन्दी बोलचाल जिसमें फ़ारसी शब्द मिले थे और दूसरी भी फ़ारसी प्रधान उर्दू जिसकी लिपि नागरी थी। इतना होने पर भी उन्हें ऐसी पुस्तकें लिखते समय जो पुराने साहित्य से सम्बन्धित थीं संस्कृत-प्रधान भाषा का ही प्रयोग करना पड़ा है। उनके गुटके की भाषा इस बात की साक्षी है। संक्षेप में, अनेक प्रकार की भाषा शैलियाँ लिखते हुए भी राजा शिवप्रसाद का लक्ष्य एक ऐसी भाषा का निर्माण करना था जो हिन्दी और उर्दू के बीच में रहे परन्तु परिस्थितिवश उनके दृष्टिकोण को अहितकर समझा गया और उसका तीव्र विरोध हुआ।

राजा शिवप्रसाद का अनुकरण शिक्षा विभाग से बाहर मुन्शी देवीप्रसाद, और देवकीनन्दन खत्री ने किया। इन्होंने हिन्दुस्तानी को रूप देने की चेष्टा की और केवल प्रचलित अरबी-फ़ारसी शब्दों का प्रयोग किया। परन्तु

शिक्षा विभाग में वीरेश्वर चक्रवर्ती जैसे व्यक्ति भी थे जिन्होंने राजा साहब की नीती नहीं अपनाई।

अलबत्ता राजा शिवप्रसाद की नीति का विरोध खूब हुआ यह विरोध इतना अधिक बढ़ा कि वे देशद्रोही समझे जाने लगे और हिन्दी-प्रेमी प्रचलित फ़ारसी-अरबी शब्दों को भी नमस्कार करने लगे। राजा लक्ष्मणप्रसाद (१८४६-१८९६) की भाषा राजा साहब की भाषा के ठीक विरोध में उपस्थित की जा सकती है। उसमें संस्कृत शब्दों का बहुत अधिक प्रयोग हुआ है और ब्रजभाषा का भी बहुत बड़ा पुट है। राजा लक्ष्मणसिंह उर्दू-फ़ारसी के ज्ञाता थे, परन्तु वे इन भाषाओं के शब्दों के पूर्णतः बहिष्कार के समर्थक थे। इसका फल यह हुआ कि उनकी गद्य-शैली में कृत्रिमता आ गई, यद्यपि संस्कृत का हिन्दी से लगाव होने के कारण भाषा एकदम ठस और अप्राकृतिक नहीं हो पाई। हमें यह भी याद रखना चाहिए कि राजा लक्ष्मणसिंह की भाषा उस समय की सारी आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकती थीं। कानून, तर्कशास्त्र ज्योतिष और राजनीति जैसे विषयों के लिए उनकी भाषा कहाँ तक उपयुक्त थी, यह विचारने की बात है। इसके अतिरिक्त उनकी भाषा में ब्रजभाषा का मेल रहता था जो खड़ी बोली गद्य को दूषित कर देता था।

सामयिक हिन्दी जनता ने राजा लक्ष्मणसिंह की शैली को अधिक अपनाया। लेखकों ने संस्कृत शब्दों को ग्रहण किया और फ़ारसी शब्दावली को, जहाँ तक हो सका, बचाने की चेष्टा की। उन्होंने केवल बहुत ही प्रचलित फ़ारसी-अरबी शब्द अपनाये।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि राजा शिवप्रसाद जहाँ एक अति तक पहुँच जाते थे, वहाँ राजा लक्ष्मणसिंह दूसरी अति तक। भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र ने मध्यमार्ग का अनुसरण किया। उन्होंने दो तरह की भाषाएँ स्वीकार कीं—(१) जिसमें संस्कृत के शब्द थोड़े हैं और (२) जो शुद्ध हिन्दी है। पहली प्रकार की भाषा का प्रयोग गम्भीर विवेचन और तत्व-निरूपण के लिए हुआ है। दूसरी प्रकार की भाषा अनेक शैलियों में व्यवहार में आई है। नाटकों में रस-निष्पत्ति के लिए इसी का प्रयोग हुआ है। परन्तु भारतेन्दु ने भी संस्कृत शब्दों का खूब प्रयोग किया है। वास्तव में उन हिन्दी लेखकों को छोड़कर जो उर्दू-फ़ारसी थे, अन्य के लिए संस्कृत के अधिक-अधिक शब्दों की ओर जाना स्वाभाविक था। अतः इस समय का झुकाव संस्कृत

की ओर ही अधिक है। संस्कृत साहित्य के अनुवादों और आर्य्यसमाज आन्दोलन ने हिन्दी गद्य को संस्कृत शब्दावली से भर दिया। सैकड़ों ऐसे संस्कृत शब्दों का प्रयोग किया गया है जिनके स्थान पर ठेठ हिन्दी शब्द रखे जा सकते थे। यह आश्चर्य की बात नहीं है कि लोग संस्कृत की ओर मुड़ रहे थे क्योंकि वह युग सामाजिक और धार्मिक पुनरुत्थान का युग था और उस समय का सुधारक वर्ग संस्कृत साहित्य के अध्ययन की ओर लोगों का ध्यान प्रेरित कर रहा था। जो हो, कहीं-कहीं यह प्रवृत्ति बहुत हास्यास्पद हो गई है।

एक बात ध्यान देने की यह है कि इस सारे समय का गद्य ब्रजभाषा के रूपों से भरा हुआ है। वह आज-जैसा परिमार्जित नहीं है। भारतेन्दु का गद्य भी ब्रजभाषा के पुट से मुक्त नहीं है और हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि भारतेन्दु का गद्य उस समय के लेखकों के लिए आदर्श था।

१९वीं शताब्दी के आरम्भ में तो अंग्रेज़ी भाषा के शब्द हिन्दी में स्थान पाने लगे थे। उत्तरार्ध के अन्त होते-होते सैकड़ों शब्द भाषा में प्रवेश कर गये थे। इन्होंने शब्द-कोष में वृद्धि की और उसे बलशाली और पूर्ण एवं भाव-प्रकाशन में समर्थ बनाया। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में गद्य की अधिकांश रचनाएँ ज्ञान-वर्धक हैं। इसमें शब्दकोष और अभिव्यंजना शैली में वृद्धि हुई। यह हर्ष की बात है कि ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में कार्य हुआ, चाहे मौलिक रूप में, चाहे अंग्रेज़ी से अनुवाद के रूप में। पत्र-पत्रिकाओं ने गद्य की वृद्धि में, विशेषकर ज्ञानमूलक गद्य की, विशेष भाग लिया। यह सच है कि इस समय का अधिकांश गद्य पाठ्य पुस्तकों के लिए लिखा गया है परन्तु इससे हमें इन लेखकों के उत्साह की सराहना करनी चाहिए जिन्होंने विरोधी परिस्थितियों में अनेक क्षेत्रों में काम किया। ज्ञान-विज्ञान का अध्ययन इन्हीं के रचनाओं के सहारे बढ़ा। जिस वैज्ञानिक दृष्टिकोण की आवश्यकता न केवल साधारण जीवन के लिए वरन् परिमार्जित गद्य के लिए आवश्यक थी, वह दृष्टिकोण इसी अध्ययन के कारण विकसित हुआ। यह दृष्टिकोण मौलिकता मूलक था और इसे पश्चिम से उत्साह मिलता था, परन्तु इसके कारण ही पद्य की अपेक्षा (जो अब तक हिन्दी साहित्य में प्रधान रहा था) गद्य को स्थान मिला और उसमें बुद्धिवाद की प्रतिष्ठा हुई।

इस उत्थान में लेखकों का ध्यान भारतीय प्राचीन इतिहास की ओर विशेष रूप से गया और कितने ही साहित्यिकों ने, यहाँ तक कि उपन्यासकारों ने भी इसी के आधार पर रचनाएँ कीं एवं ऐतिहासिक खोजों से अपनी

रचनाओं को पुष्ट किया। इस क्षेत्र में सर्व-प्रथम भारतेन्दु ही आते हैं। प्राचीन भारत की सच्ची परिस्थिति का पता लगाने और नाटकों तथा उपन्यासों के द्वारा उसका निर्माण करने की चेष्टा बराबर चलती रही। कदाचित् इसी प्रवृत्ति और कुछ आर्य समाज आन्दोलन के कारण हिन्दी लेखकों का ध्यान धर्म के प्राचीन रूप और धार्मिक अनुश्रुतियों की ओर गया। समाज-सुधार भावना तो सारी रचनाओं में है। सभी लेखकों ने नारी-जीवन में सुधार की आवश्यकता को समझा है और अपने विचार प्रकाशित किए हैं।

इस समय के प्रमुख गद्यकार ये थे—लक्ष्मणसिंह (१८२८—१८६६), राजा शिवप्रसाद (१८३६—१८९५), हरिश्चन्द्र (१८५०—१८८५), श्रीनिवासदास (१८५१—१८८७), बालकृष्ण भट्ट (१८४६—१९१६), प्रतापनारायण मिश्र (१८५६—१८६४), रामशंकर व्यास (१८६०—१६१६), राधाकृष्णदास (१८६५—१६०७), सुधाकर द्विवेदी (१८६०—१९१०), स्वामी दयानन्द (१८२४—१८८३), कार्तिक-प्रसाद खत्री (१८५१—१९०४), राधाचरण गोस्वामी (१८५६—१९२५), ठाकुर जगमोहनसिंह (१८५७—१८९६), गदाधर सिंह (१८४८—१८९८), देवीप्रसाद मुन्सिफ (१८४७—१६२३), बालमुकुन्द गुप्त (१८६३—१६०७), दुर्गाप्रसाद मिश्र (१८५६—१६१०), काशीनाथ (आ० १८८१), किशोरीलाल गोस्वामी (१८६५—१६३२), बिहारीलाल चौबे (आ० १८८८), तोताराम वर्मा (१८४७—१६०२), नवीनचन्द्र राय (१८५७—१८९०), देवकीनन्दन खत्री (१८६१—१९१३), महावीरप्रसाद द्विवेदी (१८६६—१६३८), शंकरसहाय अग्निहोत्री (१८३५—१६१०), अम्बिकादत्त व्यास (१८५८—१६००), और श्याम-सुन्दरदास (१८७८—१९४५)। इन लेखकों ने साहित्य के लगभग सभी क्षेत्रों में काम किया। यद्यपि मौलिकता और साहित्यिकता की दृष्टि से इनका साहित्य बहुत ऊंची श्रेणी का नहीं है परन्तु वैभिन्न्य, प्रचार और परिणाम की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

ब्रजभाषा गद्य

परन्तु खड़ी बोली गद्य की प्रमुखता होने पर भी ब्रजभाषा गद्य चल रहा था। यह प्रधानतः टीकाओं के रूप में हमारे सामने आता है। बिहारी, मतिराम और अन्य कवियों की टीकाएँ लिखी गईं। इन टीकाकारों में प्रमुख सरदार कवि (१८४५—

१८८३) हैं जिन्होंने कविप्रिया, रसिकप्रिया, सूर के दृष्टिकूट और बिहारी-सतसई पर टीकाएँ लिखीं। उनके मानस-रहस्य (रामचरितमानस की टीका) की भूमिका में अन्य विषयों के साथ रस पर विस्तार-पूर्वक विचार किया गया है। जगन्नाथ अवस्थी ने शृङ्गार-लतिका पर टीका लिखी। महाराज रघुराज सिंह जू देव के राम-स्वयंबर में स्थान-स्थान पर पद्य के बीच में ब्रजभाषा गद्य का प्रयोग हुआ है परन्तु ब्रजभाषा गद्य में स्वतंत्र रूप से किसी ग्रंथ की रचना नहीं हुई।

खड़ी बोली के प्रचार के साथ टीकाएँ भी उसी में लिखी जाने लगीं। महाराज प्रतापनारायण सिंह ने शृङ्गार-लतिका पर अपनी प्रसिद्ध 'सौरभी टीका' खड़ी बोली गद्य में ही लिखी है। इससे यह स्पष्ट है कि गद्य में खड़ी बोली का प्रयोग निश्चित हो गया था और ब्रजभाषा केवल अपवाद के रूप में एक परम्परा का पालन करने के लिए थोड़ी बहुत चलती थी।

ईसाई गद्यसाहित्य

हिन्दी खड़ी बोली और हिन्दी बोलियों में १८५० से पहले बाइबिल के कितने ही संस्करण हुए। १८५४ में पार्थ का "धर्म पुस्तक के इतिहास" प्रकाशित हुआ और १८७४ में न्यू टेस्टामेंट का अनुवाद "प्रभु ईसा कृष्ट के समाचार" पुस्तक प्रकाशित हुई। १८८३ में "धर्म-पुस्तक १-२" नाम से ओल्ड टेस्टामेंट का हिंदी भाषा में अनुवाद हुआ। १८६५ में कलकत्ता की एक सोसाइटी ने ईसू कृष्ट की मंगल कथा प्रकाशित की। इन सोसाइटियों से ऐसा साहित्य निकला जिसने हिन्दू धर्म की आलोचना की। इनके महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं—मत-परीक्षा (१८६१), धर्माधर्म परीक्षा (१८६१), आर्यतत्व प्रकाश (१८८६), गुरु-परीक्षा (१८६४), केशवराम की कथा (१८८१), मूर्ति-पूजा का वृत्तान्त (१८६६), हिन्दू धर्म का वर्णन (१८९४), गंगा का वृत्तान्त (१८६६) आदि। इन ग्रन्थों का महत्व इनकी सीधी-सादी कामकाजी भाषा है। यह भाषा नीचे दर्जे के लोगों और ग्रामीण जनता की भाषा की प्रतिनिधि थी। उसमें ग्रामीण मुहावरों का प्रयोग बहुत बड़ी मात्रा में होता था और उपमा-उदाहरण की सामग्री ग्रामीण जीवन से ली जाती। प्रचार-भाषा होने के कारण इसमें कला और साहित्यिकता की प्रधानता नहीं है। अधिकांश गद्य वर्णनात्मक है। पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग बहुत कम हुआ है। दर्शन आदि के शब्द बहुत कम दिखलाई पड़ते हैं। मिशनरी कभी ऊँचे तत्वों की आलोचना नहीं करते थे। उन्हें समझने में ही वे असमर्थ थे।

उपन्यास

हिन्दी उपन्यास अधुना वस्तु है। १६वीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में इस ओर प्रयोग आरम्भ हुए। १८००—०३ में इंशा ने रानी केतकी की कहानी, सदल मिश्र ने नासिकेतोपाख्यान (१८०३), लल्लूलाल ने प्रेम-सागर (१८०३—१८०६), की रचना की। अन्य कथात्मक ग्रंथ सिंहासन बत्तीसी, बैताल पच्चीसी, माधवानल कामकन्दला और शकुन्तला हैं। १८२४ ई० में जटमल की गोरा बादल की कथा का राजस्थानी पद्य से गद्य में अनुवाद हुआ। इन पुस्तकों के बाद राजा शिवप्रसाद का 'राजा भोज का सपना' उल्लेखनीय है। इन सब प्रयत्नों को उपन्यास का नाम नहीं दिया जा सकता। उस समय की नैतिक धारणा और धार्मिक प्रवृत्ति को संतुष्ट करने के लिए ही इनकी रचना हुई है।

१६वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में गद्य का काफ़ी परिमार्जन हो गया था और हिन्दी के पाठक भी मिलने लगे थे। इसके अतिरिक्त अंग्रेज़ी और बङ्गला साहित्य के उपन्यास हिन्दी जनता के सामने आ गये थे। अतः उसी समय सच्चे अर्थों में उपन्यास की रचना हुई।

हिन्दी उपन्यास उन्हीं प्रभावों का फल था जो नाटक पर पड़े। इसलिए विषय और प्रतिक्रिया की दृष्टि से उसमें और नाटक में अंतर नहीं है। यह अवश्य है कि नाटक का जन्म उपन्यास से पहले हो गया था और उसने उस पर प्रभाव डाला। उस समय तक कहानियाँ (उपन्यास नहीं कह सकते) पढ़ने का खूब चलन हो गया था। शुक बत्तीसी[1] सारंगा सदावृक्ष, किस्सा तोता मैना, किस्सा साढ़े तीन यार उर्दू में अनुवादित या कभी कभी हिन्दी अक्षरों में हिन्दी प्रदेश की जनता का मन बहलाते थे। चहार दुर्वेश या बागो-बहार, किस्सा हातिमताई, दास्तान अमीर हमजा और तिलिस्म होशुरुबा फारसी से अनुवादित थे। इन सब ग्रन्थों में जादू, ऐयारी, कुत्सित प्रेम, और साहसिक रोमांस का चित्र था।

हिन्दी के पहला उपन्यास एक मराठी उपन्यास "पूरन प्रभा और चन्द्र-प्रभा" का हिन्दी अनुवाद है जो भारतेन्दु ने उपस्थित किया। इसमें वृद्धविवाह

१—पं० महाबीर प्रसाद द्विवेदी ने "शुक सप्तति" (संस्कृत) की ७० कहानियों में से ३२ लेकर उनको हिन्दी में अनुवाद किया।

के दोष दिखलाये गए हैं। मौलिक उपन्यासों की रचना में सब से प्रथम लेखक लाला श्रीनिवासदास हैं। इनका उपन्यास परीक्षा गुरु (१८५४) हिन्दी का सर्वप्रथम मौलिक उपन्यास है। परन्तु हिन्दी उपन्यास के सब से बड़े लेखक पं० किशोरीलाल गोस्वामी२ (१८६५-१९३२) हैं। अन्य लेखक देवीप्रसाद शर्मा३ राधाचरण गोस्वामी,४ हनुमतसिंह५ (जन्म १८६७), गोपालराम६ (१८८८ के लगभग), और छेदीलाल७ हैं। राधाकृष्णदास ने भारतेन्दु के प्रोत्साहन से १८९० में गोरक्षा और हिन्दु-मुस्लिम-समस्या पर एक उपन्यास लिखा।

ऊपर के उपन्यास और उपन्यासकार समाज-सम्बन्धी समस्याओं को प्रधानता देते हैं। इन सब लेखकों में विषय-वैभिन्न्य और साहित्य के प्राचुर्य की दृष्टि से किशोरीलाल गोस्वामी सर्वप्रधान हैं। उनका दृष्टिकोण सनातनधर्मियों का दृष्टिकोण है परन्तु आर्य समाज के विरोधी होते हुए भी उन्होंने उनके दृष्टिकोण को अपना कर सुधारों को अपने उपन्यासों का विषय बनाया, यद्यपि कदाचित् इसी कारण उनकी आवाज में अधिक बल नहीं है। किशोरीलाल गोस्वामी की एक महत्ता यह भी है कि उन्होंने ही पहले-पहल ऐतिहासिक उपन्यास लिखे। ऐसे उपन्यास में लवंगलता, कुसुमकुमारी और हृदय-हारिणी महत्वपूर्ण हैं। उन पर स्कॉट प्रभाव लक्षित है। हनुमंतसिंह ने भी स्त्री-समाज सुधार सम्बन्धी कुछ उपन्यास लिखे। वास्तव में इस युग के उपन्यासों में नारी समस्या की प्रधानता थी। कामिनी (१९००) में बाबू बालमुकुन्द वर्मा ने भारतीय नारी के साहस की कहानी लिखी है। पश्चिमी समाज और सभ्यता का जो प्रभाव भारतीय समाज पर पड़ रहा था, वह इस समय के लेखकों को अखरता था। ऐसे कई लेखक हैं जिन्होंने इस प्रभाव का विरोध किया। ऐसे लेखकों में गोपालराम मुख्य हैं। सच तो यह है कि इस समय के सारे उपन्यासों का ध्येय समाज का चरित्र-सुधार था। हाँ, ऐतिहासिक

२—त्रिवेणी (१८८८), स्वर्गीय कुसुम (१८८९), हृदयहारिणी (१८९०) लवंगलता (१८९०)

३—विधवा-विपत्ति (१८८०)

४—कंपलता, बालविधवा आदि

५—चन्द्रकला (१८९३)

६—अघोरपंथी बहुरूपाचार्य (१८८६)

७—निःसहाय हिन्दू

उपन्यासों में लेखकों का ध्यान रोमांस-सृष्टि की ओर रहता था और उनमें अधिकतः प्रेमी-प्रेमिकाओं के साहस कार्यों के वर्णन रहते थे। जो हो, नारी के प्रति एक नया दृष्टिकोण धीरे-धीरे विकसित हो रहा था। इस समय का एक उपन्यास 'स्वर्गीय कुसुम' (किशोरीदास गोस्वामी) देवदासी-प्रथा के विरोध में है। अधिकांश दूसरे उपन्यासों में भी हिन्दू-नारी के उत्थान की चेष्टा की गई है और उसके सामने उन ऐतिहासिक प्रसिद्ध बहिनों की मिसालें रखी गई हैं जिन्होंने मुसलमान आततायियों से अपनी रक्षा की थी।

ऐसे उपन्यास भी हैं जिनका दृष्टिकोण नैतिक अथवा राजनैतिक है। इस प्रकार के उपन्यास लिखने वालों में बालकृष्ण भट्ट[८], रतनचन्द्र[९], श्रीनिवासदास[१०], किशोरीलाल गोस्वामी[११], महंत लज्जाराम शर्मा[१२], गोपालराम गहमरी और कार्तिकप्रसाद खत्री प्रमुख हैं।[१४] इनके लिखे उपन्यासों की वीथिका कुटुम्ब और समाज है परन्तु इनमें पाप पर पुण्य की विजय दिखलाने की भावना चल रही है। चरित्र या तो एकदम देवता हैं, या दानव। इसी कारण इन उपन्यासों में चरित्र-निर्माण की कला का विकास नहीं हो पाया है। मनुष्य के परिस्थिति-जन्य पतन और उसकी स्वाभाविक दुर्बलताओं की ओर सहानुभूतिपूर्ण ध्यान ही नहीं दिया गया है। इस सारे युग में हमें संकुचित नैतिक भावना का प्राधान्य मिलता है। इस युग के उपन्यास मध्यवर्ग को अपनी दृष्टि के सामने रखते हैं। समाज के दूसरे वर्गों तक इनकी दृष्टि नहीं पहुँचती।

फोर्ट विलियम कालिज के अनुवादों में प्रधान भाग कहानियों का ही है। १९वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में हिन्दी जनता इन्हीं अनुवादों से मनोरंजन प्राप्त करती थी। ये उपन्यास इसलिए महत्त्वपूर्ण हैं कि इन्होंने हिन्दी उपन्यास-कला पर विशेष प्रभाव डाला और एक विशेष प्रकार के उपन्यासों का सृजन किया। ये अनुवाद संस्कृत या फारसी से किये गये थे। जैसा हम पहले कह

८—नूतन ब्रह्मचारी (१८८६), सौ अजान एक सुजान (१८९२)

९—नूतन चरित्र (१८८३)

१०—परीक्षा गुरु (१८८४)

११—सुख शर्वरी (१८९१)

१२—धूर्तरसिक लाल (१८९९)

१३—बड़ा भाई (१८९९)

१४—दीनानाथ

आये हैं, इनमें प्रमुख सिंहासन बत्तीसी, बैताल पच्चीसी, शुक बहत्तरि, राजा भोज का सपना, बाग़ो बहार, दास्ताने अमीर हमज़ा, तिलिस्म होशरुबा और किस्सा तोता-मैना हैं। ये कहानियाँ रोमांस-प्रधान और कल्पना-प्रधान थीं। समाज, राष्ट्र या कुटुम्ब से उनका कोई सम्बन्ध नहीं था। न कथानक संगठित रहता था, न चरित्र-चित्रण का पता था। अति मानवीय घटनाएँ, जादू और तिलिस्म इन उपन्यासों के प्रधान अंग हैं। कथानक प्रेमी-प्रेमिकाओं से भरा रहता था। नायक-नायिका के प्रेम में मुग्ध है। प्रतिनायक के चक्कर में पड़कर वह किसी तिलिस्मी चक्कर में फँस जाता है। दोनों ओर के ऐयारों के छल-छन्द चलते हैं। तिलिस्म की दुनिया ही दूसरी है। तिलिस्मी बाबा के पास ऐसे ऐसे कौतुक हैं कि हम आश्चर्य में पड़े रह जाते हैं और तिलिस्म की रानियाँ हमें रोमांस के परी-देश में ले जाती हैं। अन्त में किसी प्रकार राजकुमार नायक तिलिस्म तोड़ कर अक्षय धन-भंडार की प्राप्ति करता है और प्रतिनायक को हराकर नायिका का पाणि-ग्रहण करता है।

इन तिलिस्मी और ऐयारी के उपन्यासों का प्रभाव हम किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यासों पर भी देखते हैं,[१५] काशीनाथ शर्मा और विजयानन्द त्रिपाठी ने "चतुर सखी" और "सच्चा सपना" के अनुवाद १८९० में किये। इनमें तान्त्रिक और अलौकिक घटनाएँ हैं। जैनेन्द्रकिशोर की कमलिनी और देवी सहाय शुक्ल के उपन्यास "दृष्टांत प्रदीपनी"[१६] के संबंध में भी यही बात कही जा सकती है। परन्तु यह प्रभाव यहीं तक बना नहीं रहा। किशोरीलाल गोस्वामी के बाद जो प्रसिद्ध उपन्यासकार हमारे सामने आते हैं, वे बाबू देवकीनन्दन खत्री (१८६१—१९१३) हैं। इन्होंने चन्द्रकान्ता चार भाग (१८९१), चन्द्रकान्ता सन्तति २४ भाग (१८९२-९६), नरेन्द्र-मोहिनी ४ भाग (१८९३-९५) और वीरेन्द्र वीर (जासूसी उपन्यास १८९५) और भूतनाथ १८ भाग (१९०६-१९१३) की रचना की। ये सब उपन्यास ऐयारों और तिलिस्मों से भरे पड़े हैं। ये सब फारसी के बोस्ताने ख्याल और दास्ताने अमीर हमज़ा के ढंग के हैं, परन्तु इनका वातावरण अधिक उन्नत है, और ये प्रेम का स्वच्छ रूप हमारे सामने रखते हैं। इनमें कल्पना की दौड़ आश्चर्य-जनक है। एक घटना दूसरी घटना से बराबर इस तरह जुड़ी चलती है कि हमें

१५—देखिए स्वर्गीय कुसुम, लवंगलता, कटे मूँड़ की दो-दो बातें

१६—भाग चार (१८८९—१८९८)

खत्री की जोड़-तोड़ मिलाने वाली प्रतिभा पर आश्चर्य होता है। खत्री के उपन्यासों ने इस प्रकार के साहित्य को बड़ी प्रगति दी और १९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध और बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध के बीच के २५, ३० वर्ष इस प्रकार के उपन्यासों से भरे हैं। यदि इनमें तिलिस्म न भी हो तो भी इनमें कल्पना की प्रधानता है और घटनाचक्र को प्रमुखता दी गई है। जासूसी कहानियों को भी इस प्रकार के उपन्यासों ने प्रगति दी। भयानक भेदिया, प्रवीण पथिक और प्रमीला इनके उदाहरण हैं। लेखकों की दृष्टि संस्कृत साहित्य के रोमांस-प्रधान उपन्यासों पर भी गई और उनका अनुवाद और अनुकरण भी हुआ। १८९३ ई० में देवीप्रसाद उपाध्याय ने सुन्दर सरोजिनी और जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी ने वसंत-मालती उपन्यासों की रचना संस्कृत उपन्यासों के ढंग पर ही की।

१९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में बंगाली उपन्यासों का अनुवाद प्रचुर मात्रा में हुआ। अनुवादकारों में प्रमुख हैं राधाकृष्णदास, गदाधरसिंह, गोस्वामी राधाचरण, बालमुकुन्द गुप्त, रामशंकर व्यास, विजयानन्द त्रिपाठी, किशोरीलाल गोस्वामी, प्रतापनारायण मिश्र, अयोध्यासिंह उपाध्याय, कार्तिक-प्रसाद खत्री और बलदेवप्रसाद मिश्र। इन बंगाली उपन्यासों के अनुवाद के अतिरिक्त संस्कृत, उर्दू और अंग्रेज़ी के अनुवाद सीधे उन भाषाओं अथवा प्रान्तीय भाषाओं से हुए। इन भाषाओं से अनुवाद-कर्ताओं में कई महत्वपूर्ण हैं। चक्रधरसिंह और गदाधरसिंह ने बंगला से, काशीनाथ खत्री ने संस्कृत से, पुरुषोत्तमदास टंडन ने अंग्रेज़ी से और भारतेन्दु तथा स्वरूपचन्द्र जैन ने मराठी से अनुवाद किया। रामकृष्ण वर्मा ने उर्दू और अंग्रेजी के कुछ उपन्यासों को हिन्दी का रूप दिया।

नाटक

हिन्दी नाटक हिन्दी उपन्यास की तरह एक अत्यन्त आधुनिक वस्तु है, यद्यपि नाटक का इतिहास किसी न किसी रूप में २४वीं शताब्दी तक ले जाया जा सकता है। इस इतिहास को हम दो भागों में बांट सकते हैं। एक तो स्वयम् नाटक जिनमें से अधिकांश काव्यबद्ध हैं और दूसरे महाकाव्य या प्रबन्ध-काव्य के अन्तर्गत नाटकीय तत्व जैसे रामचरितमानस का नाटकीय तत्व। हमें प्रारम्भ में यह कह देना है कि इस सारे काल के नाटक वास्तव

में नाटक नहीं कहे जा सकते। ये काव्य हैं जिनके आगे नाटक शब्द का प्रयोग किया गया है। इनमें न नाटकों की भाँति कार्य-विभाजन है, न पात्रों और गमनागमन के विषय में निर्देश हैं। इनकी कोई परम्परा भी नहीं है। ये प्रयत्न मात्र हैं जो सारे हिन्दी-प्रदेश में छिटके हुए थे, केवल मिथिला के केन्द्र से नाटक बराबर निकलते रहे।

हिन्दी की बोलियों में सबसे पहले नाटक में मैथिली का प्रयोग गीतों के रूप में हुआ। इस केन्द्र से १३२८ ई० में उमापति ने रुक्मिणीहरण और पारिजातहरण नाम के दो नाटक लिखे। लाल झा (१७८०), भानुनाथ झा (१८५०), और हर्षनाथ झा (१८४७) ने भी नाटक लिखे। इस केन्द्र के बाहर लिखे जाने वाले नाटकों की संख्या अधिक है। १७वीं शताब्दी में केशवदास ने विज्ञान गीता, कृष्णजीवन ने करुणाभरण, हृदयराम ने हनुमन्नाटक, और ईश्वन्तसिंह ने प्रबोधचन्द्रोदय नाटक की रचना की। १८वीं शताब्दी में निवाज ने शकुन्तला और देव ने देवमाया-प्रपंच नाटक लिखे। १६वीं शताब्दी के मध्य तक महाराज विश्वनाथ, मञ्जु, मंसाराम कृष्ण शर्मा, हरिराम और ब्रजवासीदास ने क्रमशः आनन्द रघुनन्दन, हनुमान नाटक, रघुनाथ रूपक, रामलीला बिहार नाटक, जानकी रामचरित नाटक और प्रबोधचन्द्रोदय की रचना कर प्राचीन नाटक साहित्य में वृद्धि की। ये नाटक या तो संस्कृत नाटकों के अनुवाद हैं या उनका कथानक पौराणिक हैं। इन सभी लेखकों का दृष्टिकोण धार्मिक है। ये पद्य में हैं और इनमें नाटकीय गुणों का अभाव-सा है।

संस्कृत साहित्य के नाटक अत्यन्त उच्चकोटि के थे, परन्तु लेखकों का ध्यान उनकी ओर नहीं गया। नाटक के विकास के लिए जिस समाज की आवश्यकता थी, वह समाज उपस्थित नहीं था और राजशक्ति का धर्म इस प्रकार के खेलों को पसन्द नहीं करता था। सारे मध्य युग की चिन्तना गीति-काव्य और मुक्तक में ही मुख्य रूप से प्रगट हुई। कथा की तृप्ति भी कविता ने ही की। १९वीं शताब्दी के मध्य तक यही दशा रही। परन्तु यह न समझना चाहिए कि इतनी बड़ी जनता के मनबहलाव के लिए कोई साधन नहीं था। समस्त बंगाल में यात्रा, पश्चिमी हिन्दी-प्रदेश में स्वांग और रासलीला और मध्य व पूर्वी हिन्दी-प्रदेश में नौटंकी आदि जनता का मनोरञ्जन करते थे, विशेषकर उत्सवों और त्योहारों के समय। कुछ लेखकों का कहना है कि

इन्हीं से हिन्दी-उर्दू नाटकों का विकास हुआ, परन्तु अधिकांश विद्वान इसे नहीं मानते।

उन्नीसवीं शताब्दी में नाटक के विकास के कई साधन इकट्ठे हो गये थे। अंग्रेज़ी विद्वानों ने भारतीय विद्वानों और लेखकों का ध्यान संस्कृत की ओर आकर्षित किया और उसके पठन-पाठन का प्रबन्ध किया। इससे संस्कृत नाटकों की ओर लोगों का ध्यान गया। कलकत्ता, मद्रास और बम्बई में अंग्रेजी रंगमंच प्रसिद्ध हो गया था और जो लोग मनोरंजन के लिए वहाँ जाया करते थे उन्होंने देशी रंगमंच को जन्म देने में प्रोत्साहन दिया। अंग्रेज़ी शिक्षा के साथ-साथ लेखकों के सामने अंग्रेज़ी नाटक-साहित्य आया। बंगाली नाटक का विकास हिन्दी नाटक से पहले हो गया था। इसका कारण यह था कि बंगाली समाज और साहित्य अंग्रेज़ी समाज और साहित्य के सम्पर्क में सबसे पहले आया। उस समय ऐसी अनेक प्रवृत्तियों ने भी जन्म ले लिया था जिनकी अभिव्यक्ति नाटकों में ही हो सकती थी। समाज-सुधार की भावना प्रधान थी। इसने जिस प्रकार समाचार पत्रों में 'पंच' को जन्म दिया उसी तरह साहित्य में प्रहसन को भी। राष्ट्रीयता का विकास भी नाटक-रचना में सहायक हुआ। धार्मिक आन्दोलनों ने देश का ध्यान धार्मिक और पौराणिक कथाओं की ओर फेरा और उनको विषय बनाकर नाटकों की रचना हुई।

हिन्दी का पहला नाटक, जिसे वास्तविक अर्थ में नाटक कहा जा सकता है 'नहुष' है। इसे १८५६ में हरिश्चन्द्र के पिता गिरधारीदास (गोपालचन्द्र) ने लिखा। हरिश्चन्द्र (१८५०-१८८५) अपने पिता के योग्य उत्तराधिकारी निकले। उन्होंने अंग्रेज़ी और संस्कृत नाटकों को एक केन्द्र पर लाने की चेष्टा की और उन्होंने नाटक-शास्त्र के गहरे अध्ययन के बाद लेखनी उठाई। वह बंगला के नाटकों से प्रभावित हुए।

हरिश्चन्द्र का पहला नाटक 'विद्यासुन्दर' है जो उन्होंने अपनी १८६८ की जगन्नाथपुरी यात्रा के पश्चात् लिखा। उन्होंने इस नाटक को बंगाली यात्रा में खेले जाते देखा होगा। यह अनुवाद था। हरिश्चन्द्र ने नाटक प्रणयन अनुवाद से ही प्रारम्भ किया। इसके उपरान्त उन्होंने सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक, देश-प्रेम-सम्बन्धी, राजनैतिक और पौराणिक कथानकों को लेकर नाटक लिखे। उनके पूर्ण नाटक श्री चन्द्रावली (१८७८) विषस्य विषमौषधम् (१८७६), भारतदुर्दशा (१८८०), नीलदेवी

(१८८१) हैं। उन्होंने दो नाटक प्रेम-वियोगिनी (१८७५) और सती प्रताप (१८८३) अधूरे छोड़े।

भारतेन्दु के नाटकों को ३ भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) जिनमें सामाजिक और देश-प्रेम (राजनैतिक) समस्याओं पर विचार किया गया है (भारत दुर्दशा, नीलदेवी)

(२) पौराणिक (सती प्रताप)

(३) रोमांस (चन्द्रावली)

भारतेन्दु के नाटकों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनमें रंगमंच और साहित्य का एक साथ ध्यान रखा गया है। हो सकता है, आज के मानदण्ड पर वे पूरे नहीं उतरें, परंतु हमें यह भी देखना होगा कि भारतेन्दु किन कठिनाइयों के बीच में काम कर रहे थे। सच तो यह है कि भारतेन्दु के नाटकों में उनके युग की अभिरुचि का चित्रण पूर्णतः हो गया है।

भारतेन्दु के बाद हिन्दी नाटक पतनोन्मुख हो गया। हमें नाटककार तो बहुत से मिलते हैं, परतु कलाकार बहुत थोड़े। इनमें श्रीनिवासदास[१७] (१८५१—१८८७) राधाकृष्णदास[१८] (१८६५—१९०७), किशोरीलाल गोस्वामी[१९] और राव कृष्णदेव शरणसिंह[२०] मुख्य हैं। इन सब लेखकों के नाटकों में केवल राधाकृष्णदास ने बाल-विवाह, असहिष्णुता आदि दुर्गुणों के परिहार की चेष्टा की है। अन्य नाटककारों का विषय प्रेम अथवा रोमांस है। उन्होंने समाज की ओर ध्यान नहीं दिया है। वास्तव में नाटक की अवस्था भारतेन्दु के समय में भी बहुत अच्छी नहीं थी। स्वयंम् भारतेन्दु के समय में लोगों में नाटक देखने की अभिरुचि नहीं थी और उनके बाद ही कुछ ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गईं जिन्होंने नाटक के विकास पर आघात किया। भरतेन्दु के समय में ही[२१] पारसी कम्पनियों का प्रभाव बढ़ गया था। उन्होंने जनता की अभिरुचि को बिगाड़ दिया। वह सस्ते पैसों में तड़क-भड़क देखने की आदी हो गई।

१७—रणधीर-प्रेममोहिनी (१८७७), संयोगिता-स्वयंवर (१८९५), तप्त संवरण (१८८३)

१८—दुखिनी बाला (१८८०), पद्मावती (१८८२), धर्मालाप (१८८५), महाराणा प्रताप (१८९२)

१९—मयंक-मंजरी महानाटक (१८९१)

२०—माधुरी रूपक

२१—देखो "नाटक" भारतेन्दु

हिन्दी नाटककारों ने भी आर्थिक संकटों के कारण इन कम्पनियों के हाथ में आत्मसमर्पण कर दिया। पारसी कम्पनियों पर उर्दू रंगमंच लेखकों का अधिकार था। कला के नाम पर लफ़्फ़ाज़ी (शब्द-बवंडर) और वासना का प्रदर्शन होता था। इसका फल यह हुआ कि शीघ्र ही वृद्ध लोग और समझदार रंगमंच को बड़ी बुरी दृष्टि के देखने लगे। नवयुवकों का थियेटर जाना और उनमें पार्ट लेना असंभव हो गया। रंगमंच पर गान-वाद्य, अतिशयोक्तिपूर्ण कथन और अस्वाभाविक नाट्य एवं पद्य का राज्य था। इस परिस्थिति को सुधारने की कुछ लेखकों ने चेष्टा की, परन्तु वे असफल रहे। कदाचित् इसी आवश्यकता को ध्यान में रखकर बंगाली नाटकों के हिन्दी अनुवाद आरम्भ हुए परन्तु उनसे भी रंगमंच की अवस्था कुछ नहीं सुधरी।

फिर भी परवर्ती लेखकों पर भारतेन्दु का प्रभाव पड़ा। उन्होंने भारतेन्दु की शैली अपनाई, उन्हीं की तरह सामाजिक विषय लिए, उन पर गम्भीर नाटक और प्रहसन लिखे, कभी-कभी देशभक्ति को भी स्थान दिया यद्यपि इस विषय में वे सदैव सतर्क रहे। परन्तु उन पर भारतेन्दु से कहीं अधिक बड़ा और गहरा प्रभाव फारसी थियेटर और जनता की बिगड़ी अभिरुचि का पड़ा। उन्होंने फ़ारसी थियेटर की शैली को महत्व दिया। जनता की अभिरुचि देखते हुए उन्होंने अपने अधिकतर नाटकों का विषय पाप पर पुण्य की जय या भक्तों की महिमा का निरूपण बनाया। जनता की अभिरुचि स्त्री-चरित्र की ओर अधिक थी। उससे उस समय की स्त्री-विषयक, धारणा की पुष्टि होती थी और रोमांस का आनन्द मिलता था। पारसी थियेटर के प्रधान अस्त्र गान, नृत्य, भड़कीले दृश्य और वस्त्राभूषण थे। वह अद्भुत रंगमंच के करिश्मे दिखाती थी। इन बातों ने जनता का मन मोह लिया।

भारतेन्दु के परवर्ती नाटककारों ने समाज-सुधार की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया। वह प्रेम और रोमांस के भुलावे में अपने समय की समस्याओं से दूर हो गए। इसका फल यह हुआ कि जनता (जो उस समय इन समस्याओं को सुलझाने में लगी थी) उनकी न हो सकी। यदि समाज-सुधार विषय पर अधिक ज़ोर दिया जाता तो कोई बड़ा नाटककार, रंगमंच होने पर, जनता को अपनी ओर कर सकता था। वास्तव में हरिश्चन्द्र के बाद नाटक को कोई ऐसा व्यक्तित्व मिल ही नहीं सका जो उसे अपने विचारों की अभिव्यक्ति का साधन बनाए।

यह आश्चर्य का विषय है कि ऐसे समय में नाटक का ह्रास हुआ। जब उसे अत्यन्त बलशाली अस्त्र बनाया जा सकता था। वह युग आत्मचिंतन, आत्मशोध और सामाजिक एवं धार्मिक हलचल का युग था, राजनैतिक देश-भक्त संस्थाओं का सूत्रपात हो गया था। आर्य समाज का नेतृत्व केवल मौखिक वाद-विवादों और पत्रों तक सीमित रह गया था। राजनीति अभी खुल कर सामने नहीं आई थी। ऐसा समय नाटक-रचना के अत्यंत उपयुक्त था।

हरिश्चन्द्र स्कूल के प्रमुख लेखक ये हैं—देवकीनन्दन त्रिपाठी[२२] (आ० १८७०), दामोदर शास्त्री[२३] (आ० १८७३), श्रीकृष्ण,तकरू[२४], लाल खड्ग-बहादुरमल[२५] (आ० १८७३), प्रतापनारायण मिश्र[२६] (१८५५—१८२१), ज्वालाप्रसाद मिश्र[२७], दुर्गाप्रसाद मिश्र, बलदेवप्रसाद मिश्र[२८] (१८६६—१६०४), तोताराम वर्मा[२९] (१८४७—१६०२)

प्रहसन

जिस अर्थ में हम प्रहसन का प्रयोग करते हैं उस अर्थ में कोई वस्तु १६वीं शताब्दी से पहले के समय की हमारे सामने नहीं है। इस शताब्दी में समाज के सामने एक उत्कट समस्या उत्पन्न हो गई। एक वर्ग ऐसा पैदा हो गया जो एक नई समस्या को अपना रहा था। इससे समाज की पुरातन-प्रिय मंडली को उसका खाका उड़ाने का अवसर हाथ आया। प्रहसन सामाजिक विडम्बना का ही सूचक है।

हिन्दी का सबसे पहला प्रहसन भारतेन्दु का 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' (१८७५) है। इसमें उन्होंने नवीन समाज के आचार-संबंधी सिद्धान्तों की

२२—सीताहरण नाटक (१८७६), रुक्मिणी-हरण नाटक (१८७६), कंसबध नाटक (१८७९), नन्दोत्सव नाटक (१८८०), लक्ष्मी सरस्वती नाटक (१८८१), बाल-विवाह नाटक (१८८७), गोबध निषेध नाटक (१८८१), प्रचंड गोरक्षा नाटक (१८८१)।

२३—रामलीला (१८८२—१८८७)।

२४—विद्याविलासिनी व सुख सम्बन्धिनी नाटक (१८८४)

२५—हड़तालिका नाटिका (१८८७)

२६—कलिकौतुक रूपक (१८९०)

२७—सीता बनवास (१८९५), बेनीसंहार नाटक, विचित्र कवि, गोस्वामी नामचानार्य

२८—मीराबाई (१८९७), नंदविदा (१९००)

२९—विवाह-विडम्बना नाटक (१९००)

हँसी उड़ाई है। उनका दूसरा प्रहसन 'अंधेर नगरी' है जो १८८१ में लिखा गया।

परन्तु शीघ्र ही प्रहसन लोकप्रिय हो गया और उसके क्षेत्र का विस्तार हुआ। नवीन विचारों के समर्थकों ने प्राचीन विचारों और रूढ़ि-ग्रस्त व्यक्तियों के प्रति इसका प्रचुर प्रयोग किया। लगभग जीवन की समस्त दिशाओं को प्रहसन का विषय बनाया गया। इस समय के प्रसिद्ध प्रहसन-लेखक पं० बालकृष्ण भट्ट[३०] (१८४७-१९१९), देवकीनन्दन त्रिपाठी[३१] (आ० १८७०) लाल खड्गबहादुर मल[३२] (आ० १८७३), राधाचरण गोस्वामी[३३], किशोरीलाल गोस्वामी[३४], देवकीनन्दन तिवारी[३५] (आ० १८७३), चौधरी नवसिंह[३६] और गोपालदास गहमरी[३७] है।

इन प्रहसनों में उच्च कला के दर्शन नहीं होते। इनका महत्व साहित्यिक नहीं है, ऐतिहासिक अवश्य है।

विदेशी विद्वानों की प्रशंसाओं ने भारतीय विद्वानों का ध्यान एक बार फिर संस्कृत की ओर फेरा और हिन्दी में संस्कृत नाटकों के अनुवाद होने लगे। इन अनुवादों का प्रारम्भ राजा लक्ष्मणसिंह (१८२६-१८९६) के शकुन्तला नाटक[३८] से हुआ। यह नाटक १८६१ में अनूदित हुआ। इनके बाद भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और लाला सीताराम बी० ए० (१८५८-१९३६) का नाम उल्लेखनीय है।

संस्कृत से अनुवाद

भारतेन्दु के अनूदित नाटक ये हैं— विद्यासुन्दर[३९] (१८६८), पाखंड

३०—शिक्षादान या जैसा काम वैसा परिणाम (१८७७)

३१—रक्षाबंधन (१८७८), एक-एक का तीन-तीन (१८७९), स्त्री चरित्र (१८७९), बैल छः टके का

३२—भारत-आरत (१८८५)

३३—बूढ़े मुंह मुहासे, लोकदिखाई तमाशा (१८८७)

३४—चौपट चपेट

३५—कलियुगी विवाह प्रहसन

३६—वैश्या नाटक (१८९३)

३७—जैसे का तैसा

३८—मूल ले० कालिदास

३९— ,, ,, चौर कवि

विडम्बन[४०], धनंजय विजय[४१] (१८७३), कर्पूरमंजरी (१८७५)[४२] सत्य हरिश्चन्द्र (१८७५)[४३], मुद्राराक्षस (१८७८)[४४]। लाला सीताराम के इस प्रकार के नाटक हैं—महावीर चरित[४५] (१८७७) उत्तर रामचरित[४६], मालती-माधव (१८९८)[४७], मालविकाग्निमित्र (१८९८)[४८], मृच्छकटिक[४९] (१८९९), नागानन्द (१९००)[५०]।

संस्कृत से अनुवाद की यह परंपरा दूबे नन्दलाल विश्वनाथ[५१] (ज० १८८१), बालमुकुन्द गुप्त[५२] (१८६८-१९०७), ज्वालाप्रसाद मिश्र[५३] (१८६२), शीतलप्रसाद[५४] और अन्य महानुभावों ने जारी रखी।

अंग्रेज़ी साहित्य से अधिकांश अनुवाद शेक्सपियर[५५] के हुए। कभी एक-एक नाटक कई बार अनुवाद हुआ है। अन्य अंग्रेजी नाटककारों

४०— मू० लेखक कृष्ण मिश्र (प्रबोध चंद्रोदय के ३रे अङ्क का अनुवाद)
४१— ,, ,, कवि कंचन
४२— ,, ,, राजशेखर
४३— ,, ,, क्षेमेश्वर
४४— ,, ,, विशाखदत्त
४५— ,, ,, भवभूति
४६— ,, ,, वही
४७— ,, ,, वही
४८— ,, ,, कलिदास
४९— ,, ,, शूद्रक
५०— ,, ,, श्रीहर्ष
५१— ,, ,, उत्तर रामचरित (१८८६), शकुन्तला (१८८८)
५२— ,, ,, रत्नावली १८९८)
५३— ,, ,, बेणी संहार नाटक (१८९७)
५४— ,, ,, मृच्छकटिक, रत्नावली और प्रबोध चन्द्रोदय नाटक
५५—शेक्सपियर के केवल ५-६ नाटकों के ही अधिक अनुवाद हुए :
कोमेडी आव एरर—भ्रमजालक (१८७९ रत्नचन्द्र)
मरचेन्ट आव वेनिस—दुर्लभ बंधु या वंशापुर का महाजन (१८८० हरिश्चंद), वैनिस नगर का व्यापारी (आर्या १८८८)
एज़ यू लाइक इट—मनभावन (१८९६, पुरोहित गोपीनाथ)
रोम्यो एंड जूलियट—प्रेमलीला (१८९७, वही)

अंग्रेजी से अनुवाद

में एडिसन५६ को छोड़ कर और किसीसे यह युग परिचित नहीं है। अंग्रेज़ी स्कूलों-कालिजों और ड्रामा कम्पनियों ने शेक्सपियर के प्रचार में महत्त्वपूर्ण काम किया है।

हरिश्चन्द के बाद हिंदी नाटक का ह्रास हो गया और हिन्दी लेखक अधिक उन्नत बङ्गभाषा के नाटकों के अनुवाद की ओर झुके। इस प्रकार के नाटक हैं, कृष्णकुमारी५७, पद्मावती, वीर नारी, सती नाटक५८, सज्जाद सुंबुल५९, शमसाद सोसन६०, 'क्या इसी को सभ्यता कहते हैं ?६१'

बंगाली के अनुवाद

निबंध

हिन्दी पत्रों के प्रादुर्भाव के कारण गद्य-लेखन की उस शैली का जन्म हुआ जिसे लेख कहते हैं। और जैसे-जसे पत्रों की संख्या और उनके संपादन में उन्नति होती गई वैसे-वैसे अधिक अच्छे लेख लिखे जाने लगे। ये लेख उस समय के सामयिक साहित्य का रूप रखते हैं। कदाचित् पहले महत्वपूर्ण निबंध-लेखक भारतेन्दु ही हैं। परन्तु उस सारी शताब्दी में सैकड़ों लेख लिखे गए जिनमें से अधिकांश तो प्राचीन पत्रों के साथ लुप्त हो गए हैं।

परन्तु गद्य-लेखन का वह रूप जिसे निबंध कहते हैं अधिक विकसित नहीं था। बालकृष्ण भट्ट और पं० प्रतापनारायण मिश्र इस समय के सबसे अच्छे निबंधकार हैं। इनके निबंध हिन्दी में "हिन्दी प्रदीप" और "ब्राह्मण" के द्वारा हमारे सामने आये। उन्होंने अपनी शैली आप विकसित की। उनकी भाषा में यद्यपि प्रांतीय प्रयोग आ जाते थे परन्तु वह अलंकारों और काव्योपयोगी प्रयोगों से मुक्त थे। उस पर वैयक्तिकता की छाप थी जो प्रत्येक अच्छे निबंध में होना आवश्यक है।

५६—इनके "केटो" नाटक का अनुवाद १८७९ में अलीगढ़ के तोताराम वर्मा ने किया।

५७—अनु० रामकृष्ण वर्मा, मूल ले० मधुसूदन दत्त

५८— ,, उदितनारायण वकील, मूल ले० मनमोहन बसु

५९— ,, केशवराम भट्ट (शरत और सरोजनी का अनुवाद)

६०— ,, वही (सुरेन्द्र विनोदिनी)

—६१ ,, ब्रजनाथ, मूल ले० मधुसूदन दत्त

प्रतापनारायण] मिश्र ने हास्य रस के निबंधों और व्यंगात्मक शैली को जन्म दिया। उनके लेखों में जो चुलबुलापन है वह जितना उस युग के पाठकों का ध्यान आकर्षित करने के लिए आवश्यक था उतना लेखक के व्यक्तित्व-प्रकाशन के लिए शब्दों के चुनाव, विचारों के प्रकाशन और उनकी नागरिकता में पं० बालकृष्ण भट्ट अधिक सतर्क हैं परन्तु पं० प्रतापनारायण मिश्र हास्य से निबंधों को अधिक रोचक बना देते हैं।

निबंधों ने गद्यशैली को विकसित एवं परिमार्जित करने तथा अन्य लेखकों के सामने भाषा और अभिव्यक्ति के ढंग का नमूना रखने में बड़ी सहायता की। इसने हिन्दी के शब्दकोष की वृद्धि करने और उसे स्थिर रखने में भी सहायता दी। लगभग सभी लेखकों ने निबंध लिखे। इनमें पिछले दो के अतिरिक्त भारतेन्दु, राधाकृष्णदास, दयानन्द, बालमुकुन्द गुप्त शैली की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। वह युग खंडन-मंडन, बुद्धिवाद, और तर्क का युग था और इन सब बातों ने निबंध के लिए विषय चुने और उनकी शैलियों के विकास पर प्रभाव डाला। निबंधों के द्वारा ही हिन्दी गद्य ने नया जन्म लिया।

हिन्दी प्रदीप (१८७७) और ब्राह्मण (१८८३) के प्रकाशन ने हिन्दी निबंध-जगत् में क्रान्ति कर दी और शताब्दी के अंत होते-होते विषय-वैभिन्य, शैली, साहित्य सभी दृष्टि से हिन्दी निबंध उच्च श्रेणी का हो गया था। नए ज्ञान को जनता तक पहुँचाने का वही साधन था। वास्तव में कुछ वैयक्तिक निबंधों को छोड़ कर इस युग के लेखों और निबंधों में भेद करना कठिन है। जहाँ निबंधों में शैलियों की सृष्टि की वहाँ लेखों ने हिन्दी-प्रचार और विचार-प्रचार का महत्वपूर्ण कार्य किया।

जीवन-चरित्र

इस समय पहली बार कवियों ने जीवन से संबंध स्थापित करने की चेष्टा की है। यद्यपि दार्शनिक तत्त्वचिंतन और जीवन से पलायन की थोड़ी बहुत प्रवृत्ति तब भी है, परन्तु वह महत्वपूर्ण नहीं है। कवि दरबार की विलास-भूमि से निकल कर समाज, राष्ट्र, विश्व और सभी अवस्था के नर-नारियों के बीच में बढ़ने लगा है। नए ज्ञान ने नए विषयों का द्वार उसके लिए उन्मुक्त कर दिया है। इसी परिस्थिति ने कवियों को जीवन-चरित्र-लेखन की ओर प्रेरित किया। वास्तव में कवियों और महात्माओं के जीवन-चरित्र लिखने की परम्परा

भक्ति-काल से चली आ रही थी और भक्तमाल और वार्ताएँ इस समय के जीवनी-लेखकों के सन्मुख थीं।

१९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध के प्रारम्भिक काल में नाभादास के अनुकरण में भक्तों के जीवन-चरित्रों को उपस्थित किया गया। १८५७ में रीवा के महाराजा रघुराजसिंह ने रामरसिकावली लिखी। इसका कलियुग प्रकरण नाभादास के कार्य को आगे बढ़ाता है। लेखक ने प्रियादास की भक्तमाल की टीका की सामग्री को ही ग्रहण कर लिया है। इस प्रकार के अन्य जीवनी ग्रन्थ युगलदास की बघेल-वंशागम-निर्देश (१८६३), भारतेन्दु का उत्तरार्ध भक्तमाल (१८७२) और राधाचरण गोस्वामी का नवभक्तमाल (१८८६) हैं। ऐतिहासिक विवेचन एवं जीवन सामग्री के विस्तार की दृष्टि से ये ग्रन्थ महत्वपूर्ण नहीं। वास्तव में ये जीवनी-लेखक प्राचीन परिपाटी का ही पोषण करते हैं।

नवीन दृष्टिकोण से जीवनी-लेखन भारतेन्दु से प्रारम्भ होता है। उन्होंने इस क्षेत्र में १८८२ के लगभग कार्य शुरू किया और विक्रम, कालीदास, रामानुज, जयदेव, राजाराम शास्त्री, लार्ड म्यो, लार्ड रिपन आदि के संक्षिप्त जीवन-चरित्र उपस्थित किये। इनमें उनका दृष्टिकोण ऐतिहासिक और खोजपूर्ण था। इसके बाद उनके अनुसरण में जीवनी-लेखन की एक धारा ही चल पड़ी। अनेक लेखकों ने उस काम को आगे बढ़ाया। इनमें कार्तिक-प्रसाद खत्री, राधाकृष्णदास, गोकुलनाथ शर्मा, अम्बिकादत्त व्यास और मुन्शी देवीप्रसाद मुन्सिफ़ महत्वपूर्ण हैं। लाल खडग्बहादुर मल्ल ने भी अनेक संक्षिप्त जीवन-चरित्र लिखे। कुछ जीवन-चरित्रों की सामग्री एवं आधार अत्यन्त भ्रामक तथा असत्य है, परन्तु नये दृष्टिकोण को लेकर चलने वाले अधिकांश लेखक सत्य के अधिक निकट पहुँचने की चेष्टा करते हैं। १९०० ई० में मेज़नी का जीवन-चरित्र छपा जो लाला लाजपतराय के इसी नाम के अंग्रेज़ी ग्रंथ का अनुवाद था। इसने हिन्दी जीवनी-लेखकों के सामने नया आदर्श रखा। अनेक जीवनी-ग्रन्थ लिखे गये और समसामयिक पत्रों में प्रकाशित हुए। इस प्रकार के लेख लिखने वालों में राजा शिवप्रसाद और काशीनाथ खत्री हैं। इनमें से अधिक लेख राजपूतों एवं भक्तों और संतों से संबंध रखते हैं।

अ—पद्य

गद्य के आविर्भाव के बाद नूतन युग का सबसे महत्वपूर्ण कार्य काव्य की नई गति-विधि है। इस समय न केवल काव्य की भाषा में परिवर्तन हुआ, वरन् उसके विचार, व्यंजना, दृष्टिकोण और छन्द में भी। अब तक पिछली काव्य-परंपरा चली आ रही थी, विशेषकर भक्तिकाव्य के रूप में। राधा-कृष्ण के रोमांस में अतिशयोक्ति और धार्मिकता का प्राधान्य था और कविता को जीवन से दूर खींच कर कल्पना के लोक में ले जाने की प्रवृत्ति काम कर रही थी। जनसाधारण का जीवन बदल गया था, परन्तु काव्य का लक्ष्य नहीं बदला था न उपमा-उत्प्रेक्षा आदि के लिए कवि जीवन की ओर मुड़ते थे। भाषा में ब्रजभाषा का प्राधान्य था। अनेक प्रान्तीय बोलियों के रहते हुए भी वही काव्य-भाषा हो रही थी।

१९वीं शताब्दी के अन्त तक परिस्थिति बहुत कुछ यही रही परन्तु साथ ही नवीनता ने भी प्रवेश किया। पुराने दृष्टिकोण को सुरक्षित रखते हुए अनेक रूढ़ियों के बीच में नया दृष्टिकोण भी विकसित होता रहा और उसने धीरे-धीरे अपने पक्ष में महत्वपूर्ण सामाजिक अभिरुचि को जन्म दिया। नया प्रभाव कई स्रोतों से आया। पच्छिमी विचारों का प्रभाव पड़ रहा था। विज्ञान के अध्ययन से वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास हो चला था। गद्य के आविर्भाव, पश्चिमी साहित्य, विशेषतयः अंग्रेज़ी साहित्य और उससे प्रभावित प्रान्तीय साहित्यों के अध्ययन, नई राजनैतिक जाग्रति और उन सुधारों ने जिनके प्रवर्तक राजा राममोहन राय और स्वामी दयानन्द थे, नए युग को अनेक प्रकार से प्रभावित किया। सरकार द्वारा, विशेषकर विलियम बैन्टिङ्क के समय में, किये गये सामाजिक सुधारों का भी प्रभाव पड़ा।

उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्ध भारतीय जीवन में हलचल का समय है। जनता में, विशेषकर मध्यवर्ग में, असन्तोष था। मध्यवर्ग नए सामाजिक सुधारों का स्वागत कर रहा था परन्तु रूढ़ियों के टूट जाने से त्रस्त था। वह राजनैतिक अधिकारों की प्राप्ति के लिए आन्दोलन खड़ा कर रहा था। धर्म की ओर अभिरुचि कम हो रही थी। लौकिक जीवन को प्रधानता मिलने लगी थी और इसलिए धीरे-धीरे यथार्थवादी दृष्टिकोण का विकास हो रहा था। यही कारण था कि प्राचीन आदर्शवादी, धर्मप्रधान, काव्य-रूढ़िग्रस्त साहित्य से भी इस वर्ग में असन्तोष उत्पन्न हुआ और चूँकि अधिकांश कवि

इस वर्ग के थे, अतः उनके द्वारा नये काव्य की नींव पड़ी। परन्तु प्राचीन रूढ़ियाँ एक दिन में नष्ट नहीं हो गईं। हम सारी उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध और बीसवीं शताब्दी के पहले १० वर्षों में नए काव्य को प्राचीन काव्य-भाषा और काव्य-परम्परा से झगड़ता पाते हैं।

इस समय का अधिकांश काव्य प्रचार-मूलक है। यह आवश्यक था क्योंकि यही युग स्वयम् राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक सुधारों के प्रचार का युग है। कवियों ने अपने युग की प्रवृत्तियों को पकड़ा और उन्हें काव्य का रूप दिया। इस नवीन काव्य-धारा के प्रारम्भिक काल का अध्ययन करते हुए कई नवीन बातों की ओर हमारा ध्यान जाता है। अंग्रेज़ी काव्य के अध्ययन से हमारे कवियों का ध्यान भाषा, भाव और प्रकाशन की सरलता की ओर गया। हिन्दी-काव्य-शैली प्रतीक-प्रधान और अभिव्यंजना-प्रधान थी। प्राचीन प्रतीक हट गये। नये प्रतीक नहीं गढ़े गये। व्यंग का स्थान अभिधा ने ले लिया। अंग्रेज़ी काव्य के प्रकृत चित्रण की ओर कवियों का ध्यान विशेष रूप से गया। यह बात नहीं है कि कवि उस समय प्रकृति के अधिक निकट आ गये थे। वस्तुतः ग्राम नगर की ओर बहने लगे थे जिसके कारण जीवन में नागरिकता की अधिक वृद्धि हो गई। इसकी प्रतिक्रिया के स्वरूप ही कवियों का ध्यान प्रकृति को ओर गया था। काव्य में प्रकृति के नये स्थान के संस्थापकों में पं० श्रीधर पाठक का नाम महत्वपूर्ण है।

अंग्रेजी काव्य में बुद्धिवाद का स्थान अधिक है, विशेषकर १८वीं शताब्दी के काव्य में जिससे हमारे कवि प्रभावित हो रहे थे। अतः हमारे काव्य में बुद्धि-तत्व अधिक होने लगा, हृदय-तत्व कम। कविता ने मानव जीवन और मनुष्य के दैनिक कार्यों एवं उसकी प्रतिदिन की वृत्तियों से संबंध जोड़ना शुरू किया। इसी प्रकार देश-प्रेम का स्थान अंग्रेजी काव्य में महत्वपूर्ण है। कुछ उसके प्रभाव से, परन्तु अधिकतर राष्ट्रीयता के उस नये आन्दोलन के प्रभाव से जो कांग्रेस के जन्म के साथ उत्पन्न हुआ। हिन्दी काव्य में राष्ट्रीय कविता (अधिक उपयुक्त शब्द होंगे देश-प्रेम की कविता) का प्रादुर्भाव हुआ। भारतेन्दु की चित्तौड़-विषयक कविता और उनके राजनैतिक नाटकों की गति इसी ओर इङ्गित करती हैं।

अन्य प्रान्तों और अंग्रेजी आदि पश्चिमी भाषाओं के काव्य को पढ़ने से हमारे कवियों को यह स्वाभाविक रूप से स्पष्ट हो गया कि उनका काव्य अन्य भाषाओं के काव्य के सम्मुख अधिक उत्कृष्ट नहीं है,

विशेषकर अर्वाचीन या समसामयिक काव्य, अतः वे इस कमी को पूरा करने में लगे।

अनेक कवि आर्यसमाजी थे, अतः समाज-सुधार के नये विचारों (विधवा-विवाह का प्रचार, बाल-विवाह का विरोध, सामाजिक कुरीतियों, वृद्ध विवाह, दहेज आदि के उन्मूलन) के प्रचार में उन्होंने कविता को अपना अस्त्र बनाया। सनातन धर्मी रूढ़िप्रिय कवि उनके सामने वही अस्त्र लेकर खड़े हुए परन्तु वे समय से पिछड़े गये थे, अतः उनका अधिक महत्व नहीं हो सका।

इन सब प्रवृत्तियों के साथ जो खड़ी बोली की कविता के रूप में इस शताब्दी के अन्तिम भाग में हमारे सामने आई, ब्रजभाषा की कविता चली जा रही थी। इसके दो रूप थे (१) वैष्णव काव्य जो भक्ति-प्रधान था। इसका विषय विशेषकर कृष्ण-भक्ति था और आलम्बन राधा-कृष्ण-लीला। (२) रीति कविता जिसमें मौलिकता का एकदम अभाव हो रहा था। अलंकारों और अनुप्रासों की घटाटोप में नायक-नायिकाओं की चुहल और प्रकृति के बंधे-सधे चित्र चल रहे थे। सच तो यह है कि न वैष्णव कविता के लिए उपयुक्त भूमि रही थी, न रीति कविता के लिए। भक्ति का आन्दोलन शिथिल पड़ गया था और रीति-काव्य के आश्रयदाता राजा-महाराजा नष्ट हो चुके थे और जो थे भी, वे साधनाभाव के कारण कवियों को अधिक सहायता नहीं दे सकते थे। प्रेस की प्रतिष्ठा और पाठ्य पुस्तकों तथा समाचार पत्रों के आविर्भाव के कारण कवि साधारण जनता के सम्मुख आ चुका था। यह साधारण जनता लौकिक उत्सुकता, सुधार-संबंधी उत्तेजना और नवीन भावों से भरी थी, न भक्ति करती थी, और न विलास में लिप्त हो सकती थी।

नई कविता का प्रारम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से होता है जिनका जन्म शताब्दी के ठीक मध्य वर्ष (१८५०) में हुआ। वे मूलतः प्राचीन परिपाटी के पोषक वैष्णव भक्त-कवि ही थे, परन्तु उनमें युग की नवीन प्रवृत्तियाँ भी काम कर रही थीं। उनका महत्व इसी में है कि उन्होंने रूढ़ियों के बन्धन शिथिल किये और उनसे उनका व्यक्तित्व दब नहीं गया। उन्हें नवीन काव्य का पिता कहा जा सकता है। प्राचीन रूढ़ि-शिष्टाचार-परिपाटी-प्रिय समाज और वातावरण में रहते हुए नये भावों को ग्रहण करना, उन्हें छन्द-बद्ध करना और एक नई ही परिपाटी को जन्म देना कम महत्व का काम

नहीं है। भारतेन्दु की नई कविता-शैली का प्रारम्भ १८६१ में होता जब उन्होंने "स्वर्गवासी श्री अलबर्ट वर्णन अन्तर्लापिका" और अन्य दूसरी इसी प्रकार की कविताएँ लिखीं। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि इस प्रकार की कविताएँ राष्ट्रीय अथवा जातीय महत्व नहीं रखतीं, परन्तु यह विचार भ्रमात्मक है। उस समय अंग्रेज़-प्रेम ही राष्ट्रीयता का चिन्ह बन रहा था। अभी शासकों और शासितों के बीच में वह खाई उत्पन्न नहीं हुई थी जो शताब्दी के अन्त होते-होते हो गई और जिसने सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय कविता को जन्म दिया। राष्ट्रीय काव्य के विकास का अध्ययन करते हुए हमें अंग्रेज़ी अधिकारियों के प्रति सम्मान-सूचक, देश-दुर्दशा वर्णन प्रधान और अतीत गौरव-गानपूर्ण कविताओं तक ही सीमित रहना पड़ता है। हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि उस समय का कवि मध्यवर्ग का प्रतिनिधित्व करता था जिसे अंग्रेजी राज्य से स्पष्ट ही लाभ हो रहा था। अतः हम अंग्रेज़-द्वेषी कविताएँ नहीं पाते।

यही नहीं, सन् १८५७ के सशस्त्र राष्ट्रीय उत्थान जैसे विषय पर हिन्दी के उन्नीसवीं शताब्दी के किसी भी कवि ने एक शब्द भी अच्छा नहीं कहा। अधिकांश कवि इस विषय पर मौन रहे। जिन्होंने कुछ कहा भी, उन्होंने भी अधिकारियों के स्वर में उस महान यज्ञ की निन्दा की। परन्तु, जो हो, उन्नीसवीं शताब्दी का कवि भी अपने समय का उतना ही प्रतिनिधित्व कर रहा था, जितना कोई भी और कवि। लोकगीतों में भले ही जनता राष्ट्रीय सशस्त्र विद्रोह और उसके नेताओं का सम्मानसूचक उल्लेख करे, हिन्दी काव्य में यह बात बीसवीं शताब्दी के १०, १५ वर्ष बीत जाने तक नहीं पाई जाती।

राष्ट्रीय कह सकी जाने वाली कविता में हम कई मनोवृत्तियाँ पाते हैं। उसमें सरकार से अपील की जाती है कि वह जनसाधारण की कठिनाइयों और दुःखों को दूर करे। स्वयम् जनसाधारण की दुर्बलताओं और बुरे आचार-विचारों को दूर करने की प्रेरणा भी कवि में होती है। सरकार के प्रति राज-भक्ति का प्रकाशन किया जाता है और सामाजिक सुधार आदि के लिए उसकी सहायता पाने की चेष्टा की जाती है। पिछले गौरव का गान और वर्तमान अवस्था पर दुःख प्रगट करना भी आवश्यक समझा जाता है। इस समय के कवियों के प्रारम्भिक काव्य में राजसत्ता एवं जनता के प्रति यही दृष्टिकोण है। ये कवि हैं भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, पंडित श्रीधर पाठक, अयोध्यासिंह उपाध्याय बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' और

राधाकृष्णदास । जुबली जैसे अवसर पर ये कवि राजभक्ति-भाव के प्रदर्शन को नहीं भूलते ।

परन्तु धीरे-धीरे यथार्थवादी दृष्टिकोण के विकसित होने के साथ-साथ राजभक्ति कम होने लगी, कटुता की मात्रा बढ़ी, ब्रिटिश शोषण नीति समझ में आने लगी और कवियों ने उसकी निन्दा की । सामयिक राजनैतिक परिस्थिति में कोई परिवर्तन न होते देख कवियों ने प्राचीन हिन्दू राज्य का आदर्श सामने रखा । उन्होंने भावपूर्ण ढंग पर पृथ्वीराज और राणा प्रताप आदि देशनायकों के गान गाये । सामयिक दशा के वर्णन में कवि ने कटुवचन और व्यंग का आश्रय लिया । ब्रिटिश सत्ता उसे अखरने लगी । वास्तव में उस समय भूचाल और काल के कारण किसानों की ऐसी दुर्दशा हो गई थी जिसका भारतीय इतिहास में जोड़ नहीं था और यह स्पष्ट था कि ब्रिटिश राज्य की शोषण नीति ने इस परिस्थिति को और भी गम्भीर बना दिया था । इसी कारण लोकगीतों और कविताओं का स्वर अंग्रेज़ शासक के प्रति कटुता से भर गया था । परन्तु फिर भी कविता में राजभक्ति का स्वर बहुत से कवियों द्वारा शताब्दी के अन्त तक बना रहा । वैसे भी शासन के प्रति कटुता हो जाने पर भी अंग्रेज़ों के प्रति सम्मान का भाव बना था क्योंकि वही वास्तव में उस काल में राष्ट्रीयता के जन्मदाता थे । इसके अतिरिक्त रेल, तार आदि सुविधायें भी अंग्रेज़ी शासन द्वारा प्राप्त हुई थीं और उस समय का कवि उनके कारण सत्ता को एकदम अश्रद्धा से नहीं देख पाता था । वास्तव में वह ऐसी सुविधाओं के कारण राजसत्ता को साधुवाद देता हुआ नहीं थकता था । वह यह नहीं समझा था कि इन सुविधाओं के मूल में भी शोषण की नीति काम कर रही है ।

एक बात और ध्यान देने की है । उस समय हिन्दू कवि मुसलमानों के शासन-काल को एकदम विदेशी समझकर सीधे जयचन्द-पृथ्वीराज तक जाते थे । वास्तव में उनमें राष्ट्रीयता का वह भाव विकसित नहीं हुआ था जिसके कारण वे मुसलमानों को भारतीय जातीयता का अविभाजित अंग समझते । यह युग अलग-अलग हिन्दू जातीयता और मुसलमान जातीयता के उत्थान का था ।

भक्ति का आन्दोलन समाप्त हो गया था, परन्तु अवशेष रूप में अवतारवाद पर आस्था और कर्मफल पर विश्वास अब भी बने थे, अतः कवियों ने

भगवान से अवतार लेने की अनेक स्तुतियाँ कीं। बस वैष्णवधर्मवाद यहीं समाप्त हो जाता था।

नवीन सुधार-विषयों (अशिक्षा, मद्य-पान, दहेज, छूत-कर्म, बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, सती-प्रथा, बाल-हत्या, जाति-पाति आदि) पर लिखी गई कविताओं के साथ—जिनके नेता भारतेन्दु और उनके अनुकरण करनेवाले भारतेन्दु मंडली के कवि एवं उनके भावों से पोषित आर्यसमाजी कवि थे। ऐसी कविताओं की कमी भी नहीं है जो प्रतिक्रियावादियों की लिखी हैं। इन कविताओं में नये सुधारों को शंका की दृष्टि से देखा गया है। कुछ कवि ऐसे भी हैं जिन्होंने सनातन धर्म का पक्ष लेते हुए नये सुधारों को अधिक-से-अधिक अपनाने की चेष्टा की है परन्तु अधिकांश प्रतिक्रियावादियों के लिए नई सभ्यता और उसके पोषक व्यंग का विषय बने रहे।

परन्तु यह न समझना चाहिये कि इस सारे समय कविता की पुरानी धारा का एकदम लोप हो गया था। सच तो यह है कि वीरकाव्य, भक्तिकाव्य और रीतिकाव्य की परंपराएँ चली आती थीं और शताब्दी के अंत तक उनका ही प्राधान्य रहा। इन कविताओं की भाषा व्रजभाषा थी और इनमें प्राचीन काव्यरूढ़ियों का ही पालन था। वास्तव में पुरानी काव्य-धाराओं का अत्यंत क्षिप्र गति से ह्रास हो रहा था। वीरकाव्य का कोई भी सुन्दर कवि इस समय नहीं मिलेगा। मुक्तक-काव्य के रूप में कुछ प्रशंसात्मक वीरकाव्य राज-दरबारों में अवश्य बना है परन्तु उसमें चाटुकारिता के सिवा कुछ भी नहीं है। आल्हाशैली में कुछ लोक-काव्य वीर भावना को लेकर अवश्य प्रस्फुटित हुआ, विशेषकर ग़दर के समय, परन्तु उसमें साहित्यिकता की मात्रा बहुत ही कम होने के कारण उसका महत्व केवल साहित्यिक होगा। राजनीतिक व्यवस्था बदल चुकी थी। युद्ध-व्यवसायी वर्ग की प्रभुता का अंत हो गया था। अतः वीरकाव्य का अभाव स्वाभाविक बात थी।

भक्तिकाव्य के अंतर्गत कुछ महत्वपूर्ण रचनाएँ उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अवश्य पाई जाती हैं। परन्तु वे प्राचीन भक्तिकाव्य का अनुकरण मात्र थीं। भक्ति-आन्दोलन सत्रहवीं शताब्दी में ही पर्याप्त शिथिल हो गया था, अतः इस काव्य के पीछे जो प्रेरणा थी, वही शिथिल पड़ गई थी। परन्तु ईसाइयों के विरोध में एवं नई परिस्थिति से प्रभावित होकर कितने ही नए धार्मिक सम्प्रदायों ने जन्म लिया। इस काल के धार्मिक काव्य को हम छः भागों में बाँट सकते हैं—

(१) दास्य और विनय-भावना से भरी हुई स्तोत्रशैली, और स्तवनशैली में लिखी कविताएँ जिनमें विभिन्न देवी-देवताओं, लीलाक्षेत्रों एवं तीर्थस्थानों तथा पवित्र नदियों का भक्तिपूर्ण वर्णन है।

(२) मन्दिरों के कर्मकांड से प्रभावित कविताएँ। इनकी रूप अधिकतः सांप्रदायिक और असाहित्यिक है। पुष्टिमार्ग के कवियों ने नित्य और नैमित्तिक कर्मों के संबंध में एक बहुत बड़ा साहित्य ही खड़ा कर दिया है। यह कविताएँ इतने विशद वर्णन उपस्थित करती हैं कि मन ऊब आता है।

(३) खण्ड-काव्यों के रूप में लीलावर्णन-विषयक अनेक काव्य रचे गये। अब तक कृष्ण-काव्य में ही जलविहार, बनविहार, दानलीला, मानलीला, हिंडोललीला आदि को स्थान मिलता था। अब रामकाव्य में भी इन्हें स्थान मिलने लगा। अयोध्या के कुछ महंतों ने कृष्णभक्ति की लोकप्रियता से प्रभावित होकर गुह्य और सखी सम्प्रदायों की नींव डाली। इन्होंने रामकाव्य में शृङ्गार का समावेश कराया। अनेक नई लीलाओं की भी कल्पना की गई, जैसे धोबिनलीला, चुड़हारिनलीला, मनहारिनलीला, परन्तु इनसे उस समय के कवियों की कुरुचि पर ही प्रकाश पड़ता है।

(४) पौराणिक और ऐतिहासिक धार्मिक चरित्रों के संबंध में मुक्तक और खंडकाव्य लिखे गये। गौरांग, जयदेव, शंकर, दयानन्द और मोरध्वज आदि काव्य के विषय बने।

(५) कितने ही वर्णनात्मक प्रबंध-काव्य लिखे गये। इन प्रबंधों का विषय रामकृष्ण और रामायण, महाभारत एवं पुराणों की कथाएँ थीं। प्रबंधकारों में महाराज रघुनाथसिंह और बाबा रघुनाथदास रामसनेही अधिक महत्वपूर्ण हैं। महाराज रघुनाथसिंह के प्रसिद्ध ग्रन्थ रुक्मिणी मंगल, रामस्वयंवर, रघुराजविलास, भक्तिविलास और भ्रमरगीत हैं। बाबा रघुनाथ-दास रामसनेही का वृहद् ग्रन्थ विश्रामसागर है जिसमें भागवत जैसे ग्रन्थों से होड़ करने की चेष्टा है। इसके तीन खंडों में से पहले में पौराणिक कथाओं, भक्तों की जीवनियों तथा भक्ति संबंधी शास्त्रीय विवेचना; दूसरे में कृष्ण-चरित और तीसरे में रामचरित्र को विषय बनाया गया। भाषा अवधी है।

(६) प्राचीन सन्तकाव्य की परंपरा को भी नवीन प्रवृत्तियों ने प्रोत्साहन दिया था, विशेषकर आर्यसमाज के मूर्तिपूजा-विरोध ने। १८वीं शताब्दी के अंत में जगजीवनदास का "सतनामी पंथ", उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में हाथरस वाले तुलसीदास का कुडापंथ और इसके कुछ बाद स्थापित शिव-

दयाल साहब का राधास्वामी सत्संग पंथ प्राचीन संतपंथों की परम्परा में ही आते हैं। इन सब पंथों के प्रवर्तकों और उनके पीछे उनके गद्दीधारियों का बृहद् काव्य हमारे सामने है। विषय, छन्द और भावना की दृष्टि से यह सन्तकाव्य के अन्तर्गत ही आयगा यद्यपि उस पर भक्ति-आन्दोलनों का प्रभाव भी लक्षित है।

इन रचनाओं के अतिरिक्त अनुवाद-रूप में बहुत से ग्रन्थ हमारे सामने आये। उनका विषय विशेषतः भक्ति और शृंगार था। कुछ पुराणों के भी भाषानुवाद उपस्थित हुए। कवियों में वाल्मीकि, कालिदास, तुलसी और बिहारी की ओर ध्यान गया और इनके ग्रन्थों के या तो अनुवाद हुए या उनपर कुण्डलियाँ बाँधी गईं। लाला सीताराम ने मेघदूत, कुमारसंभव और रघुवंश का अनुवाद किया। तोताराम वर्मा ने राम-रामायण लिखी। ठाकुर जगमोहनसिंह ने ऋतुसंहार का अनुवाद किया। भारतेन्दु और पं० अम्बिकादत्त व्यास ने बिहारी पर कुंडलियाँ बाँधीं। सुधाकर द्विवेदी और हरिऔध ने क्रमशः तुलसी और कबीर के दोहों पर कुण्डलियाँ लिखीं।

परन्तु मुख्य प्राचीन काव्यधारा का रूप शृङ्गारिक था। वह मुख्यतः कवित्त और सवैया छंद में ही प्रकाशित हुआ है। इसके दो रूप उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में चले। कुछ कवि प्राचीन परिपाटी का ही अक्षरशः प्रयोग करते रहे। इनमें प्रमुख हैं द्विजदेव (अयोध्यानरेश महाराज मानसिंह), सरदारकवि, गोविन्दकवि गिल्लभाई, रसिकबिहारी रसिकेश (महंत जानकीप्रसाद), ठाकुर जगमोहनसिंह, शाह कुन्दनलाल ('ललितकिशोरी'), चंद्रशेखर बाजपेयी। परन्तु गौण कवियों की संख्या शतक तक पहुँच जाती है। इन प्रमुख और गौण कवियों द्वारा उपस्थित साहित्य अधिकांश में प्राचीन परंपरा का परिपालन मात्र है। कवियों ने मधुकरवृत्ति से प्राचीन शृंगार साहित्य से लाभ उठाया है, परन्तु मौलिकता एवं प्रतिभा का सर्वदा ह्रास रहा है। फलतः स्थायी साहित्य की दृष्टि से इस विशाल साहित्य का कुछ मूल्य नहीं है। मौलिकता एवं प्रतिभा के अभाव के कारण इन कवियों ने अपना काव्य प्राचीन कवियों के आधार पर खड़ा करना चाहा। इसीलिए कितने ही कवियों ने पूर्वगत शृंगार-साहित्य को इकट्ठा कर संग्रह-ग्रन्थ उपस्थित किये। इन संग्रह-ग्रन्थों में नायिका-भेद, रस-निरूपण और षटऋतु-वर्णन की अच्छी सामग्री चुनी हुई है। कवियों ने अपनी मौलिक रचनाओं में इन संग्रह-ग्रन्थों की सामग्री से कितना लाभ उठाया, यह खोज का विषय है। अधिकाश नवीन

कवि स्त्री-उपमानों और कवि-रूढ़ियों के संबंध में पूर्णतः इन्हीं संग्रह-ग्रन्थों के ऋणी हैं। ये कवि अलङ्कारों के लिए ही रचना करते जान पड़ते हैं। वर्ण्य विषय में मौलिकता रहे, यह उनको इष्ट नहीं है। सारा काव्य कृत्रिमता और भद्दे अनुकरण से भरा पड़ा है।

परन्तु इस शृंगार काव्य का दूसरा रूप हरिश्चंद्र, प्रेमघन, हरिऔध प्रतापनारायण मिश्र आदि उन कवियों ने उपस्थित किया जिन्होंने साहित्य की नवीन प्रगति में योग दिया था और कविता में नये विषयों और नई शैलियों का समावेश किया था। इन कवियों में मौलिकता थी, प्रतिभा थी। प्रचीनता के ये अन्ध पक्षपाती नहीं थे। अतः इन्होंने पुरानी शराब को नई बोतलों में उपस्थित किया। इनकी कविताएँ अत्यंत सरस, हृदयग्राहिणी एवं मार्मिक हैं। भारतेन्दु इन सब कवियों में श्रेष्ठ हैं। नया रूप उन्हीं के द्वारा प्रतिष्ठित हुआ। यह तीन प्रकार से :

(१) वह विषय पर अधिक बल देते थे सहज, सरल और प्राकृतिक भावों को उपस्थित करना उनका ध्येय रहता। उन्होंने विलासिता के ऊपर शुद्ध प्रेम को प्रतिष्ठित किया। व्यर्थ का ऊहापोह उनकी कविता में नहीं है।

(२) उन्होंने अलंकार-प्रधान शैली का त्याग किया। उनकी दृष्टि प्रसादगुण और रसपुष्टि की ओर थी।

(३) उन्होंने साहित्यिक व्रज के स्थान पर शुद्ध ब्रजभाषा का प्रयोग किया। प्रादेशिक प्रयोगों और शब्दों के तोड़-मोड़ से उन्हें घृणा थी। बोलचाल की भाषा का प्रयोग कर उन्होंने शृंगार काव्य में नई शक्ति लाने की चेष्टा की। मधुर और प्रसादगुण-संचित भाषा का प्रयोग उनकी विशेषता थी।

अनुवाद और उनके द्वारा स्थापित नवीन प्रवृत्तियाँ

अंग्रेज़ी कविताओं के अनेक अनुवाद हुए और उन्होंने अनुवादकों की कविता और उसके द्वारा सामान्य हिन्दी कविता पर प्रभाव डाला। इन अनुवादकों में अधिकांश १८वीं शताब्दी के थे। वास्तव में समाज को दशा उसी समय से मिलती थी। वही विचार-धारा चल रही थी। अतः वही कवि पसंद आए। इन अनुवादकों में सबसे महत्वपूर्ण श्रीधर पाठक हैं। इन्होंने गोल्डस्मिथ की दो कविताओं (एकान्तवासी योग १८८६, ऊजड़ ग्राम १८८६) का अनुवाद किया। उन्होंने अन्य कवियों के भी अनुवाद किये। ये अनुवाद इसलि महत्वपूर्ण हैं किए इन्होंने काव्यगत वर्णन

और प्रकृति-चित्रण को अन्यतम रूप से प्रभावित किया है। अन्य कवि जिनका अनुवाद हुआ ग्रे और पोप हैं। ग्रे की Elegy का अनुवाद सन् १८९७ में हुआ, पोप का 'समालोचनादर्श' रत्नाकर ने १८९७ में अनुवादित किया। उर्दू काव्य में 'मरसिया' का प्रचलन पहले से था। मृत्युशोक की कविताएँ लिखने का प्रचार कदाचित् ग्रे के कारण ही हुआ यद्यपि इन अनुवादों ने विशेषकर गोल्डस्मिथ के अनुवादों ने प्रकृति-चित्रण पर प्रभाव डाला। अब तक प्रकृति विप्रलंभ के उद्दीपन के लिए या अलंकार के लिए या बीथिका के लिए काम में आती थी। वह स्वतंत्र व्यक्तित्व नहीं रखती थी। स्वयम् आलम्बन नहीं थी। अब दृष्टिकोण बदल गया। यद्यपि असंश्लिष्ट चित्र उपस्थित करने और प्राकृतिक वस्तुओं के परिगणन की शैली अब भी चलती रही परन्तु कवियों में प्रकृति को अपनी आँखों से देखना आरंभ किया, परम्परा की आँखों से नहीं। प्रकृति का साधारण वर्णन हमें मिलने लगा है, भावपूर्ण नहीं। कवि ने अपनी मनोवृत्तियों को प्रकृति-दर्शन में संयुक्त करने की चेष्टा नहीं की है। परन्तु फिर भी वह आगे बढ़ गया है। उसने अधिक से अधिक वर्णन करने की चेष्टा की है और यथार्थ को दृष्टि में रखा है। बालमुकुन्द गुप्त, प्रतापनारायण मिश्र, हरिऔध और द्विवेदी सभी के चित्रण में यही बात मिलती है। इनमें मुख्य श्रीधर पाठक हैं। उनकी अनेक मौलिक कविताओं ने इस प्रवृत्ति को स्थायी करने में महत्त्वपूर्ण कार्य किया—वसंत १८८३, वसंत राज्य १८८१, हिमालय १८८०, मेघागमन १८८५, सरस वसंत १८८५, हेमन्त १८८६, घनाष्टक १८८६, गुनवन्त हेमन्त १९००, नव बसंत १९००, शरद् समागम स्वागत १८९६, घन विजय १८८८।

इन कविताओं में कवि प्रकृति की स्थापना जनता के दुःखों-सुखों, आचार-विचारों और रीति-रिवाजों में करता है। यद्यपि वह कहीं भी अपने में भूल नहीं पाता, उसकी दृष्टि रहस्यात्मक या रोमांटिक नहीं है, क्लासिकल है। हाँ, उसने यथार्थ चित्रण को अपना आदर्श बनाया है।

ईसाई धर्म-प्रचार के लिए पद्य का प्रयोग बहुत कम हुआ। १८८० में प्रेम-दोहावली और १८८१ में मसीही-गीति की किताब प्रकाशित हुई। अन्य ईसाई पद्य ग्रन्थ हैं—धर्म-सार, गीत-संग्रह; भजन-संग्रह, मुक्ति-मुक्तावली और सत्य-शतक।

ईसाई काव्य

इनकी भाषा हिन्दुस्तानी है या खड़ी बोली हिन्दी परन्तु उसमें पूर्वी और खड़ी बोली हिन्दी का मिश्रण और प्रचिलित अरबी-फ़ारसी शब्दों को भी स्थान

मिला है। हिन्दी-भक्ति-काव्य की तरह यह साहित्य भी पदों और राग-रागनियों में है। काव्य की दृष्टि से यह किसी भी प्रकार ऊँचा नहीं है। ईसाई पद्यसाहित्य सामयिक धार्मिक काव्य से प्रभावित है, विशेषकर संतकाव्य और रामकाव्य से। उसमें स्तोत्र शैली, ग़ज़ल, भजन आदि लोकगीतों के प्रचलित पदों का प्राधान्य है। दोहा, चौपाई, रोला आदि छंदों का भी प्रयोग किया गया है। इस सारे साहित्य का महत्व केवल ऐतिहासिक है। वह हमारे काव्य-साहित्य की स्थायी निधि नहीं हो सका है।

बीसवीं शताब्दी का हिंदी साहित्य

अ—गद्य

१९वीं शताब्दी के अन्त होते-होते गद्य में अनेक प्रकार की विभिन्नता आ चुकी थी। समाचार पत्रों, नाटक, उपन्यास और निबंध के रूप में उसका प्रचुर प्रयोग हो चुका था। लेखकों ने अदम्य उत्साह से हिन्दी भाषा की प्रतिष्ठा की थी और मध्यवर्ग की जनता उनकी ओर आकृष्ट भी हो चुकी थी।

पिछली शताब्दी में भाषा और व्याकरण की शुद्धता की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया गया था। वह समय खड़ी बोली गद्य के जन्म और प्रचार का था, इसलिए लेखकों का इस ओर आग्रह था भी नहीं। १९वीं शताब्दी के गद्य में हम प्रान्तीय प्रयोगों की ओर पक्षपात और व्याकरण की उपेक्षा की प्रवृत्तियाँ पाते हैं। बँगला उपन्यासों के अनुवाद के कारण इस प्रकार की उच्छृंखलता बढ़ी। बँगला से बहुत से तत्सम संस्कृत शब्द हिन्दी में आ गए और बँगला लेखकों के अनुकरण में तत्सम-प्रियता बढ़ी। यही नहीं, संस्कृत की कोमल कान्त पदावली की ओर भी लेखकों का ध्यान गया। परन्तु इतना होते हुए भी हिन्दी एकरूपता की ओर बढ़ रही थी, विशेषकर समाचार पत्रों के द्वारा, परन्तु उसकी चाल सुस्त थी। नई शताब्दी के आरम्भ में कई नई शक्तियों ने हिन्दी गद्य के क्षेत्र में प्रवेश किया—

१—१९०० में हिन्दी कचहरी की भाषा मान ली गई। इससे उसकी प्रतिष्ठा बढ़ी।

२—१८९३ में नागरी प्रचारिणी सभा और दो वर्ष बाद उसके मुखपत्र नागरी प्रचारिणी पत्रिका का जन्म हुआ। इस पत्रिका में पहली बार ठोस साहित्यिक और खोज-संबंधी लेखों में हिन्दी गद्य का प्रयोग हुआ।

३—१८९९ ई० में नागरी प्रचारिणी सभा की संरक्षता में सरस्वती पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ हुआ। १९०३ में इस पत्रिका का सम्पादन पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के हाथ में आया। थोड़े ही समय में पता लग गया कि यह एक क्रान्तिकारी घटना थी।

अगले १५ वर्षों में हिन्दी गद्य का केन्द्र सरस्वती रही। ऊपर हमने भाषा की अस्थिरता के तीन कारण बताए हैं। १—प्रान्तीयता का प्रयोग, २—बँगला वाक्य-गठन और बंगला शब्दों का प्रयोग जिससे गद्य में शिथिलता आ रही थी, ३—व्याकरण के नियमों की उपेक्षा। इनके अतिरिक्त कुछ नवीन कठिनाई भी उपस्थित हो गई थी। द्विवेदीजी ने हिन्दी गद्य के अनेक लेखक पैदा किये। उन्होंने अंग्रेजी पढ़े लोगों को हिन्दी लिखने की ओर लगाया। इससे भाषा के क्षेत्र में उच्छृंखलता और बढ़ी। ये लोग हिन्दी की प्रकृति को न पहचान कर अंग्रेज़ी शब्दों और मुहावरों का अक्षरशः अनुवाद करने लगे। लिंग-भेद की कठिनाई भी इन लोगों के सामने आई और इस विषय में इन्होंने अनेक भूलें कीं।

ऐसे समय में भाषा के नियंत्रण की नितान्त आवश्यकता थी। सौभाग्य से पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी जैसे आचार्य ने यह काम अपने हाथ में लिया। उन्होंने भाषा के रूप को निश्चित करने के लिए विभक्ति-प्रयोग का आन्दोलन चलाया, लिंग-भेद की भूलों को दूर करने की चेष्टा की और व्याकरण के नियमों का नए लेखकों से कठोरता से पालन कराया। उन्होंने हिन्दी के स्वतंत्र व्याकरण की ओर लेखकों का ध्यान आकृष्ट किया। बँगला और हिन्दी अनुवादों में शिथिलता का कारण यही था कि लेखक हिन्दी के व्याकरण की ओर ध्यान नहीं देते थे जैसे उसका अस्तित्व ही न हो।

यह सारा काम पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने उन लेखकों की भाषा को सुधार कर किया जो उनके आग्रह से अथवा उनकी पत्रिका की प्रसिद्ध द्वारा आकृष्ट होकर हिन्दी के क्षेत्र में आये थे। वह सुधार किए बिना कोई लेख नहीं छापते थे। प्रत्येक लेख पर वे स्वयम् परिश्रम करते और कभी-कभी उनके द्वारा संशोधित लेख में मूल लेखक का कोई भी वाक्य नहीं रहता था। जब यह लेख शुद्ध रूप में प्रकाशित होते तो लेखकों का ध्यान इनकी ओर जाता और वे इन्हें बड़े ध्यान से देखकर अपनी भाषा-शैली में सुधार करते। इसका फल यह हुआ कि भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति बढ़ी और उसमें गंभीर और सूक्ष्म भावों को प्रगट करना संभव हो गया। द्विवेदीजी ने स्वयम् अनेक ऐसे

विषयों पर लेखनी चलाई जिनमें उनसे पहले किसी प्रकार का साहित्य उपस्थित नहीं हुआ था। उन्होंने अन्य लेखकों को विषय की विभिन्नता की ओर बढ़ाया। महायुद्ध के समय तक हिन्दी गद्य द्विवेदी स्कूल द्वारा विभिन्न विषयों के लिए प्रयुक्त हो चुका था और विषय की विभिन्नता के साथ शैलियों में विभिन्नता भी आ गई थी। परन्तु इस विभिन्नता की रूप-रेखा अधिक स्पष्ट नहीं हुई। इसके कई कारण थे। एक कारण यह था कि लेखकों में वैयक्तिकता का अभाव था, दूसरे ज्ञान-विज्ञान की विवेचना की ओर दृष्टि अधिक थी, रचनात्मक साहित्य की ओर कम, तीसरे ललित निबंधों का अभाव था, चौथे द्विवेदीजी की विषय-प्रकाशन की शैली का इस समय के लगभग सभी लेखकों पर प्रभाव था। जो नये लेखक गद्य लिखना सीख रहे थे उनसे यह आशा करना उचित भी नहीं था कि वे साहित्यिक शैलियों का प्रयोग करेंगे और उनमें कला का प्रदर्शन होगा।

युद्ध के बाद प्रत्येक क्षेत्र में—क्या गद्य में, क्या पद्य में—वैयक्तिकता का विकास हुआ। इसके कारण शैलियों में विभिन्नता आई। गद्य के विकास में कई बातों ने सहायता दी :

१—राजनैतिक आंदोलनों ने वही काम किया जो एक समय आर्य-समाज सुधार ने किया था। उन्होंने जहाँ हिन्दी गद्य का प्रचार किया वहाँ उसे क्षिप्र, व्यङ्ग्यात्मक, वक्र, तीव्र और शक्त बनाया। गद्य में परुषता आई। एक दिशा में राजनैतिक आंदोलनों का प्रभाव बुरा भी पड़ा। लेखकों की दृष्टि कला की ओर नहीं गई। उन्होंने व्याख्यान-शैली को ग्रहण किया जिससे स्वाभाविक गद्य शैली के विकास में बाधा पड़ी। परन्तु सब कुछ ले-देकर लाभ ही अधिक हुआ। हिन्दी गद्य संकुचित साहित्य-क्षेत्र से निकल कर व्यवहार के विस्तृत क्षेत्र की ओर बढ़ा।

२—१९१९ के राजनैतिक सुधारों ने साधारण जनता को राजनैतिक क्षेत्र में ला खड़ा किया। फल यह हुआ कि राजनीति की बागडोर मध्यवर्ग के हाथ में होने पर भी उसे गाँव की जनता की ओर झुकना पड़ा। शासन-सभाओं के चुनाव के अवसर पर जनता का मुँह ही जोहना पड़ता था। इससे भावप्रकाशन की शैली की ओर ध्यान गया। साहित्यिक भाषा में जनता की भाषा के अनेक शब्द और प्रयोग आ गये। हिन्दुस्तानी भाषा का आन्दोलन नये रूप से आगे बढ़ा। पहले उसका समर्थक शासक वर्ग था; अब राजनीतिज्ञ दल जो जनता तक पहुँचना चाहता था और जनभाषा को भ्रमवश हिंदुस्तानी

मानता था जबकि उसे सरल हिन्दी अथवा बोलियों से मिश्रित हिन्दी मानना चाहिये था।

हिन्दी-उर्दू की समस्या भी प्रतिदिन उग्ररूप धारण करने लगी। परिस्थिति कुछ इस प्रकार थी। मुसलमानों और हिन्दुओं के कुछ विशेष वर्गों (कायस्थों, काश्मीरी ब्राह्मणों और नौकरी पेशा लोगों विशेषतः कचहरी से सम्बन्ध रखने वालों) की साहित्यिक भाषा उर्दू थी। इनको छोड़कर हिन्दी-प्रदेश की सारी जनता की साहित्यिक भाषा हिन्दी खड़ी बोली थी। नगरों के बोलचाल की भाषा खड़ी बोली थी, परन्तु पश्चिमी प्रदेश (ब्रज, बरेली, आगरा) को छोड़कर अन्य सब प्रदेशों में वहाँ की बोलियाँ ही बोलचाल के लिए काम में आती थीं। नगरों के बाहर के मुसलमान भी अपने-अपने प्रदेश की बोली बोलते थे। केवल नगरों के मुसलमानों और कचहरी-दरबार से सम्बन्ध रखने वाले हिन्दू-सभ्यसमाज में उर्दू बोलचाल की भाषा थी। इसी भाषा को भ्रमवश सारे प्रान्त की भाषा कहा गया और हिन्दुस्तानी नाम दिया गया। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से यह भाषा खड़ी बोली ही थी। जिसमें अरबी-फ़ारसी शब्दों का बहुत बड़ी संख्या में प्रयोग होता था, सरल हिन्दी शब्दों को गँवारू समझकर उपेक्षा भाव से देखा जाता था और जिन सरल संस्कृत या हिन्दी शब्दों का प्रयोग भी किया जाता उन्हें भी एक विचित्र प्रकार का तद्भव रूप दे दिया जाता था। राजनीतिज्ञों ने इस भाषा को अपनाकर हिन्दी के विकास के सामने एक कठिनाई उपस्थित कर दी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि महायुद्ध के बाद हिन्दी के क्षेत्र में तीन भाषाओं का प्रयोग हो रहा था—

(क) हिन्दी (हिन्दुओं की साहित्यिक और बोलचाल की भाषा)

(ख) उर्दू (मुसलमानों की साहित्यिक भाषा और बोलचाल की भाषा)

(ग) हिन्दुस्तानी। हिन्दू राजनीतिज्ञ इसके समर्थक बने हुए थे और इसे हिन्दी का ही साम्यवाची मानते थे, यद्यपि व्यवहार में अरबी-फ़ारसी शब्दों का इतना प्रयोग करते थे कि जहाँ तक हिन्दी प्रदेश का सम्बन्ध है, उनकी भाषा साहित्यिक उर्दू का ही सरल रूप होती थी। हमें ध्यान रखना चाहिये कि कुछ राजनीतिज्ञों ने हिन्दुस्तानी का विरोध किया और कितने ही

राजनैतिक नेता सरल हिन्दी को सफलता-पूर्वक अपने भावों के प्रकाशन का माध्यम बनाते रहे।

३—राष्ट्रभाषा का प्रश्न उठ खड़ा हुआ। राजनैतिक आन्दोलनों के द्वारा राष्ट्रीयता की भावना ने प्रधानता प्राप्त कर ली थी, इसलिए नेताओं का ध्यान एक राष्ट्रीय भाषा के आविष्कार की ओर गया। सार्वजनिक सभाओं में किस भाषा का प्रयोग किया जाय और अखिल भारतीय आवश्यकताओं की पूर्ति कौन भाषा कर सकती है, इस विषय में तीन मत सामने आये—(१) बंगला के समर्थक कहते थे कि बंगला ही भारतवर्ष की राष्ट्रीय भाषा हो सकती है। केवल बहुत थोड़े बंगाली राजनैतिक नेता हिन्दी को राष्ट्रीय भाषा मानने के लिये तैयार थे। (२) एक वर्ग ऐसा था जो अंग्रेज़ी को राष्ट्रभाषा बनाना चाहता था। दक्षिण में इस वर्ग को बहुत से समर्थक मिल गये। (३) अन्य लोग हिन्दुस्तानी को राष्ट्रभाषा कहते थे। इस हिन्दुस्तानी से तात्पर्य भिन्न-भिन्न थे। पश्चिम भारत और मुसलमान जनता इसका अर्थ उर्दू लेती थी, दक्षिण भारत के लोग हिन्दी, शासक वर्ग और राजनैतिक नेता प्रच्छन्न रूप से इसे उर्दू ही मानते थे, यद्यपि ऐसा स्पष्टतः करने का साहस नहीं करते थे, और स्वयम् हिन्दी प्रदेश के हिन्दी-प्रेमी इसे सन्देह की दृष्टि से देखते थे।

इस युग में नेताओं की दृष्टि अखिल भारतीयता की ओर थी। भाषा हिन्दुस्तानी हो गई तो लिपि क्या हो?—नागरी, फ़ारसी, रोमन या प्रान्तीय लिपि में से कौन राष्ट्रलिपि हो? इस विषय में कोई मतभेद न था कि हिन्दी अधिक वैज्ञानिक है और उत्तर-दक्षिण की कितनी ही लिपियों में और उसमें साम्य है। अतः लिपि नागरी ही होना चाहिये। परन्तु उर्दू वालों के विरोध के कारण (जिन्हें राजनैतिक स्वार्थों के कारण कांग्रेस अलग नहीं कर सकती थी) नागरी लिपि को छोड़कर कर रोमन लिपि का श्रेय देने की ओर कितने ही नेताओं का झुकाव था, परन्तु अधिकांश जनता के लिए इस लिपि का भी सीखना असम्भव था, अतः राष्ट्रलिपि "नागरी या फ़ारसी" रही।

४—भाषा-शैली की दृष्टि से परिस्थिति विचित्र थी। (क) बँगला के भावात्मक गद्य के प्रभाव के कारण अत्यंत, स्वच्छन्द और भावात्मक (प्रलापात्मक?) गद्य-शैली का चलन हो गया था। (ख) छायावाद काव्य के प्रभाव के कारण कुछ नवयुवक काव्यात्मकता और आलंकारिकता को अपनी शैली में स्थान दे रहे थे। (ग) राजनैतिक गद्य के कई रूप चल रहे थे जिनमें फ़ारसी उर्दू शब्दों को लिये हुये प्रभावशील, उत्तेजनापूर्ण गद्य-शैली और

फ़ारसी शब्द-प्रधान, प्रवाहशील गद्य-शैली मुख्य हैं। (घ) साहित्यकारों में जहाँ एक ओर प्रेमचन्द ने हिन्दुस्तानी गद्य का प्रयोग किया और बाबू देवकीनन्दन खत्री की गद्य-शैली की परम्परा को जारी रखा, वहाँ निराला, प्रसाद आदि संस्कृत शब्दावली की ओर अधिक झुके। यहाँ तक कि प्रसाद की कहानियों में मुसलमान पात्र भी संस्कृत-प्रधान हिन्दी बोलते हैं। परन्तु अधिकांश साहित्यकारों ने संतुलन को बनाये रखा यद्यपि गद्य के प्रौढ़ होने, कला के विकास और गंभीर विषयों (जैसे राजनैतिक और साहित्यिक सिद्धान्त) पर लिखने के कारण तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक हुआ। गंभीर साहित्यिकों में जहाँ बाबू श्यामसुन्दरदास ने भाषा और साहित्य की शैली जनता के सामने रखी, वहाँ आचार्य शुक्लजी ने अपने निबंधों की।

इस प्रकार हम देखते हैं कि महायुद्ध के १०-१५ वर्ष के बाद तक गद्य में शिथिल शैली से लेकर सुष्ठ शैली तक अनेक शैलियों का प्रयोग हुआ और अरबी-फ़ारसी शब्दों के प्रयोग में जहाँ एक ओर अरबी-फ़ारसी प्रधान शैली चलती थी, वहाँ दूसरी ओर ऐसी शैली भी चलती थी जिसमें अरबी-फ़ारसी शब्दों का नितान्त अभाव था। बीच की शैलियों में विदेशी शब्द अनेक अनुपात में मिलते थे।

परन्तु इस काल के उत्तर में (१९३३—१९४० तक) शैली की दृष्टि से अनेक मनोरंजक नवीन प्रयोग हुए। इनका आरम्भ जैनेन्द्र ने किया। एक प्रकार की मनोवैज्ञानिक, सतर्क, प्रयासपूर्ण और अहम्-प्रधान शैली का प्रयोग उन्होंने किया। उधर निरालाजी ने गद्य-शैली को काव्य-तत्वों से अलंकृत किया और वाक्य-योजना में कलात्मक प्रयत्न किये। उनकी दृष्टि कला और प्रकाशन पर भाव प्रकाशन से अधिक थी। शैली के इन नवीन प्रयोगों में नवीनतम अज्ञेय और पहाड़ी की शैलियाँ हैं। वास्तव में इन शैलियों के मूल में कृत्रिमता और चमत्कार-प्रियता ही नहीं है, कथाकारों का जो दृष्टिकोण १९३३ के साथ बदला है उसी ने इन्हें जन्म दिया है। वे अपने स्थान पर एक बड़ी आवश्यकता की पूर्ति करती हैं।

पिछले कुछ पृष्ठों में हमने बीसवीं शताब्दी के गद्य के विकास की रूप-रेखा खेंची है। शताब्दी के आरंभ में गद्य के क्षेत्र में कोई एक निश्चित शैली तो रह ही नहीं गई थी, यद्यपि कुछ उन्नीसवीं शताब्दी की शैलियाँ भ्रष्ट-रूप में चल रही थी। यही नहीं, महावीरप्रसाद द्विवेदी और नागरी प्रचारिणी

पत्रिका के द्वारा नए विषयों का प्रवेश हिन्दी में हो रहा था—इसके लिए शैली की तो बात ही अलग रही, पारिभाषिक शब्द ही नहीं थे। परन्तु बात यहीं तक समाप्त नहीं हो गई थी। वास्तव में, उन्नत विचारों को थोड़े शब्दों में कह देने योग्य शब्दकोष हमारे पास था ही नहीं। भाषा में व्याकरण और विभक्ति आदि के जो अनिश्चित प्रयोग थे, विप्रांतीय और प्रादेशीय शब्दों की जो भरमार थी, उसका मूलोच्छेदन और भाषा-संस्कार का बीड़ा द्विवेदीजी को उठाना पड़ा। परन्तु पहले दो अब्दों के घोर प्रयत्न के बाद ही ठीक-ठीक व्याकरण-सम्मत शुद्ध हिन्दी लिखी जा सकी। द्विवेदीजी की निश्चित की हुई भाषा मासिक पत्रों और समाचार पत्रों की भाषा हो गई और इनके द्वारा वह एकरूपता को प्राप्त हुई। द्विवेदीजी ने हिंदी की भाषा को व्याकरण-सम्मत बनाकर और उसमें विप्रांतीय और विदेशीय मुहावरों को हटाकर संतुलन-कार्य किया। परन्तु एक दूसरे प्रकार का काम सम्मिलित रूप से बहुत कुछ स्वतः हो गया। वह था भाषाकोष का विस्तार। अनजाने ही द्विवेदीजी ने इसमें योग दिया। उनकी भाषा, में कुछ उनके संस्कृत ज्ञान के कारण, कुछ मराठी भाषा द्वारा प्राप्त संस्कृत शब्दों का प्राचुर्य रहा। भाषा-कोष की वृद्धि का कारण हुए—

(१) नये संस्कृत शब्द—मराठी और बंगाली भाषाओं में संस्कृत शब्दों और संस्कृत शब्द-प्रधान पदावली अथवा सामाजिक भाषा-शैली का प्रयोग बराबर रहा है। अनुवादों के द्वारा कितने ही संस्कृत शब्द इन स्रोतों से हिंदी में आ गए हैं। परन्तु नये हिन्दी-शब्दों को सीधे संस्कृत से अनेक कारणों से लेना पड़ा। संस्कृत हिन्दी की माता है अतः उसकी ओर ध्यान जाना आवश्यक था, विशेषतः जहाँ नए पारिभाषिक शब्दों की बात थी। दूसरे अन्य प्रांतीय भाषाओं के अनुवाद के साथ-साथ संस्कृत के अनेक ग्रंथ भी हिन्दी में अनुवादित हुए और अनेक संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर कहानियाँ लिखी गईं और उनकी आलोचनाएँ हुईं। ये आलोचनाएँ संस्कृत साहित्य के रस, अलंकार, ध्वनि आदि साहित्यिक सिद्धान्तों को लेकर चलती थीं, अतः इनके द्वारा संस्कृत के पारिभाषिक और अभिव्यंजक शब्दों का आना अस्वाभाविक नहीं था। हमारा सारा पिछला साहित्य पद्यमय था। अतः उसे इतने विशाल शब्दकोष की आवश्यकता नहीं थी, जितने इस नए साहित्य को जो बीसवीं सदी के आरम्भ से हिन्दी साहित्य में गद्यरूप में प्रवेश कर रहा था। इस शब्दकोष के लिए हमें अधिकतः संस्कृत का ही आश्रय

लेना पड़ा। प्रांतीय शब्दों, प्रादेशीय शब्दों और मुहावरों एवं सरल उर्दू शब्दों की सहज उपेक्षा हुई।

(२) अनेक नये शब्द, मुहावरे और कुछ लोकोक्तियाँ अंग्रेजी से सहज अनूदित होकर हिन्दी में आ गईं। महावीरप्रसाद द्विवेदी के आग्रह के साथ अंग्रेज़ी के विद्वानों और साधारण अंग्रेज़ी ज्ञान रखने वालों ने हिन्दी में लिखना आरम्भ किया और यद्यपि द्विवेदीजी ने भाषा-शैली की एकरूपता हाथ से न जाने दी, परन्तु अंग्रेज़ी शब्द और मुहावरे इन लेखकों के साथ हिन्दी में चलते सिक्के बन गये

(३) पद्मसिंह शर्मा, सुदर्शन, प्रेमचंद जैसे दर्जनों अच्छे लेखक पहले दशाब्द के बाद हिन्दी के क्षेत्र में आये और उनके साथ नए उर्दू के शब्द भी आये। वैसे सन्तों और भक्तों तथा शृङ्गारिक कवियों के द्वारा फ़ारसी-अरबी ने अनेक शब्द तद्भव रूप से हिन्दी में शताब्दियों से चल रहे थे, परन्तु इन लेखकों ने इस प्रकार के शब्दों को तत्सम रूप दे दिया और जो शब्द अपने साथ लाये उनका तत्सम रूप में भी प्रयोग किया। इस शुद्धता के आग्रह ने बाद को नई समस्या उत्पन्न कर दी। जब राजनैतिक नेताओं ने हिन्दी की ओर ध्यान किया तो वे हिन्दू-मुसलमानों की भाषाओं में एकता स्थापित करने का स्वप्न देखने लगे और उनका ध्यान इन्हीं उर्दू से आये हुए लेखकों की ओर गया। उनकी भाषा को ही वे हिन्दी या हिन्दुस्तानी कहने लगे। धीरे-धीरे उर्दू-फ़ारसी शब्दों को अपनाने का उनका आग्रह भी तीव्र होता गया, यहाँ तक कि ये नए लेखक भी उनके आदर्श पर पूरे नहीं उतर सके। इस परिस्थिति ने हिन्दी के प्रेमियों में विरोध उत्पन्न किया। इंशा की तरह हरिऔध ने भी ठेठ भाषा का प्रयोग करके उसे शुद्ध हिन्दी तथा आदर्श हिन्दी कहलाने का प्रयत्न किया था, परन्तु यह प्रयोग असफल रहा।

भाषाकोष के इन विभिन्न तत्त्वों के कम-अधिक समावेश के कारण शैलियों में विभिन्नता आना आवश्यक था। यह हुआ भी। परन्तु अब हिन्दी की गद्य-शैली का समुचित विकास हो गया है और उसकी अपनी शैलियाँ हैं जो उर्दू गद्य-शैलियों से भिन्न हैं।

छायावाद काव्य ने अपने व्यक्तित्व को निश्चित रूप देने के लिए, बहुत कुछ आप्टे के कोष की सहायता से, नये संस्कृत शब्द हिन्दी काव्य-कोष को

दये हैं। उसने अंग्रेजी के रोमांटिक कवियों के शब्द-समूहों, वाक्यांशों और संयुक्त विशेषणों का संस्कृत के सहारे हिन्दी में अनुवाद किया। इसके कवियों की गद्यशैली संस्कृत-प्रधान और लाक्षणिक थी। इसने भी हिन्दी भाषाकोष पर प्रभाव डाला है। इन सब प्रभावों के अतिरिक्त उपयोगी साहित्य का प्रभाव भी है। पिछले २० वर्षों में हमारे साहित्य में इस शाखा का विकास अभिनन्दनीय रहा है। नागरी प्रचारिणी ने वैज्ञानिक कोष का सम्पादन करा कर वैज्ञानिक शब्दावली को निश्चित करने की चेष्टा की है। अनेक उपयोगी ग्रन्थों के लेखक अंग्रेज़ी में ही अपने विषयों का अध्ययन-अध्यापन करते हैं और वे इस कोष की सहायता से ही हिन्दी साहित्य की वृद्धि करते हैं। जैसे-जैसे हिन्दी गद्य-पद्य कला की वस्तु होता गया है, जैसे-जैसे उनमें शैलियों की निश्चिन्तता आती गई है, वैसे-वैसे उसने मधुर, सौन्दर्यपूर्ण, शक्तिवान शब्दावली का निर्माण करने की चेष्टा की है। यही कारण है कि कितने ही ऐसे संस्कृत के कठिन शब्दों का प्रयोग हिन्दी में होता है जिनके लिए संस्कृत से ही लेकर हिन्दी व्याकरण के आधार पर नये सरल शब्द पहले ही गढ़ लिये गये हैं। यह कहना अनावश्यक है कि आधुनिक खड़ी बोली हिन्दी शब्द में ६० प्रतिशत से अधिक संस्कृत या संस्कृत से आये तत्सम शब्दों का प्रयोग हो रहा है। जैसे-जैसे हिन्दी गद्य-पद्य कलात्मक विकास को प्राप्त होगा, यह तत्समता बढ़ती जायगी।

महायुद्ध के बाद के शैलीकारों में बाबू जयशंकरप्रसाद, बाबू प्रेमचन्द, राय कृष्णदास, वियोगी हरि, चतुरसेन शास्त्री, मुंशी शिवपूजनसहाय, पांडेय बेचन शर्मा उग्र, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, जैनेन्द्रकुमार जैन और सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन प्रमुख हैं।

समालोचना

द्विवेदीयुग की आलोचना ने आधुनिक आलोचना का मार्ग प्रशस्त किया। १९वीं शताब्दी में जो थोड़ी बहुत आलोचना हुई, वह मासिक पत्रों में हुई। पुस्तकाकार की कोई आलोचना सामने नहीं आई। कदाचित् इसी कारण विशेष अध्ययनपूर्ण आलोचनाओं की परम्परा न चली। किसी एक लेखक या कवि को लेकर उसके साहित्य के विषय में निश्चित करना उसी समय संभव है जब लेखक स्फुट निबंधों से दृष्टि हटा कर पुस्तकाकार समालोचना की ओर बढ़े। इस युग में हम सर्वप्रथम पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी को इस ओर बढ़ते पाते हैं। उनकी "हिन्दी कालिदास की आलोचना" (१८९९),

विक्रमांकदेव चरित चर्चा (१९००) नैषध-चरित-चर्चा (१६००) और कालिदास की निरंकुशता ने इस ओर पहला प्रकाश दिखाया। यह ध्यान देने की बात है कि इनमें से अधिकांश रचनाएँ खंडनात्मक हैं, विधेयात्मक नहीं। इसके अतिरिक्त द्विवेदीजी ने सरस्वती में पुस्तक-समीक्षा की एक शैली चलाई। उससे प्रभावित होकर कई मासिक पत्रों ने पुस्तक-समीक्षा को स्थान दिया। इस प्रकार परिचयात्मक समालोचना का एक विशाल साहित्य तैयार हो गया परन्तु उसमें द्विवेदीजी के अनुकरण में लेखकों की त्रुटियाँ ही दिखाई जातीं, उनके गुणों पर ध्यान ही नहीं दिया जाता। इन आलोचनाओं में द्विवेदीजी का लक्ष्य साहित्य नहीं, भाषा होता था। इसने हिन्दी के भाषा-क्षेत्र से अनिश्चितता दूर करने में सहायता दी और लेखकों को भाषा-सुधार के लिए विवश किया।

द्विवेदीजी के अतिरिक्त इस युग के दूसरे बड़े आलोचक मिश्रबन्धु थे। इन्होंने गुण-दोष-विवेचन को समालोचना का आदर्श बनाया परन्तु नींव गहरी नहीं दी। इन्होंने कवियों का श्रेणी-विभाजन किया और उसका सहारा लेकर चटपटी बातें कहने की शैली का आविष्कार किया। साहित्य-क्षेत्र में इसका प्रभाव भी अधिक पड़ा। वास्तव में मिश्रबन्धु की आलोचना ऊँची श्रेणी की न थी।

इस समय दो और प्रसिद्ध आलोचक पद्मसिंह शर्मा और कृष्णबिहारी मिश्र भाषा-क्षेत्र में आये। पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी-सतसई पर आलोचना की और कृष्णबिहारी मिश्र ने देव-बिहारी का तुलनात्मक अध्ययन उपस्थित किया। इन पुस्तकों से ही आलोचना के क्षेत्र में प्रचार-भावना का सूत्रपात हुआ। वास्तव में इसका बीज रूप मिश्रबन्धुओं की आलोचना में ही मिलता है। 'हिन्दी नवरत्न' में उन्होंने देव को बिहारी से बड़ा बतला कर बिहारी के भक्तों को क्षुब्ध कर दिया था। लाला भगवानदीन 'दीन' ने (बिहारी और देव) नाम की पुस्तक इसी वाद-विवाद के सिलसिले में लिखी। पं० पद्मसिंह शर्मा ने अपने आलोच्य कवि (बिहारी) को साहित्यिक परम्परा के बीच में रखकर उनकी उत्कृष्टता सिद्ध की परन्तु उन्होंने वैज्ञानिक, संतुलनशील, गंभीर विवेचना-पद्धति को छोड़ कर उर्दू मुशायरों के ढंग की वाह-वाही को ग्रहण किया। मिश्रजी की पुस्तक अधिक साहित्यिक है। उसमें सहृदयता और मार्मिकता के दर्शन होते हैं, यद्यपि नवीनता विशेष नहीं। बिहारी-संबंधी इन आलोचनाओं ने (एक) देव-बिहारी को लेकर एक

साहित्यिक वितंडावाद ही शुरू कर दिया और इसके फलस्वरूप समाचार पत्रों में पक्ष और विपक्ष में बहुत से लेख निकले जिनका आज आलोचना-साहित्य में कोई भी महत्व नहीं है। उनमें न किसी गहरे अध्ययन को स्थान मिला है, न सहृदयता को। (दो) तुलनात्मक आलोचना की बाढ़ ला दी जिसमें अध्ययन और रुचि-संस्कार का अभाव था। मासिक पत्रों में कवियों के किन्हीं दो पद्यों को लेकर ऊहात्मक ढंग पर साम्य स्थापित करके व्यर्थ के पृष्ठ रँगे जाने लगे। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस काल में समालोचना क्षेत्र में विशेष काम तो हुआ और हिन्दी प्रेमियों का ध्यान साहित्य के इस अंग की ओर आकर्षित हुआ, परन्तु वह रूढ़िगत है, उच्चकोटि का नहीं।

द्विवेदी-युग की सब से महत्वपूर्ण पुस्तक मिश्रबन्धु विनोद है जिसमें नागरी-प्रचारणी सभा की खोज-रिपोर्टों की सामग्री को ऐतिहासिक क्रम से रखने के साथ-साथ कवियों के विषय में छोटी-बड़ी आलोचनाएँ लिखने का भी प्रयत्न किया गया है। यह पुस्तक १६१३ में तीन भागों में प्रकाशित हुई और इसीने पहली बार सर्चरिपोर्टों से प्राप्त सामग्री को एक साथ सर्वसुलभ बनाकर हिन्दीसाहित्य की विशदता और उसके महत्व की ओर लेखकों का ध्यान आकर्षित किया। १६२५-२६ में इस बृहद् ग्रन्थ के दूसरे संस्करण में सामग्री में और भी वृद्धि कर दी गई और नवीन खोज से प्राप्त सामग्री को स्थान दिया गया। हिन्दी के महान कवियों की विशद समीक्षा भी इन्होंने उपस्थित की। 'नवरत्न' (१९१०-११) ने ही पहली बार इस दशा में उच्च श्रेणी की पाठ्य सामग्री उपस्थित की। समालोचना के क्षेत्र में इस पुस्तक के स्वागत और विरोध का एक अपना इतिहास है और हिन्दी समालोचना के इतिहास का कोई भी प्रेमी उससे अपरिचित नहीं रह सकता।

इन प्रसिद्ध समालोचकों के समसामयिक कितने ही छोटे-बड़े समालोचक हमारे सामने आते हैं जिन्होंने स्वतंत्र पुस्तकें लिख कर या पत्रों में लेख लिख लिख कर हिन्दी समालोचना के विकास में महत्वपूर्ण भाग लिया। इनमें से कितने ही कवि थे जो "असफल लेखक (या कवि) समालोचक बन बैठा" की कहावत चरितार्थ करते थे। इनकी आलोचना का आधार न कवि का काव्य होता था, न पूर्वी आलोचन शैली, न पश्चिमी। इन्होंने अपने संस्कार-पूर्ण हृदय पर काव्य द्वारा पड़े प्रभाव को मुख्य माना और आलोचना-साहित्य को रचनात्मक साहित्य की भाँति वैयक्तिक और रुचि-आश्रित बना दिया। पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी इनमें प्रधान हैं। नवयुवक लेखकों पर इन

रचनाओं का विशेष प्रभाव पड़ा। पहले वर्ग के गंभीर आलोचकों ने इस वर्ग के अधिकार को न मानते हुए उसकी रचनाओं की आलोचना की और छायावाद काव्य को व्यक्तिवाद के कुहासे से निकालने की चेष्टा की परंतु छायावाद के पोषक वर्ग में कुछ अधिक प्रतिभावान, संयत, अध्ययनशील और चिन्तक लोग भी थे। इनमें सबसे प्रमुख श्री नन्ददुलारे बाजपेई हैं। इन्होंने पुराने और नये दोनों साहित्यों पर अत्यन्त मार्मिक और अध्ययनशील आलोचनाएँ लिखीं। वे नवीन लेखकों के दृष्टिकोण को समझते, उनके साथ विकास को प्राप्त होते और संतुलन का ध्यान रखते हुए आगे बढ़ते गये। छायावादी कवियों और जनता के बीच में इन्होंने माध्यम का काम किया।

इस समय कुछ लेखक ऐसे भी थे जो किसी वर्ग में नहीं आते थे। वे स्वतंत्र रूप से लिखते रहे। इनमें प्रमुख श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी हैं जिन्होंने हिन्दी साहित्य विमर्ष (१९२८) और विश्व-साहित्य (१९२४) पुस्तकें लिखीं। इन पुस्तकों के अध्ययन से यह पता चलता है कि लेखकों का ध्यान अपने साहित्य से निकल कर अन्य साहित्यों तक पहुँच रहा था परन्तु जिस विशाल अध्ययन और मनन की आवश्यकता इस प्रकार की आलोचना के लिए होती है उसका उस समय के समालोचकों में नितान्त अभाव था अतः बख्शी जी का अनुसरण नहीं हो सका।

इस समय तक इन्टर और बी० ए० में हिन्दी की वैकल्पिक शिक्षा का प्रबन्ध हो चला था। धीरे-धीरे विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में भी हिन्दी को स्थान मिला। फल यह हुआ कि जो लेखक पाठ्य पुस्तकों के लिए स्वीकृत हुए, उन पर और उनकी कृतियों पर आलोचनाओं की आवश्यकता का अनुभव हुआ। साहित्य के इतिहास लिखे गये।

महायुद्ध के बाद समालोचना के क्षेत्र में नई शक्तियों ने पदार्पण किया। पिछले १८ वर्षों में द्विवेदीजी समालोचना के क्षेत्र में पथ-प्रदर्शक रहे और तुलनात्मक तथा निश्चयात्मक ढंग की आलोचनाएँ चलती रहीं। युद्ध के बाद के लेखकों ने आलोचना-सबंधी निश्चित सिद्धान्त लेकर क्षेत्र में उतरना आरम्भ किया। लेखकों का एक वर्ग पूर्व और पश्चिम की गम्भीर शास्त्रीय आलोचना के सिद्धान्तों पर मनन करने की ओर झुका। वह क्षेत्र में कुछ देर से उतरा, परन्तु उसमें आलोचना-साहित्य को बड़ी दूर तक पुष्ट एवं

प्रभावित किया। उसकी दृष्टि पूर्व और पश्चिम के आलोचनात्मक सिद्धान्तों के सम्मेलन की ओर इतनी न थी, जितनी पूर्व की रस-पद्धति को पश्चिमी आलोचना के दृष्टिकोण से परिमार्जित करके उसे साहित्य का मापदंड बनाने की ओर थी। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इस वर्ग का प्रतिनिधित्व किया और उनसे प्रभावित होकर उनके शिष्य समुदाय ने उनके कार्य को अनेक कवियों की रचनाओं और साहित्य-क्षेत्रों में फैलाया। शुक्लजी की तुलसी (१९२३), सूर (१९२५) और जायसी की आलोचनाएँ, आलोचनात्मक निबंध, हिन्दी साहित्य के इतिहास के सैद्धान्तिक अंश और काव्य में रहस्य-वाद (१९२८) आधुनिक हिन्दी आलोचना-साहित्य की अमूल्य निधियाँ हैं।

दूसरे वर्ग के केन्द्र राय बहादुर बाबू श्यामसुन्दर दास थे। यह वर्ग मौलिकता के मापदंड पर पूरा नहीं उतरता इसका कार्य पश्चिमी आलोचना ग्रन्थों का अधिक सहारा लेता है। उसने अपने सिद्धान्तों को प्रकाशित नहीं किया परन्तु भारतीय आलोचना-परम्परा की रक्षा करते हुए पश्चिमी ढंग पर अच्छी आलोचनाएँ कीं। बाबू साहब के आलोचना-ग्रन्थ साहित्यालो-चन (१९२३) भारतेन्दु हरिश्चन्द, गोस्वामी तुलसीदास (१९३१), रूपक रहस्य (१९३२), भाषा और साहित्य (१९३०) हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने हिन्दी भाषा पर महत्वपूर्ण निबन्ध भी लिखे हैं। डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, पद्मनारायण आचार्य और बाबू साहब के अन्य शिष्यों ने इनके साथ अथवा स्वतंत्र रूप में उनके बतलाए हुए मार्ग पर चलकर आलोचना-साहित्य को पुष्ट किया है।

तीसरा वर्ग ऐसे नवयुवकों का था जो छायावाद काव्य के संरक्षण के लिए तत्पर हुआ। उनकी शैली पर बंगला आलोचना-शैली और अंग्रेज़ी साहित्य की १९वीं शताब्दी की आलोचना-शैली का प्रभाव है। इन आलोचकों का अध्ययन गहरा नहीं है, परन्तु कविता में इनकी अन्तर्दृष्टि बहुत भीतर तक जाती है।

रस और अलंकार की शास्त्रीय विवेचना करने वाली अनेक पुस्तकें सामने आईं और गद्य शैली, नाट्यकला और उपन्यास कला पर भी सैद्धान्तिक और ऐतिहासिक दृष्टिपात किया गया। इनमें महत्वपूर्ण हैं पं० रमाकान्त त्रिपाठी की हिन्दी गद्य-मीमांसा (१९३६), जगन्नाथप्रसाद शर्मा की पुस्तक हिन्दी गद्य-शैली का विकास (१९३०), रामकृष्ण शुक्ल की पुस्तक

प्रसाद की नाट्य कला और पं० जनार्दनप्रसाद द्विज की पुस्तक प्रेमचन्द की उपन्यास-कला।

हिन्दी समालोचना के कई क्षेत्र हैं। सबसे पहले हमें काव्य-सिद्धान्तों पर विचार करना है। संस्कृत साहित्य में काव्य-संबंधी सिद्धान्तों का एक बड़ा महत्वपूर्ण साहित्य था। रस, ध्वनि, गुण, व्यंग, अलंकार आदि कई विभिन्न सम्प्रदाय बन गये थे। भरत मुनि के नाट्यशास्त्र से लेकर साहित्य-दर्पण तक आचार्यों ने सारे काव्य-साहित्य को टटोल कर अपना प्रासाद खड़ा किया था। मनोवैज्ञानिक और साहित्यिक विश्लेषण की दृष्टि से यह साहित्य-सामग्री अद्वितीय है। सारे मध्ययुग में हिन्दी कवियों और आचार्यों ने संस्कृत की इस सामग्री से लाभ उठाया और रस-रीति के ग्रन्थ लिखना प्रत्येक कवि का धर्म ही हो गया। यद्यपि रस के क्षेत्र में, विशेषकर नायिकाभेद में, नई सामग्री भी उपस्थित हुई परन्तु अधिकांश हिन्दी आलोचना-साहित्य संस्कृत ग्रंथों का ही पिष्टपेषन मात्र था। मीमांसा तो लगभग थी ही नहीं। एक दोहे में लक्षण कहकर आगे कवित्त या सवैया में स्वनिर्मित उदाहरण रख दिया जाता था। कभी-कभी उदाहरण लक्षण से भिन्न भी जा पड़े, तब भी कोई चिंता की बात न थी। वास्तव में उस समय जो ग्रन्थ लिखते थे, उनमें आचार्यत्व तो लगभग था ही नहीं, हाँ कवित्व शक्ति अच्छी थी। गद्य का विकास पर्याप्त मात्रा में न होने के कारण साहित्य-समीक्षा का विकास भी असम्भव था। बीसवीं शताब्दी में पहली बार संस्कृत आचार्यों के ग्रन्थों के अनुवाद हुए और उन पर विवेचना की गई। फिर भी अभी कितने ही संस्कृत आचार्यों के ग्रन्थ हिंदी में अलभ्य ही हैं। इस दशा में संस्कृत से अपरिचित हिन्दी आलोचक सब सामग्री से परिचित नहीं हो पाता। इन आचार्यों का तुलनात्मक और ऐतिहासिक अध्ययन भी अभी उपस्थित नहीं हुआ है। बीसवीं शताब्दी से कुछ पहले ही हमारा ध्यान 'आंग्ल' साहित्य की आलोचना-सामग्री की ओर गया। नवीन कवि उस साहित्य से प्रभावित होकर काव्य-रचना की ओर प्रवृत्त होते थे, अतः उसके आलोचना-शास्त्र की ओर ध्यान जाना अनिवार्य था, परन्तु पोप के "समालोचनादर्श" (१८९७) के बाद कोई भी अंग्रेजी आलोचना निबंध या पुस्तक अनूदित नहीं हुई। हाँ, कुछ ऐसी बंगाली पुस्तकों के अनुवाद अवश्य हुए जिनमें लेखकों ने प्राच्य और पाश्चात्य आलोचना-सिद्धान्तों में पटरी बैठाने की सफल चेष्टा की थी। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, बाबू श्यामसुन्दरदास, पं० रामचंद्र शुक्ल और पदुमलाल बख्शी के लेख और निबंध

पश्चिम की सामग्री को आत्मसात करने के बाद ही लिखे गये हैं, परन्तु पश्चिमी आलोचना-शास्त्र का उसी रूप में अनुवाद भी उपेक्षित है।

दूसरा क्षेत्र कवियों, लेखकों और साहित्यिक धाराओं का ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक और साहित्यिक विवेचन है। जैसा हम पिछले पृष्ठों में बता चुके हैं, मिश्रबंधु ने इस दिशा की ओर अग्र चरण उठाया। पं० रामचन्द्र शुक्ल और उनके विद्यार्थी दल ने इस दिशा में विशेष काम भी किया है। विश्वविद्यालयों में हिन्दी अध्ययन-अध्यापन और खोज-सम्बन्धी काम के शुरू होने के साथ इस प्रकार की सामग्री बढ़ी है, यद्यपि अभी कितना ही काम शेष है। वैज्ञानिक अध्ययन तो अभी नहीं के बराबर ही हुआ है।

तीसरा क्षेत्र तुलनात्मक अध्ययन का है। हिन्दी के ही कवियों में अभी अच्छा तुलनात्मक साहित्य उपस्थित नहीं हुआ है, अन्य प्रांतीय कवियों और अन्य देशों के कवियों से तुलना की तो बात ही क्या। पद्मसिंह शर्मा और कृष्णबिहारी मिश्र को छोड़कर विशेष प्रयत्न किया ही किसने है? अभी तो हिन्दी भक्ति-साहित्य से अन्य प्रान्तों के भक्ति-साहित्य जैसे विषयों की तुलना की ओर भी किसी का ध्यान नहीं गया है।

इन तीनों ही क्षेत्रों की थोड़ी बहुत सामग्री प्रत्येक मास मासिक और साप्ताहिक पत्रों के द्वारा हमारे सामने आती रहती है। इसके अतिरिक्त प्रकाशन की विपुलता के कारण परिचयात्मक आलोचना के स्तम्भ भी खुले हुए हैं। साहित्य की प्रगति के अध्ययन के लिए इन स्तम्भों और आलोचना-संबन्धी लेखों और निबन्धों का अध्ययन भी आवश्यक है। आज तो समसामयिक साहित्य का परिचय और निष्पक्ष आलोचना हमारे मासिक साहित्य का महत्वपूर्ण भाग है।

निबन्ध

१९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में निबन्धों का एक छोटा-मोटा साहित्य उपस्थित हो गया था। उसके गुण थे—विषय की विभिन्नता और लेखकों की वैयक्तिकता। अधिकांश निबन्धों में हास-परिहास एवं व्यङ्ग का पुट भी रहता था। यह निबन्ध-साहित्य अनेक विषयों को लेकर चला था। समाज के पर्व, तीज-त्योहार, सामाजिक कुरीतियाँ, नवीन और पुरातन समाज पर व्यंग और आक्षेप, साहित्य के अनेक अंगों पर चमत्कारपूर्ण उद्भावनाएँ, हलके विचार—ये भारतेन्दु के परवर्ती लेखकों के निबंधों की कुछ विशेषताएँ

थीं जिनका जन्म भारतेन्दु के साहित्य ही में हो चुका था। अधिकांश निबंध-साहित्य पत्रों के द्वारा प्रकाशित हुआ, विशेषतः हिन्दी प्रदीप' और 'ब्राह्मण' के द्वारा और इनके सम्पादक पं० बालकृष्ण भट्ट और पं० प्रतापनारायण मिश्र उस समय के उत्कृष्ट शैलीकार थे।

परन्तु धीरे-धीरे निबंध कम लिखे जाने लगे। वैयक्तिकता का ह्रास हुआ। द्विवेदीजी के आग्रह से नये लेखक आये और उन्होंने अनेक नवीन विषयों पर निबंध लिखे परन्तु न तो शैली के विचार से, न भाव-गाम्भीर्य के विचार से ये महत्वपूर्ण हैं। लेखक विषय को स्पर्शमात्र करके रह जाते हैं। वे विषय की गहनता में प्रवेश नहीं करते, न उसकी सूक्ष्म विवेचना करते हैं। उनके विषय भी ऐसे नहीं हैं जो प्रतिदिन के जीवन एवं जनता से संबंधित हों। वास्तव में उनमें सजीवता की मात्रा बहुत थोड़ी है। इस समय भी पुस्तकों के रूप में निबंध बहुत कम आये। अधिकांश निबंध-साहित्य मासिक पत्रों द्वारा प्रकाशित हुआ परन्तु सच्चे मानों में निबंध बहुत ही कम थे। जो थे भी, उनमें मौलिकता का नितान्त अभाव था। अधिकांश लेखक मराठी, बँगला या अंग्रेज़ी निबंधों या पुस्तकों को अपना आधार बनाते थे और कभी-कभी उन्हें संक्षेप रूप में उपस्थित मात्र कर देते थे। ऐसे प्रयत्नों में नवीनता, मौलिकता और विशिष्ट शैली ढूँढने का प्रयास ही व्यर्थ है।

हमें स्मरण रखना चाहिये कि इस युग में भी, पिछले युग की तरह, जनता की रुचि पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान से परिचित होने की ओर थी। अतः निबंध-लेखकों का प्रयत्न अपने विविध निबंधों में प्रामाणिक सामग्री भरने की ओर ही अधिक था। अधिकांश निबंध-लेखकों पर भाषा, शैली और विषय-विभाजन की दृष्टि से पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का प्रभाव था। इस समय के प्रमुख निबंध-लेखक पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, पं० माधवप्रसाद मिश्र, बाबू गोपालराम गहमरी, बाबू बालमुकुन्द गुप्त, बाबू श्यामसुन्दरदास, जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, पं० चन्द्रधर गुलेरी, बाबू गुलाबराय, पं० रामचन्द्र शुक्ल, बाबू ब्रजनन्दन सहाय, पं० पद्मसिंह शर्मा और अध्यापक पूर्णसिंह थे।

परन्तु स्वयं महावीरप्रसाद द्विवेदी के निबन्ध अनेक विषयों पर थे और अनेक शैलियों में थे। कहीं तो वे व्याकरण पर गम्भीरता-पूर्वक विचार करते हैं, कहीं कथा के तत्वों का आश्रय लेकर निबन्ध को हलका कर देते हैं, कहीं अपने व्यक्तित्व को सामने लाकर अथवा व्यंग का सहारा लेकर उसमें उत्कृष्ट वैयक्तिक गुणों की स्थापना करते हैं। उनके सहयोगियों और उनसे प्रभावित

लेखकों में भी यह वैभिन्न्य है। अंग्रेज़ी से जो लेखक आये थे वह बेकन, चार्ल्स लेम्ब, ऐडिसन और स्टील के निबन्धों से परिचित थे। इससे उन्होंने इन अंग्रेज़ी लेखकों के अनुकरण पर एक बार फिर उस वैयक्तिक निबन्ध शैली और व्यक्तिगत निबन्ध की सृष्टि की जो प्रतापनारायण मिश्र की विशेषता थी। परन्तु जहाँ प्रतापनारायण मिश्र में वैयक्तिकता प्रान्तीय शब्दों, हास-परिहास और लेखक की मनोरंजन प्रवृत्ति के कारण आती थी, वहाँ इन नए लेखकों ने पश्चिमीय कला का सहारा लिया। कालिदास कपूर की "छड़ी की कहानी" इस प्रकार के निबन्धों का उत्कृष्ट उदाहरण है। यद्यपि इस प्रकार के नए निबन्धों का जन्म हो गया था, परंतु ऐसे निबन्ध द्विवेदी-युग में (महायुद्ध से पहले) कम ही मिलेंगे। हाँ, दूसरे प्रकार के निबन्ध की प्रधानता थी जिनमें ज्ञान उपेक्षित था यद्यपि बहुधा वह काव्यात्मकता एवम् भावात्मकता से प्रभावित होता था। ऐसे निबन्धों के लिए वीथिका उपस्थित थी। जनता नवीन ज्ञान की याचक थी। उसे काव्य में रुचि थी। वह भावुक थी। साहित्य में काव्यात्मकता और भावात्मकता का होना आवश्यक समझा जाता था। एक तीसरे प्रकार के निबन्ध एकदम कल्पनात्मक थे, जैसे 'कवित्त' अथवा 'इत्यादि की कथा'। इनका भी प्रधान गुण काव्यात्मकता ही था। रूपक, उपमा और उत्प्रेक्षा के बिना साधारण गद्य की प्राकृतिक भूमि पर तो ये दो क़दम भी चल नहीं पाते थे। चौथे प्रकार के निबन्ध केवल ज्ञानमण्डित थे। इनकी संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई। पहले ये मासिक पत्रों, फिर पाक्षिक और साप्ताहिक पत्रों, पुस्तकों की भूमिकाओं और स्वयं निबन्ध-पुस्तकों के रूप में सामने आये। गम्भीर विषयों पर कितनी ही ऐसी पुस्तकें लिखी गईं जिनके परिच्छेदों का रूप निबन्ध का था। सच तो यह है कि मासिक पत्रों में निबन्ध-लेखन की जो शिक्षा लेखकों को प्राप्त हुई, गम्भीर विषयों पर पुस्तक-लेखन उसी का विकसित रूप था।

निबन्ध के विषयों में जिस प्रकार की विभिन्नता थी—उसी प्रकार हम काव्य-गुणों से भरे हुए निबंधों से लेकर साधारण बातचीत में लिखे गये निबंधों की श्रेणी तक की चीज़ पाते हैं। वास्तव में, हिन्दी गद्य की शैलियों का विकास निबंध-लेखन के द्वारा ही हुआ और बीसवीं शताब्दी के निबंधों का इतिहास ही हिन्दी गद्य-शैली के विकास का इतिहास होगा, विशेषकर महायुद्ध से पहले, जब उपन्यास साहित्य का कलात्मक विकास नहीं हुआ था और कहानी साहित्य में भाषा-शैली की दशा अत्यंत अपरिपक्व और

अनिश्चित थी। द्विवेदी-काल में साहित्य ने जीवन के सभी क्षेत्रों में प्रवेश किया, उसके अनुरूप ही निबंध के विषयों और शैली में विभिन्नता है। सच तो यह है कि महायुद्ध से पहले तक का हिन्दी साहित्य निबंधों के बल पर ही महान होगा। अगले २० वर्षों में उपन्यास, कहानी, नाटक, गद्यकाव्य अनेक शैलियाँ लेकर विकसित हुए, परन्तु इन पहले १५-१६ वर्षों में इनका इतना उच्च कोटि का विकास नहीं हो पाया था। अतः निबंध ही साहित्य था। उसमें हमें एक साथ ही कहानी, नाटक और उपन्यास एवं काव्य के तत्त्वों के दर्शन होंगे।

इस समय कुछ एकदम काव्यात्मक निबंध भी लिखे गए हैं। अगले वर्षों में गीतांजली के प्रभाव के साथ जिस गद्यकाव्य का प्रवेश हुआ, तदनंतर विकास हुआ, उसका बीज ऐसे निबंधों में ही ढूँढा जाना चाहिये।

महायुद्ध के बाद वैज्ञानिक चिन्तन की प्रवृत्ति बढ़ी और लेखकों में मौलिकता का जन्म हुआ। इसका फल यह हुआ कि पत्र-पत्रिकाओं द्वारा एक बृहद् निबंध-साहित्य तैयार हो गया। आज इसका एक महत्वपूर्ण भाग पुस्तकों में परिणित हो गया है। इस काल के निबंध-लेखकों में प्रमुख रामचंद्र शुक्ल, गुलाब राय, जयशंकर प्रसाद, पं० सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, हज़ारी-प्रसाद द्विवेदी, श्रीनाथसिंह, श्रीराम शर्मा, जैनेन्द्र और प्रेमचन्द हैं। इनमें से प्रत्येक का भाषा-शैली, चिन्तन-धारा और वैयक्तिकता की दृष्टि से अपना-अपना स्थान है। इन लेखकों ने जो साहित्य उपस्थित किया है उसका अधिकांश भाग गम्भीर है। ललित निबन्धों की ओर बहुत कम ध्यान दिया गया है। नई पीढ़ी के कुछ लेखक जैसे केदारनाथ गुप्त बालेन्दु, कुमार रघुबीरसिंह और सर्वदानन्द इस ओर अवश्य मुड़े परन्तु उनकी ओर जनता और साहित्यिकों का ध्यान नहीं गया। फल यह हुआ कि साहित्य के इस महत्व-पूर्ण अंग के नाम पर दो-चार निबंधों से अधिक हमारे यहाँ नहीं हैं। अधिकांश लेखक विषय की गहनता, वैज्ञानिक विवेचन की प्रवृत्ति और गंभीरता के आदर के कारण ललित निबंधों की ओर नहीं गये।

जीवन-चरित्र

जीवन-चरित्र लिखने की परंपरा का भी पालन हुआ है और कितने ही जीवन-चरित्र हमारे सामने आये। जीवन-चरित्र लेखकों में

पं० माधवप्रसाद मिश्र६२, बाबू शिवनन्दन सहाय६३, पं० किशोरीलाल गोस्वामी६४, और बाबू राधाकृष्णदास६५, प्रमुख हैं। इन लेखकों के चरित्र-नायक हिन्दी साहित्य के अर्वाचीन और प्रचीन लेखक, संस्कृत विद्वान, सनातन धर्म के समर्थक सेठ साहूकार, धर्म-प्रवर्तक आदि थे। साहित्य-रचयिताओं की ओर इनकी दृष्टि अधिक थी जिससे स्पष्ट है कि लेखक साहित्य को अन्य क्षेत्रों से अधिक महत्व देते थे। पौराणिक और ऐतिहासिक हिन्दू वीरों के चरित्रों पर कम लिखा गया। ऐसे महापुरुषों को इस काल में नाटकों का नायक अवश्य बनाया गया है।

नाटक

द्विवेदी-युग का अधिकाश नाटक साहित्य संस्कृत, बँगला और अंग्रेज़ी से अनुवादित है। संस्कृत से अनुवाद करने वालों में रायबहादुर लाला सीताराम६६, पं० सत्यनारायण कविरत्न६७, पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र और बाबू बालमुकुन्द गुप्त महत्वपूर्ण हैं। बँगला नाटकों का अनुवाद सबसे अधिक हुआ। मुख्य अनुवादक हैं—बाबू रामकृष्ण वर्मा, गोपालराम गहमरी, पं० रूपनारायण पांडेय६८, अंग्रेज़ी के अनुवाद लाला सीताराम, पुरोहित गोपीनाथ और पं० मथुराप्रसाद चौधरी ने उपस्थित किये। इन अनुवादों की संख्या मौलिक नाटकों से कहीं अधिक हैं। मौलिक नाटक लिखने वालों में

६२—विशुद्ध चरितावली और अन्य निबंध।

६३—बाबू हरिश्चन्द्र का जीवन-चरित, गोस्वामी तुलसीदास का जीवन-चरित, चैतन्य महाप्रभु का जीवन-चरित।

६४—राजा लक्ष्मण सिंह, राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द।

६५—हरिश्चन्द्रजी का जीवन चरित्र, कविवर बिहारीलालजी, सूरदासजी का जीवन चरित्र।

६६—नागानन्द, महावीर चरित्र, मालती-माधव, मालविग्निकामित्र, मृच्छकटिक और उत्तरराम चरित्र के अनुवाद किये। ये सब संस्कृत नाटक है।

६७—मालतीमाधव और उत्तरराम चरित्र नाटकों का संस्कृत से अनुवाद किया।

६८—इन्होंने भारतरमणी, दुर्गादास, कृष्णकुमारी, मूर्खमंडली, नूरजहाँ, पाषाणी, प्रफुल्ल, उसपार, शाहजहाँ, सीता, वीरपूजा आदि नाटकों को बङ्गला साहित्य से हिन्दी में अनूदित किया।

राय देवीप्रसाद पूर्ण[६९], पं० बलदेवप्रसाद मिश्र[७०], पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र, बाबू शिवनन्दसहाय और पारसी रंगमंच के लेखक पं० नारायणप्रसाद बेताब[७१] और राधेश्याम कथावाचक[७२] प्रमुख हैं। पूर्ण के नाटकों में चरित्र-चित्रण और नाट्य कला के विशेष दर्शन नहीं मिलते। वह नाटक से अधिक काव्य हैं और अभिनय की दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं हैं। पारसी रंगमंच इन दिनों अत्यन्त लोकप्रिय था और जो नाटक उसके लिए लिखे गये, वे उर्दू-भाषी जनता को सामने रख कर लिखे गये थे और उसी के प्रतिनिधि हैं। पं० किशोरीलाल गोस्वामी और पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने भी कुछ नाटक लिखे परन्तु उनमें नाटकत्व की मात्रा बहुत कम है। सच तो यह है कि द्विवेदी-युग में रचनात्मक साहित्य बहुत कम तैयार हुआ और हिन्दी जनता ने उसकी पूर्ति अनुवादों को अपना कर की।

नाटकीय कला की दृष्टि से १९०० से १९.१९ तक का नाटक साहित्य एक श्रेणी के अंतर्गत है। इस एक दशाब्द से ऊपर समय में दो प्रकार के नाटक हिन्दी प्रदेश में चलते रहे। इन दोनों प्रकार के नाटकों की परम्परा १९वीं शताब्दी से ही चली आती है। पहले प्रकार के नाटक पारसी स्टेज के लिए लिखे जाते थे और दूसरे प्रकार के नाटक भारतेन्दु स्कूल के नाटककारों द्वारा उपस्थित किये जाते थे। इनका कोई भी रंगमंच नहीं था, परन्तु रंगमंच के आदर्शों के सम्बन्ध में ये पारसी रंगमंच को ही सामने रखकर चलते थे। पारसी रङ्गमञ्च के लिए लिखे जाने वाले नाटकों में कथा-विस्तार और चमत्कार की ओर ध्यान अधिक जाता था। साहित्यिक नाटकों में प्राचीन संस्कृत नाटकों के प्रभाव से रस की ओर ही दृष्टि अधिक थी, यद्यपि कथा-तत्त्व की एकदम उपेक्षा यहाँ भी नहीं होती थी। अलबत्ता इन पिछले नाटकों पर रीतिकालीन वातावरण का प्रभाव था। उनमें कलातत्व की प्रधानता थी, कल्पना और बुद्धिवाद का ज़ोर था।

६९—चन्द्रकला भानुकुमार नाटक के रचयिता।

७०—मीराबाई, प्रभासमिलन, शंकर-दिग्विजय, वासना-वैभव या राजा ययाति नाटक लिखे।

७१—गोरखधंधा, महाभारत, पत्नी-प्रताप या सती अनुसूया नाटक तथा रामायण के लेखक हैं।

७२—इन्होंने परमभक्त प्रह्लाद, परिवर्तन, श्रवणकुमार चरित्र, उषा-अनिरुद्ध और वीर अभिमन्यु नाम के नाटक लिखे।

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से पारसी रङ्गमञ्च में कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। उन्नीसवीं शताब्दी का पारसी नाटक उर्दू भाषा में लिखा जाता था और उसमें उर्दू ही में लिखे छंदों और ग़ज़लों की भरमार रहती थी। इस शताब्दी के आरम्भ में इस परिस्थिति में परिवर्तन हुआ। नारायणप्रसाद बेताब ने हिन्दी भजन और गीत का पारसी नाटक में प्रवेश कराया और पौराणिक विषयों को उपस्थित किया। शीघ्र ही आगा हश्र, हरिकृष्ण जौहर, तुलसीदत्त शैदा, राधेश्याम कथावाचक एवं अन्य नाटककारों ने इन तत्वों को आगे बढ़ाया। पौराणिक नाटक शहर के मध्यवर्ग की जनता में इतने लोकप्रिय सिद्ध हुए कि इस प्रकार के नाटकों की बाढ़ ही आ गई। इन नाटकों में कुछ मूल कथावस्तु के कारण, कुछ सिनेमा कम्पनियों की प्रतिद्वन्द्विता के कारण अलौकिक घटनाओं और चमत्कारों का बोलबाला था। प्रेक्षक के सामने जो आये, वह अभूतपूर्व हो। वह स्तंभित रह जाये। दृष्टिकोण कुछ यही था। पारसी कम्पनियाँ सीन-सीनरियों से मालामाल थी। परदों की फटाफट में उच्च नाटकीय कला का स्थान ही कहाँ हो सकता था ?

नये प्रतिद्वन्द्वी सिनेमा में दो बातों की प्रधानता थी—चमत्कार और हास-परिहास। चार्ली चैपलिन के Comic निम्न श्रेणी की जनता को ही नहीं, उच्च मध्य वर्ग को भी भुलाये हुए थे। ऐसे दृश्य में उनकी लोकप्रियता को देखकर पारसी रंगमंच के नाटककारों को उनकी ओर देखना आवश्यक था। फल यह हुआ कि प्रत्येक गंभीर नाटक में हास्य-रस-पूर्ण कथावस्तु का समावेश करने की चेष्टा की गई। पौराणिक नाटकों में इस तरह की कथावस्तु ने एक विचित्र समस्या उत्पन्न कर दी। अधिकांश पौराणिक नाटककार मूल कथावस्तु के साथ वर्तमान काल को लेकर किसी सामाजिक प्रहसन को भी चलाते थे। इससे इतिहास-विरुद्ध समस्याओं और पात्रों का प्रवेश होता था। जो नाटक पारसी नाटकीय मंच के लिए नहीं लिखे गये उन पर भी इस नई योजना का प्रभाव पड़ा। 'पापमोचन' (१६२३) का लेखक कहता है—

"प्रस्तुत पुस्तक में हमने उपयोग किया है कि दोनों कार्य रहें, अर्थात् विषय सामाजिक वर्तमान समय के उपयुक्त और उपदेशप्रद एवं चित्ताकर्षक हो, और जो सदा से पारसी कम्पनियों के भक्त रहते आये हैं, वे भी यदि इसे खेलें तो उनका भी मनोरंजन हो। इसलिए इसमें स्थान-स्थान पर पारसी कम्पनियों के ढंग की शायरी तथा हास्य कौतुक आदि दे दिया गया है।"

परन्तु कुछ नाटककारों ने पारसी रंगमंच के प्रभाव को दूर ही रखा। ऐतिहासिक कथावस्तु में वर्तमान समस्याओं को लेकर प्रहसन जोड़ना और अधिकारिक वस्तु के साथ-साथ एक प्रासंगिक वस्तु भी चलाना उन्हें रुचिकर नहीं हुआ। फलतः उन्होंने पौराणिक वस्तु से स्वतंत्रता लेते हुए कुछ हास्य-प्रधान विशिष्ट पात्रों का समावेश किया और मूलकथा में ही हास्य की योजना की। इस प्रकार कथा-वस्तु की एकता बनी रही और नाटक की रचना में कला-तत्त्व पर अधिक ध्यान दिया जा सका। बदरीनाथ भट्ट का "कुरुवन दहन" इसी प्रकार का नाटक है। इसी नाटक में हम पहली बार कथा के प्रधान तत्त्वों की गौण तत्त्वों पर विजय पाते हैं। कुछ साहित्यिक नाटकों में एक नई योजना भी हुई जिसका संबंध कथोपकथन से था। इस योजना के अनुसार विशिष्ट श्रेणी के पात्र तो खड़ी बोली हिन्दी का व्यवहार करते थे और निम्न श्रेणी अथवा गाँव के पात्र प्रान्तीय बोलियों को काम में लाते थे। मिश्रबंधु के "नेत्रोन्मीलन" और माधव मिश्र के "महाभारत" ने पहली बार हिन्दी नाटककारों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया। साथ ही जैसे-जैसे नाटक-शैली की स्थापना होती गई, वैसे-वैसे कला की दृष्टि से भी नाटक का विकास होता गया। माखनलाल चतुर्वेदी का "कृष्णार्जुन युद्ध नाटक" और गोविंदवल्लभ पंत की 'वरमाला' महायुद्ध के बाद के अर्द्ध दशाब्द की सर्वोत्तम कलाकृत्तियाँ हैं।

हरिश्चन्द्र-काल में ही संस्कृत और पश्चिमी नाटककला में सामंजस्य स्थापित करने की चेष्टा चल पड़ी थी। १९वीं शताब्दी में इस विषय में बहुत कुछ काम हुआ, परन्तु सामंजस्य का ठीक रूप २०वीं शती में ही हमारे सामने आ सका। संस्कृत नाटक में नंदी का संबंध धर्म से था। वह धार्मिक कृति थी। नाटकीय दृष्टि से इसका कोई महत्व नहीं था। "प्रस्तावना" का नाटक से गहरा संबंध था। उसमें नाटक का नाम, नाटक का विषय और सामाजिकों की आलोचना होती थी। नये नाटकों में इनका स्थान नाटककार की भूमिका ने ले लिया जिसका रंगमंच से कोई संबंध नहीं था। संस्कृत नाटकों में कथावस्तु की महत्ता नहीं थी, उद्देश्य रसोद्रेक था। इन नाटकों में कथा-वैचित्र्य ही प्रेक्षकों को आनन्द देता था, अतः उसे पहले ही उपस्थित कर देना अनुचित होता। इससे "प्रस्तावना" का लोप हो गया। परन्तु यह क्रिया धीरे-धीरे हुई। 'प्रवेशक' और 'विष्कंभक' भी नए नाटककारों को अमान्य रहे। इनका उद्देश्य भी कथावस्तु को गति-

शील एवं प्रवृद्धमान बनाये रखना तथा उसपर टिप्पणी करना होता था। पारसी रंगमंच पर सीन-सीनरियों की भरमार थी। कथा की गति उनसे सूचित की जा सकती थी। संस्कृत नाटक में अंकों की संख्या पाँच से लेकर दस तक होती थी परन्तु अधिकतः यह संख्या सात होती। नये नाटकों में संख्या कम हुई। इन नाटकों में प्रत्येक अंक में कितने ही दृश्य रखे जा सकते थे, अतः अंकों के बढ़ाने की आवश्यकता ही नहीं थी। कथावस्तु का संगठन धीरे-धीरे कलात्मक होने लगा और उसे तीन ही अङ्कों में समाप्त किया जाने लगा। परन्तु इस विषय में नाटककारों में एकता नहीं थी। तीन से सात अंक तक नाटक में रखे जाते थे।

प्राचीन नाटक में वार्तालाप के कई अंग थे—पात्रगत, स्वगत, आत्मगत। आत्मगत कथनों में पात्र अपने मन को प्रत्येक पर खोलने में सफल होता था। पात्र के मनोविज्ञान जानने का इसके सिवा और कोई ढंग ही नहीं है। इसलिए नए नाटकों में भी यह ढंग चलता गया। परन्तु इसके प्रयोग के संबंध में मतभेद अवश्य हो सकता था। प्रसाद के "अजातशत्रु" में महाराज बिन्दुसार के आत्मकथन उनके चरित्र के उद्घाटन, काव्य और कला की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं, परन्तु विस्तार एवं भाषा-शैली की कविता के कारण रंगमंच के अनुपयक्त हैं। आत्मकथन को आत्मचिंतन का रूप दे देना श्रेयस्कर नहीं था। आत्मकथन अत्यंत सूक्ष्म होना चाहिये, नहीं तो वह प्रेक्षक को अस्वाभाविक लगेगा। कुछ नाटकों में आत्मकथन का रूप निरर्थक उच्छ्वासमात्र रहता है, परन्तु इस प्रकार के आत्मकथन अवांछनीय हैं। स्वगत के संबंध में परिस्थिति और भी विषम है। रंगमंच पर कई पात्र हों और यह समझा जाये कि उनमें से एक पात्र 'स्वगत' बोलता है तो दूसरे मात्र नहीं सुनते—यह प्रेक्षक के प्रति अन्याय होगा। इस सारे काल का नाटक-साहित्य स्वगतों से भरा पड़ा है जो वातावरण को अस्वाभाविक और यथार्थहीन बना देते हैं। उपन्यासकार के पास समय और व्यवस्था है जिसके द्वारा यह पात्र का मनोविज्ञान उपस्थित कर सकता है या परिस्थिति की आलोचना कर सकता है, परन्तु नाटककार के पास इनका अभाव है। उस समय के अधिकाश नाटककार उपन्यास की कला से अभिज्ञ थे, अतः स्वगत उन्हें आवश्यक हो गये। पात्रगत वार्तालाप का बीसवीं शताब्दी के पहले दो दशकों में क्रान्तिकारी विकास हुआ है। जहाँ पहले वातावरण केवल कथा बढ़ाने और वातावरण उपस्थित करने के लिये होते थे, वहाँ अब उनसे इनके सिवा पात्र के अन्य

वैज्ञानिक चित्रण का भी काम लिया जाता था। परन्तु महायुद्ध से पहले उपयोगी कथोपकथन का विकास नहीं हुआ था। नाटककार लंबे-लंबे भावात्मक अथवा दार्शनिक कथोपकथन में रुचि लेते थे। भाषा-शैली की दृष्टि से भी अनेक परिस्थितियाँ थीं। पारसी नाटककार की उर्दू प्रधान सरल भाषाशैली से लेकर प्रसाद के दार्शनिक पात्रों की संस्कृत-गर्भित शैली के बीच की कितनी ही शैलियाँ क्षेत्र में थीं, परन्तु जहाँ पहले वर्षों में नाटक की भाषा अधिकांश पद्यात्मक थी, वहाँ बाद में पद्यों की अस्वाभाविकता समझकर उनकी अवहेलना हुई और उनका स्थान भजनों और गीतों ने ले लिया। साधारण वार्तालाप को मध्य में रखना श्रेयस्कर समझा गया। बीच बीच में पद्य बोलने से जो काव्यात्मकता एवं भावात्मकता नाटक में आ जाती थी, उसके स्थान पर पद्यात्मक गद्य के बोलने से वही बात लाई जाने लगी। लगभग सभी लेखकों के भावात्मक गद्य का प्रयोग किया है। एक तो वे पद्यात्मक नाटकों के प्रभाव एकदम अछूते नहीं रह सकते थे, दूसरे ऐसे स्थानों में सहज सरल गद्य से काम भी नहीं चलता। जो हो, इन कुछ वर्षों में ही हिंदी नाटक कला ने अनेक दिशाओं में महत्वपूर्ण विकास प्राप्त कर लिया था।

जैसा हम कह आये हैं, द्विवेदी युग में मौलिक नाटकों की रचना बहुत कम हुई। सारा हिन्दी-संसार द्विजेन्द्रलाल राय के ऐतिहासिक और गिरीशचन्द्र घोष के सामाजिक नाटकों के अनुवादों से भरा था।

निकट प्रान्त के इतने समृद्ध साहित्य के सन्मुख हिन्दी लेखकों को मौलिक नाटक रचना की प्रेरणा न होती तो आश्चर्य होता। अतः इस क्षेत्र में कई नई शक्तियों का आविर्भाव हुआ इनमें जयशंकर प्रसाद७३, हरिकृष्ण जौहर७४, पांडेय बेचन शर्मा उग्र७५, माखनलाल चतुर्वेदी७६, बदरीनाथ भट्ट७७, गोविन्दवल्लभ पन्त७८, जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द

७३—ध्रुवस्वामिनी (१९३३), एक घूंट (१९२९), राज्यश्री (१९३१), चन्द्रगुप्त मौर्य (१९३१), विशाख (१९२० दूसरा सं०), करुणालय (१९२८ दूसरा सं०) जनमेजय का नागयज्ञ (१९१६), कामना (१९१७)

७४—रक्षाबन्धन (१९३४)

७५—महात्मा ईसा (१९२२), चुम्बन (१९३८),

७६—कृष्णार्जुन-युद्ध (१९१८)

७७—लबड़धौंधौं (१९२६), मिस अमरीकन (१९२९), विवाह-विज्ञापन (१९२७) दुर्गावती १९२५

७८—वरमाला (१९२५)

लक्ष्मीनारायण मिश्र और उदयशंकर भट्ट प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त सुदर्शन, मैथिलीशरण, सुमित्रानन्दन पन्त और प्रेमचन्द आदि ने भी नाटक लिखे, परन्तु इन लेखकों ने दूसरे क्षेत्रों में अधिक महत्वपूर्ण काम किया। प्रहसन कम लिखे गये और इस क्षेत्र में बदरीनाथ भट्ट, जी० पी० श्रीवास्तव और रामनरेश त्रिपाठी ही उल्लेखनीय हैं।

जयशंकर प्रसाद, हरिकृष्ण जौहर और उदयशंकर भट्ट का ध्यान ऐतिहासिक वस्तु की ओर गया। इस प्रवृत्ति के मूल में राजनैतिक आन्दोलन थे। वह उस साहित्यिक परम्परा का फल नहीं था जो भारतेन्दु से आरम्भ हुई थी। प्रसाद की दृष्टि बौद्धकाल की ओर गई, जौहरी ने मध्य युग की हिन्दू मुसलमान समस्या के ऐतिहासिक रूप में देखा और वीर हिन्दुत्व की स्थापना की। भट्ट ने पौराणिक और ऐतिहासिक दोनों विषयों को अपना आधार बनाया। नाटकीयता की दृष्टि से इनमें जौहर की कृतियां सर्वश्रेष्ठ हैं, परन्तु संस्कृति के अध्ययन और साहित्यिकता की दृष्टि से प्रसाद की। अन्य लेखक भी इस क्षेत्र में आये। प्रेमचन्द ने कर्बला गोविन्ददास ने हर्ष और कर्तव्य, जनार्दनराय ने और 'व्यथित हृदय' ने 'स्नेह बन्धन' लिखकर ऐतिहासिक नाटक की परम्परा में योग दिया। इन ऐतिहासिक नाटककारों में सर्वप्रमुख जयशंकरप्रसाद हैं।

प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों में संघर्ष अत्यंत स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ता है। नाटक के पहले ही दृश्य में प्रसाद इस संघर्ष को अत्यंत चातुर्य से उपस्थित कर देते हैं और शेष नाटक में इसी संघर्ष का विकास होता है। उनकी कथावस्तु की योजना अधिकांश में रोमांटिक होती है। उसका चित्र-पट (एक ध्रुवस्वामिनी को छोड़कर) अत्यंत विशद है। उन्होंने एक एक नाटक में कई दशाब्दों के लंबे काल को भरने का प्रयत्न किया है। फलतः, उनकी कथा का रूप सुष्ठ नहीं हो सका है! कई-कई अंतर्कथाएँ लगातार चलती हैं। इन अंतर्कथाओं और अप्रमुख पात्रों के कारण मुख्य कथा और पात्र के विकास की रूपरेखाएँ अधिक स्पष्ट नहीं हो पातीं। उनके चरित्र भी प्रत्येक प्रकार से असाधारण हैं। वास्तव में प्रसाद का ध्येय संस्कृति का चित्रण था जिसमें वे पूर्णतः सफल हुए हैं। परन्तु वे पिछले युग की संस्कृति को रोमांस के भीतर से ही देख सके हैं। उनके चरित्र उनके मन में इतने कटे-छंटे चलते हैं कि नाटक में वे विकसित रूप में ही प्रवेश करते हैं। कथा के विकास के साथ उनका विकास होने की आवश्य-

कता नहीं रह जाती। इसके अतिरिक्त एक कठिनाई यह भी होती है कि उनके पात्र दार्शनिक और भावप्रधान होते हैं। जहाँ भाषा का काठिन्य भी इनके साथ मिला हुआ होते हैं, वहाँ उनका ठीक-ठीक समझना असंभव ही हो गया है। यद्यपि प्रसाद चरित्र-चित्रण में मानव-मनोविज्ञान को हाथ से जाने नहीं देते परन्तु ऐसे क्षण उनके पात्रों के जीवन में अनेक आते हैं और अनिवार्य रूप से आते हैं जब वे भाव में विभोर हो जाते हैं। तब वह रहस्यमय उक्तियाँ बोलने लगते हैं। उनके जीवन-विकास का क्रम भी सुव्यवस्थित नहीं होता। उनमें आकस्मिक परिवर्तन हो जाते हैं। जो हो, प्रसाद के नाटक इन त्रुटियों के होते हुए भी हिंदी की श्रेष्ठतम साहित्यिक निधि हैं। भाषा, भाव, वातावरण और श्रेष्ठ नाटकीयता की दृष्टि से वे पश्चिम के श्रेष्ठतम साहित्यिक नाटकों से स्पर्द्धा कर सकते हैं। परन्तु वे सफलतापूर्वक खेले जायें, ऐसा रंगमंच अभी हिन्दी में विकसित नहीं हुआ है। परन्तु यह नहीं समझना चाहिये कि लेखकों ने समाज को छोड़ दिया था, समाज की मूल समस्या अब भी बनी हुई थी, यहाँ तक कि ऐतिहासिक नाटकों में आज की सामाजिक विषमताओं की अनेक प्रतिध्वनियाँ मिलती हैं जैसे प्रसादजी के नाटकों में हिन्दू-मुसलमानों की समस्या बौद्ध और हिन्दुओं संघर्ष का रूप ले लेती है और नवीन नारी के प्रति लेखक का दृष्टिकोण भी स्थान पाता है। कुछ ऐतिहासिक नाटकों की वस्तु इस युग की अछूतोद्धार समस्या, नारी का मनोवैज्ञानिक अध्ययन या दूसरे शब्दों में नवीन नारी की स्वच्छन्दता और प्राचीन हिन्दू पातिव्रत के आदर्श पर पुनर्दृष्टि की चेष्टा और हिन्दू-मुसलमान समस्या को लेकर चलती हैं।

परन्तु ऐतिहासिक नाटकों का पाठक वर्ग सीमित रहा। राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति के कारण वे महत्वपूर्ण अवश्य हैं, और राष्ट्रीय आन्दोलनों के बीच में उनका अस्तित्व न होना असंभव था, परन्तु जनता और लेखकों की दृष्टि अब भी समाज पर थी और सामाजिक नाटक अधिक रुचि से पढ़े जाते थे। यह आश्चर्य की बात भी नहीं है क्योंकि अतीत की समस्याएँ वर्तमान की समस्याओं जैसी रुचिकर नहीं होतीं।

महायुद्ध के बाद की सबसे प्रधान बात यह है कि नाटकों की एकरूपता नष्ट हो गई। उस पर विदेशी नाटकों का प्रभाव बहुत बड़ी मात्रा में पड़ा और पात्रों के संबंध में नाटककारों में विस्तृत विवेचना और रंगमंच के लिये संकेत देने की प्रथा चली जिससे नाटक उपन्यास के निकट आने लगा।

लेखकों ने, बहुत कुछ पश्चिमी नाटककारों में, जीवन को एक नए दृष्टिकोण से देखना आरम्भ किया। उनमें किसी भी प्राचीन परंपरा और रूढ़ि के प्रति मान्यता नहीं रही। आकार में भी परिवर्तन हुआ। नाटक तीन ही अंकों में समाप्त होने लगे और उनमें प्रासंगिक कथा-वस्तु का अभाव होने लगा।

महायुद्ध के बाद के नाटक में वही प्रवृत्तियाँ काम करती रही हैं जो युद्ध के पहले उसमें स्थापित हो गईं थीं। पौराणिक, रोमांटिक, ऐतिहासिक और सामाजिक नाटक लिखे जाते रहे हैं। अनुवाद भी बराबर हुए हैं। परन्तु कला की दृष्टि से नाटक जीवन के अधिक-अधिक निकट आता गया है। द्विवेदी-काल में पश्चिमी नाटक के प्रभाव में आ कर हिन्दी नाटक ने प्रस्तावना को छोड़ दिया था; नाटक दृश्यों और अंकों में विभाजित हो गया था; कथोपकथन में पद्य का प्रयोग समाप्तप्राय था। आत्मकथन और स्वगत का प्रयोग अत्यंत सीमित हुआ—परन्तु गीतों और भावात्मक गद्य के कारण कविता का वातावरण अभी चलता था। युद्ध के बाद यथार्थवादी नाटककारों ने गीतों और भावात्मक गद्य का पूर्णतः बहिष्कार कर नाटक को जीवन की गद्यात्मकता के निकट लाने की चेष्टा की, विशेषकर सामाजिक नाटकों में। इब्सन और बर्नार्ड शा का प्रभाव पड़ा। इसके कारण नाटककार में व्यक्तित्व का विकास हुआ और उसने लंबी-लंबी भूमिकाएँ लिखना शुरू कीं और प्रत्येक अंक के पहले रंगमंच के लिए विशद रूप से संकेत लिखना प्रारम्भ किये। इस प्रवृत्ति ने रोमांसों के विकास को रोक दिया। इस प्रकार के नाटकों के संकेत नहीं लिखे जा सकते थे।

नाटक को छोटा करने की प्रवृत्ति भी चली। सिनेमा का अधिक प्रचलन था जहाँ प्रेक्षक को केवल दो-तीन घंटों में ही अच्छी सामग्री मिल जाती थी। इस आदर्श पर कथावस्तु को छोटा बनाकर कथातत्त्व की प्रतिष्ठा अधिक होने लगी। सात अंकों से उतर कर पाँच अंकों और अंत में तीन अंकों में ही नाटकीय कथा समाप्त की जाने लगी। संघर्ष और उसके फलस्वरूप मनोविज्ञान को प्रधान स्थान मिला। परन्तु यथार्थवाद की प्रतिष्ठा के कारण जहाँ नाटक में साधारण जीवन और साधारण पात्रों का प्रवेश हुआ, वहाँ काव्यात्मकता और भावात्मकता को प्रश्रय नहीं मिल सका। साधारण जीवन में इस प्रकार की वस्तुओं को कोई स्थान नहीं मिल सकता था। यथार्थवादी

नाटक की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि उसमें प्लाट, पात्रों के मनोविज्ञान और नाटकीय संघर्ष से अधिक कुछ वस्तु है। वह वस्तु है जीवन-दर्शन, जीवनतत्त्व या संदेश। इसके अभाव में अनेक यथार्थवादी सामाजिक नाटक नीरस बन गये हैं।

महायुद्ध के समय से कुछ पहले ही चित्रपट का आविष्कार हो गया था। उन्होंने पारसी कम्पनियों को अत्यन्त शीघ्रता से स्थानच्युत कर दिया और एक विशेष प्रकार के नाटकों की रचना को प्रेरणा दी जिनके लिए यह आवश्यक नहीं था कि वह साहित्य और नाटकीयता को मिला कर चलते। इन सिनेमा-नाटकों को पहले पारसी-रंगमंच के लेखक मिले और इस प्रकार एक तरह से पारसी रंगमंच के विकास की उद्धरणी हो गई।

परन्तु पारसी रंगमंच फिर भी थोड़े बहुत प्रेमियों को इकट्ठा करके चल रहा है। हिन्दी का कोई अपना रंगमंच नहीं है, कम से कम स्थायी रंगमंच नहीं है, इससे हिन्दी-प्रदेश की जनता की जीवित, जाग्रत रंगमंच कलाकारों को देखने की प्रवृत्ति की तृप्ति इसी विप्रान्तीय रंगमंच से होती है। वास्तव में पारसी रंगमंच किसी विशेष प्रान्त से संबंधित नहीं है। वह स्वयम् एक स्वतंत्र संस्था है जिसने प्रत्येक प्रान्त के नाटकों को प्रभावित किया है और उनके रंगमंच के विकास में बाधा पहुँचाई है।

महायुद्ध के बाद नारायणप्रसाद बेताब, राधेश्याम कथावाचक, पं० हरिकृष्ण जौहर और आगा हश्र, पारसी रंगमंच के महत्वपूर्ण लेखक रहे। इनकी कथावस्तु अधिकतर पौराणिक है परन्तु कभी-कभी यह सामाजिक कथानक को भी लेकर चलते हैं। इन नाटककारों ने रंगमंच की आवश्यकताओं का अच्छा अध्ययन किया है और जहाँ उन्होंने पारसी स्टेज का ध्यान छोड़ कर साहित्य की ओर मुख किया है वहाँ उन्होंने वीर अभिमन्यु (कथावाचक) महाभारत (बेताब) और बुद्धदेव (व्याकुल) जैसी श्रेष्ट कृतियाँ हमें दी हैं जो एक साथ अभिनेय और पाठ्य हैं। केवल साहित्यिक लेखक हिन्दी रंगमंच की अनुपस्थिति के कारण रंगमंच की आवश्यकताओं से परिचित न हो सके और उनके कथानक कल्पना के रंगमंच पर दौड़ने के कारण अधिकतः अनभिनेय और कभी-कभी हास्यास्पद हो गये हैं।

अनुवादों की मात्रा कम हो गई और जो अनुवाद हुए उनमें साहित्यिकता और कला ऊँचे दर्जे की थी। पहले कुछ वर्ष बँगला के ही नाटक कुछ अधिक

अनुवादित हुए परन्तु धीरे-धीरे इतर प्रान्तों और पश्चिमी देशों के महत्वपूर्ण नाटकों का अनुवाद हुआ।

बँगला अनुवादकों में रूपनारायण पांडेय और चन्द्र वर्मा काम करते रहे। कुछ अन्य अनुवादक भी आये। इधर धन्यकुमार जैन ने परशुराम के प्रहसनों और रवि बाबू के नाटकों का अनुवाद करके नई शैली और नये विषयों की ओर हिन्दी लेखकों का ध्यान आकर्षित किया। जी० पी० श्रीवास्तव ने सारे मौलियर साहित्य को हिन्दी में लाने का प्रयत्न किया और लक्ष्मीनारायण मिश्र ने इसी प्रकार हिन्दी पाठकों को इब्सन से परिचित कराना चाहा। टालस्टाय और गाल्सवर्दी के नाटक भी अनूदित हुए। नये युग में कृषकों, मजदूरों और पूँजीपति की समस्याओं से देश और समाज में जो संघर्षपूर्ण परिस्थिति उत्पन्न हो गई थी वह बहुत कुछ इन पश्चिमी लेखकों की रचनाओं में प्रतिफलित थी, अतः लेखकों का ध्यान इन्हें अनुवादित करने की ओर गया। इन अनुवादकों में लल्लीप्रसाद पांडेय, क्षेमानन्द राहत, रामलाल अग्निहोत्री, पदुमलाल बख्शी, ललिताप्रसाद शुक्ल, प्रेमचन्द, डा० लक्ष्मणस्वरूप और डा० धीरेन्द्र वर्मा मुख्य हैं।

उपन्यास

द्विवेदी युग में रचनात्मक साहित्य के क्षेत्र में उपन्यास का ही बोलबाला रहा। अनुवाद और मौलिक दोनों प्रकार की उपन्यासों का एक बड़ा साहित्य सामने आया।

सब से अधिक अनुवाद बंगला उपन्यासकारों के हुए। अनुवाद करने वालों में बाबू गोपालराम गहमरी, पं० ईश्वरीप्रसाद शर्मा और पं० रूप-नारायण पांडेय विशेष उल्लेखनीय हैं। जिन बंगला लेखकों का अनुवाद हुआ उनमें मुख्य हैं बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय, रमेशचन्द्र दत्त, हारणचन्द्र रक्षित, चंडीचरण सेन, शरच्चन्द्र और चारुचन्द्र। इनके उपन्यासों की विशेषता यह थी कि इनमें से अधिकांश गार्हस्थ्य जीवन के विषय में लिखे गये थे, परन्तु उस समय हिन्दी लेखकों पर इनका प्रभाव बहुत कम पड़ा। उन्होंने कुटुम्ब को लेकर आख्यायिकायों की रचना अवश्य की, परन्तु उपन्यास के विषय समाज और राजनीति ही रहे। यह बात नहीं कि हिन्दी क्षेत्र में कौटुम्बिक समस्याएँ बंगाल-प्रदेश से कम थीं। बात यह है कि उस समय

उपन्यास-जगत् पर द्विजेन्द्रलाल राय के ऐतिहासिक नाटकों का प्रभाव पड़ा। बाद में देवकीनन्दन खत्री के अनुकरण में अनेक ऐयारी, तिलिस्मी और जासूसी उपन्यास लिखे गये। राजनैतिक आन्दोलनों ने मौलिक रचना के लिए सामग्री उपस्थित की, परन्तु उसका उपयोग बाद के वर्षों में अधिक हुआ।

अंग्रेज़ी उपन्यासों के, अनुवाद बहुत कम हुए। लोग नैतिक बन्धनों और जीवन की प्रतिदिन की बंधी हुई नियमितता से ऊब गये थे। अतः जासूस, तिलिस्म और चमत्कार उन्हें प्रिय थे। इसी से हम वासनापूर्ण और आश्चर्य-प्रधान रेनाल्ड के उपन्यास इस युग को विशेष प्रिय पाते हैं। स्वतंत्रता की भावना का जन्म रूस-जापान-युद्ध (१९०५) के बाद ही हो गया था। इसने अनुवादकों का ध्यान प्रसिद्ध 'अंकिल टाम्स केबिन' (टाम काका की कुटिया) की ओर आकर्षित किया।

उर्दू के कई उपन्यास अनुवादित हुए। उर्दू अनुवादकों में गंगाप्रसाद गुप्त महत्वपूर्ण हैं। मराठी और गुजराती से भी अनुवाद उपस्थित किये गये परन्तु अपेक्षाकृत कम। मराठी अनुवादकों में रामचन्द्र वर्मा मुख्य हैं।

मौलिक उपन्यासकारों में १९वीं शताब्दी उत्तरार्द्ध के दो प्रसिद्ध उपन्यासकार बाबू देवकीनन्दन खत्री और पं० किशोरीलाल गोस्वामी अपनी रचनाएँ प्रकाशित करते रहे। इनके विषय में हम पहले लिख चुके हैं। इन दोनों ने हिन्दी उपन्यास-साहित्य को अत्यन्त शीघ्रता से बहुसंख्यक रचनाएँ दीं। खत्री के उपन्यासों की बहुसंख्यता के विषय में हम पहले कह चुके हैं। यहाँ हमें यह बताना है कि 'उपन्यास' पत्र के प्रकाशन के बाद पं० किशोरीलाल गोस्वामी ने ६५ छोटे-बड़े उपन्यास लिख कर प्रकाशित किये हिन्दी उपन्यास-पाठकों की वृद्धि का श्रेय इन्हीं दोनों सज्जनों को है।

अन्य लेखकों ने भी उपन्यास-साहित्य के निर्माण में योग दिया। हरिऔध ने १९०७ में ठेठ हिन्दी भाषा में 'अधखिला फूल' लिखा। पं० लज्जाराम मेहता ने हिन्दू गृहस्थ (१९०४), बिगड़े का सुधार (१९०७) और आदर्श हिन्दू (१९१५) की रचना की। बाबू ब्रजनंदन सहाय ने बँगला के भावात्मक उपन्यासों के ढंग पर 'सौन्दर्योपासक' और 'राधाकान्त' (१९१२) उपन्यास लिखे।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि इस युग में कोई भी नवीन उपन्यासकार नहीं हुआ। इस युग के प्रधान उपन्यासकार १९वीं शताब्दी में कार्य आरम्भ कर चुके थे।

२०वीं शताब्दी के आरम्भ में तिलिस्मी और रोमांचक उपन्यास बहुत मात्रा में लिखे गये। चंद्रकांता, चंद्रकांता संतति और भूतनाथ, कटोरा भर ख़ून, शशिकांता, महेन्द्रकांता—तिलिस्मी उपन्यासों की यह परंपरा दशाब्द बाद तक खूब चली। किशोरीलाल गोस्वामी, रामकृष्ण वर्मा आदि ने प्रेम-रहस्य से पूर्ण रोमांचक उपन्यास भी उपस्थित किये जिनमें समाज-सुधार था नहीं—केवल प्रेमविरह के सूत्र पर बहुत कुछ नाटक-परंपरा का आधार लेकर कथा खड़ी की गई थी। इनके अतिरिक्त लगभग इसी श्रेणी के ऐसे अधिक-संख्यक उपन्यास थे जिनमें (जैसे 'सौन्दर्योपासक' में) उपन्यास का दृष्टिकोण प्लॉट (कथावस्तु) और भाषा-शैली के संबंध में कवि का होता था। इन्हें हम भाव-प्रधान उपन्यास (Sentimental Novel) कह सकते हैं।

सामाजिक उपन्यासों की तो बाढ़ ही आ गई थी। हिन्दू समाज में एक नहीं, दस-बीस बुराइयाँ थीं ही। भाई-भाई के झगड़े, स्त्री का निम्न स्थान, बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, बहुविवाह—आदि, आदि। हम देखते हैं कि किशोरीलाल गोस्वामी से इस प्रकार के उपन्यासों का आरम्भ पिछली शताब्दी में ही हो गया था, परन्तु उनकी संख्या में विशेष वृद्धि इसी युग में हुई। इसके अतिरिक्त उनमें समय के साथ कलात्मकता भी आती गई। द्विवेदी-युग में उपन्यास के पाठक दो श्रेणी के थे—

(१) साधारण जनता जो व्यवसाय आदि करती थी और मनोरंजन के लिए उपन्यास पढ़ती थी। ऊपर के उपन्यास, विशेषकर तिलिस्मी और जासूसी उपन्यास, इसी जनता की आवश्यकता पूर्ति करते थे, परन्तु उच्चवर्ग की जनता, विशेषकर नवीन अंग्रेज़ी-पढ़ी, इनसे असंतुष्ट थी।

(२) इस उच्चवर्ग की जनता ने बंगाली अनुवादों की ओर रुचि प्रदर्शित की। इसी के लिए बंकिमचंद्र, प्रभात मुकर्जी आदि के कई-कई अनुवाद हुए। वास्तव में, इन अनुवादों ने ही सुन्दर लेख उत्पन्न किये। क्योंकि इनके उस समय के कितने ही पाठक अच्छे उपन्यासों की माँग करने लगे और कितने ही इन्हें पढ़-पढ़ कर लेखक बने। सच तो यह है कि पिछली प्रकार के जासूसी, ऐयारी, तिलिस्मी, यौन-प्रधान, भाव-प्रधान उपन्यासों के कारण इस समय का उपन्यास-साहित्य इतना लांछित था कि साधारण मध्यवर्गीय घर में उनका प्रवेश हो ही नहीं सकता था। हम जानते

है कि इसके मूल में मध्यवर्ग की अति-नैतिक चेतना थी, परन्तु स्वयम् इन उपन्यासों का दोष भी कम नहीं था। अधिकांश प्रेम-सम्बन्धी उपन्यास "नायिकाभेद" के आधार पर खड़े किए जाते थे और पूर्वराग, मिलन, अभिसार विवाह में समाप्त होते थे। इसी दृष्टिकोण के कारण भाषा की दृष्टि से भी वे असंयत थे। कहीं दूती, कहीं पत्र की योजना। असफल होने पर लाञ्छना के भय से विषपान और आत्महत्या! पग पग पर दुःसाहस! इस प्रकार के उपन्यास उस समय के मध्य-वर्ग के समाज को ग्राह्य नहीं हो सकते थे यद्यपि निम्नवर्ग में उनका एकछत्र राज्य था। जो जनता एकदम नायिका-भेद और "समस्यापूर्ति" के वातावरण में रह रही थी, उससे अन्य किसी प्रकार की आशा करना आकाशकुसुम की आशा करना होगा।

महायुद्ध के बाद हिन्दी के उपन्यास साहित्य में विषय और कला की दृष्टि से कहीं अच्छा साहित्य उपस्थित हुआ परन्तु पिछली कई त्रुटियाँ चलती रहीं—

(१) कथा के विस्तार और घटनाओं के विस्तार में असंतुलन

(२) असंबद्धित सामग्री का प्रवेश—पांडित्य-प्रदर्शन की इच्छा से या प्रमादवश

(३) वस्तुस्थिति से परिचय न होने के कारण गलत और भ्रामक विस्तार

(४) अति-प्राकृत घटनाओं का समावेश

यद्यपि जैसे-जैसे कलात्मकता की वृद्धि होती गई, इन दोषों का परिहार होता गया, फिर भी प्रेमचन्द के रंगभूमि (१९२२) और उग्र के चंद हसीनों के ख़तूत (१९२५-२६) में भी ये त्रुटियाँ किसी न किसी अंश में मिल ही जाती हैं। महायुद्ध के पहले चरित्र प्रधान और मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का अधिक विकास नहीं हुआ, परन्तु महायुद्ध के बाद हमारे उपन्यास-साहित्य में इसी प्रकार के उपन्यासों की प्रधानता हो चली। मन्नन द्विवेदी का 'कल्याणी' (१९१८) शिवपूजनसहाय का 'देहाती दुनिया' (१९२५), प्रेमचन्द के सेवासदन (१९१८), प्रेमाश्रम (१९२१), रंगभूमि (१९२२), कायाकल्प (१९२४), कौशिक की 'माँ' आदि इसी प्रकार के उपन्यास हैं। इनका विषय समाज और राजनीति-क्षेत्र के आन्दोलन हैं और ये एक प्रकार से समसामयिक इतिहास के रूप में भी

उपस्थित किये जा सकते हैं। चरित्र-चित्रण इनमें प्रधान बात है परन्तु चरित्र का विकास कदाचित् प्रेमचन्द और कौशिक के उपन्यासों को छोड़कर और कहीं नहीं है। इस चरित्र-चित्रण को हाथ में लेते ही दो दल हो गए : एक यथार्थवादी, दूसरा आदर्शवादी। प्रेमचन्द की कला में दोनों का समुचित मेल होने के कारण उनके उपन्यास महायुद्ध के बाद के दशाब्द के श्रेष्ठतम उपन्यास हैं। परन्तु वहाँ भी अधिकांश चरित्र या सफ़ेद हैं या काले। प्रेमचंद मनुष्य-चरित्र के दोनों पक्ष उपस्थित नहीं करते। वास्तव में उस समय के उपन्यासकार किसी एक महान चरित्र की कल्पना नहीं करते थे जिससे चारों ओर कहानी एक सूत्र में बँध कर चलती। फलतः, कथासौष्ठव शिथिल होता और दैवी एवं आकस्मिक घटनाओं की योजना, कथासूत्र टूट न पाये इसलिए, आवश्यक हो जाती।

महायुद्ध के बाद ही एक ऐसा कथाकार वर्ग उठ खड़ा हुआ जो 'कला कला के लिए है' सिद्धान्त को अपना आदर्श मान कर चलता था। यह 'कला कला के लिए' की चिल्लाहट पिछले युग की अतिनैतिकता के प्रति प्रतिक्रिया थी जिसमें ऑस्कर वाइल्ड, रेनाल्ड और ज़ोला जैसे पश्चिमीय कलाकारों को गुरु मानकर चलना होता था। इस कलावर्ग के प्रतिनिधि चतुरसेन शास्त्री, ऋषभचरण और उग्र थे। 'दिल्ली का 'दल्लाल', 'मास्टर साहब' आदि अनेक उपन्यासों ने हिन्दी जगत में एक बवंडर खड़ा कर दिया यहाँ तक कि १६३०—३२ में घासलेटी का आन्दोलन इसी वर्ग के विरोध मे पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने चलाया। इस वर्ग ने अपने विषय के लिए वेश्याओं, दल्लालों, चाकलेटों और विकृत मनुष्यों को चुना। परन्तु भाषा और शैली के कलात्मक प्रयोग की दृष्टि से, चाहे विषय की दृष्टि से न भी हो, इनका स्थान महत्वपूर्ण है। उग्र के 'चंद हसीनों के ख़तूत' (उपन्यास) और 'कला', 'बुढ़ापा' जैसी कहानियों में हमें जिस भाषा-शैली का पहली बार परिचय मिला वह शक्ति, सजीवता, चित्रात्मकता और प्रवाह में अद्वितीय थी। इस भाषा-शैली के आकर्षण के कारण यह वर्ग बहुत ही शीघ्र अत्यंत लोकप्रिय हो गया था। यदि इस उत्कृष्ट भाषाशैली के साथ विषय भी उच्च रहा होता तो हिन्दी इस वर्ग के साहित्य से धन्य हो गई होती।

संक्षेप में, महायुद्ध के बाद कई मौलिक उपन्यासकारों ने प्रवेश किया और हमारे उपन्यास-साहित्य में साहित्य के सब अंगों से अधिक वृद्धि हुई।

इस समय के प्रमुख उपन्यासकार प्रेमचन्द, विश्वम्भरनाथ कौशिक, वृन्दावनलाल वर्मा, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, सुदर्शन, चंडीप्रसाद हृदयेश, अवधनारायण, चतुरसेन शास्त्री, पांडेय बेचन शर्मा उग्र, ऋषभचरण जैन, विनोदशंकर व्यास, जयशंकरप्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, जैनेन्द्र-कुमार जैन, गिरिजाशंकर गिरीश, शिवपूजन सहाय, सियारामशरण सिंह, जी० पी० श्रीवास्तव और अन्नपूर्णानन्द हैं।

इन लेखकों में एक वर्ग सुधारवादी और सामंजस्यवादी है। इसके प्रतिनिधि लेखक प्रेमचन्द हैं। कौशिक सुदर्शन, और कितने ही अन्य उपन्यासकार इसी वर्ग में हैं। यह वर्ग सामाजिक और राजनैतिक विषमताओं की ओर ध्यान अवश्य दिलाता है और उनके प्रति सक्रिय विरोध की शिक्षा भी देता है, परन्तु अन्त में रूढ़िवाद और नवीन दृष्टिकोण में गठबन्धन कर विरोध को समाप्त कर देता है। यह वर्ग गांधीवाद का पूर्ण प्रतिनिधि है और इसकी कला पर टाल्सटाय, गाल्सवर्दी, आदि पश्चिमी लेखकों का प्रभाव है। इसकी रचना में नैतिक दृष्टिकोण की प्रधानता है।

दूसरा वर्ग इस वर्ग के नितान्त विपरीत है। चतुरसेन शास्त्री, उग्र और ऋषभचरण जैन इसी वर्ग में आते हैं। इनमें कहानी-कला की उत्कृष्टता और लोकप्रियता की दृष्टि से उग्र सब से अधिक महत्वपूर्ण हैं। यह वर्ग नैतिकता को महत्व नहीं देता। वह ऐसी सामाजिक कुरीतियों पर दृष्टिपात करना अपना धर्म समझता है, जिनको पिछले वर्ग ने या तो अग्राह्य समझ कर छोड़ दिया या अत्यन्त संकोच से ग्रहण किया। वह उपन्यास को जहाँ एक ओर कला मानता है वहाँ दूसरी ओर प्रचार का बलवान साधन भी। उसकी शैली और विषय दोनों यथार्थवादी हैं। परन्तु जीवन के अधिक गंभीर पहलुओं को वह छोड़ देता है। उसका जीवन-दर्शन मनुष्य के जीवन की गहराई तक नहीं पहुँचता। यह वर्ग 'कला कला के लिए' सिद्धान्त का समर्थक और उपयोगितावादी है। इस वर्ग का हिन्दी के पुराण-प्रिय आलोचकों ने अत्यन्त विरोध किया और उसके विरुद्ध एक सगंठित अन्दोलन खड़ा किया जिसके कारण इस वर्ग को बड़ी लोकप्रियता मिली। परन्तु अब धीरे-धीरे इस वर्ग ने समाज से सन्धि कर ली है।

प्रतापनारायण श्रीवास्तव और वृन्दावनलाल वर्मा ने—जहाँ तक सामाजिक उपन्यास का संबंध है--प्रेमचन्द के दृष्टिकोण को ही सामने रखा है, परन्तु

वृन्दावनलाल ही इस युग के ऐसे लेखक हैं जिन्होंने किशोरीलाल गोस्वामी के ऐतिहासिक उपन्यासों के काम को आगे बढ़ाया। वे एक साथ रोमांस-लेखक, मध्ययुग के समाज और संस्कृति के इतिहासकार और कला में आदर्शवादी एवं सामंजस्यवादी हैं।

चंडीप्रसाद हृदयेश का स्वयम् अपना वर्ग है। उनके उपन्यास पिछले युग की याद दिलाते हैं या उनसे भी पीछे जाते हैं। वास्तव में वे उपन्यास से अधिक गद्य-काव्य हैं। उपन्यासकार ने चरित्र-चित्रण को शैली और काव्य-परता पर बलि कर दिया है। शिवपूजन सहाय ने पिछले युग में लिखना आरंभ कर दिया था परन्तु इनकी विशेष रचनाएँ इसी युग में आईं। दृष्टिकोण और कला में ये भी प्रेमचन्द वर्ग के साथ हैं। अब जी० पी० श्रीवास्तव और अन्नपूर्णानन्द को छोड़ कर (जो मुख्यतः प्रहसन-लेखक हैं) रहे जैनेन्द्र, निराला और अज्ञेय। जैनेन्द्र भी प्रेमचन्द की तरह सुधारवादी और आदर्शवादी हैं, परन्तु विषय, शैली और भाषा की दृष्टि से दोनों लेखक नितान्त भिन्न हैं। निराला और अज्ञेय ने नई उपन्यास-कला का सूत्रपात किया।

कविता

बीसवीं शताब्दी में ब्रजभाषा काव्य की परंपरा चलती रही और उसने अनेक उत्कृष्ट कवियों को जन्म दिया, परंतु ब्रजभाषा काव्य में कोई विशेष विकास उन्नीसवीं शताब्दी के बाद नहीं हुआ। बीसवीं शताब्दी में कविता के लिए नई भाषा का प्रयोग किया गया। यह भाषा खड़ी बोली थी जो शताब्दियों पहले से कुरु-पांचाल प्रदेश में जन-भाषा (बोली) के रूप में चली आ रही थी। 'हिन्दवी साहित्य' के शीर्षक से हमने इस भाषा के उस साहित्य पर विचार किया है जो १२वीं शताब्दी के बाद विशेषतः मुसलमानों द्वारा रचा गया। मसूदी (१०४५—११२१), फ़रीद (११७३—१२६५), खुसरो (१२५३—१३२५), ख्वाजा मुहम्मद चिश्ती (१५३९—१६१४), कुली कुतबशाह (१५८०—१६११) इस भाषा के प्रसिद्ध कवि थे। हिन्दी खड़ी बोली का प्राचीन काव्य-साहित्य इतना विस्तृत नहीं है, परंतु कबीर (१३९९—१५१८) और नानक (१४६९—१५३९) का साहित्य हिन्दी खड़ी बोली का साहित्य ही माना जायेगा। पं० रामचंद्र शुक्ल ने जिसे सधुक्कड़ी बोली कहा है, वह खड़ी बोली का ही अन्य भाषा-मिश्रित रूप है। १७-१८वीं शताब्दी में खड़ी बोली के उर्दू रूप का काव्य-क्षेत्र में व्यापक प्रयोग हुआ।

इसके बाद और भी कितने ही कवियों के खड़ी बोली के उदाहरण मिलते हैं। 'मीर' की भी बहुत सी कविताएँ खड़ी बोली में हैं। 'वली' कहते हैं—

दिल 'वली' का ले लिया दिल्ली ने छीन
जा कहो कोई मुहम्मद शाह सों

शाह मुबारक का शेर है—

मत कहर सेती हाथ में ले दिल हमारे को
जलता है क्यों पकड़ता है जालिम अंगारे को

खड़ी बोली पर एक ओर साहित्य-साम्राज्य की अधिष्ठात्री ब्रजभाषा का प्रभाव पड़ता गया और दूसरी ओर फ़ारसी का। इसीलिए वली आदि के शेरों पर ब्रजभाषा का प्रभाव स्पष्ट है। खुसरू की कविता का मिलान करने पर यह पता चल जाता है कि खड़ी बोली किस प्रकार अपना रूप बदल रही है।

कबीर ने बहुत से स्फुट भजन, दोहे आदि खड़ी बोली में कहे हैं। इनमें बहुत से तो छप गये हैं, बाक़ी अब भी मौखिक रूप से चलते हैं—

अरे साईं ने मँगाया
ईंधन के हित लकड़ी लइयो,
वन उपवन के पास न जइयो।
सूखी गीली मती सतइयो,
लइयो गट्ठा भर कै रे साँईं ने मँगाया ॥
भोजन के हित आसन लइयो...इत्यादि

नानक की कविता में भी खड़ी बोली को स्थान मिला है—

सांसे मांसे जीव तुम्हारा, तू है खरा पियारा।
नानक शायर यूं कहत है सच्चे परवरदिगारा ॥

'ज़फ़र' की पहेली है—

सुन री सखी तू मेरी पहेली।
बाबुल घर थी मैं ही अकेली ॥
माई बाप ने लाड़ से पाला।
और समझा घर का उजियाला ॥

प्राचीन कवियों के उदाहरण में यह बात ध्यान देने योग्य है कि उनकी कविता अधिकतर ब्रजभाषा के प्रभाव से मिश्रित होती थी परन्तु विशुद्ध खड़ी बोली के भी अनेक उदाहरण मिलते हैं।

दादूदयाल (१६वीं शताब्दी) के दो दोहे इस प्रकार हैं—

(१) पूरन ब्रह्म विचारिये, सकल आतमा एक।
काया के गुन देखिये, नाना बरन अनेक॥
(२) बुद्धि विवेक विचार बिन मानुष पशू समान।
समुझाये समुझइ नहीं दादू परम अज्ञान॥

१७वीं शताब्दी में आनन्दघन ने 'विरह-लीला' नामक ग्रन्थ लिखा। यह लगभग खड़ी बोली में ही है—

सलोने श्याम प्यारे क्यों न आओ।
दरस प्यासी मरें तिनको जिवाओ॥
कहाँ हो जू कहाँ हो जू कहाँ हो।
लगे ये प्राण तुम सो हैं जहाँ हो॥

१८वीं शताब्दी में सूदन ने सुजान-चरित्र में कहीं-कहीं खड़ी बोली की कविता लिखी है—

(१) रूपसिंह, तेरा चचा और सआदत खान।
है सलूक पर पुस्त से दूना किया सुजान॥
(२) गहल सराइ सैरवाने बूआ बू बू करौ,
मुझे अपसोच बड़ा बड़ी बीबी जानी का।
आलम में मालूम चकत्ता घराना यारौं,
जिसका हवाल है तनैया जैसा तानी का।
खने खाने बीच में अमाने लोग जाने लगे,
आफत ही जानो हुआ ओज दहकानी का।
रब की रज़ा है, हमें सहना बला है वख़्त,
हिन्दू कागज है आया और तुरकानी का।

लल्लूलाल प्रेमसागर में—

जो बैरी खैंचे तरवार, करै साधु ताकी मनुहार।
समझ मूढ़ साँई पछताय, जैसे पानी आग बुझाय॥

इस समय तो (१८वीं शताब्दी में) खड़ी बोली का प्रभाव दूर-दूर तक आ पड़ा था क्योंकि गुजराती कवि दयाराम की भी बहुत सी कविता खड़ी बोली में मिलती है—

गफलत टोटा बड़ा दिवाना क्यों गफलत में पड़ा।
कर्म कूट में जनम गँवाया।
चाम दाम से चित न अघाया॥
सच्चा बेली कृष्ण न गाया।
अयक झपाटा आन लगेगा काल सीस पर खड़ा।
दिवाना क्या०—

मुसलमानों का राजाश्रय मिलने के कारण उर्दू को जो प्रौढ़ रूप प्राप्त हो गया वह हिन्दी को शीघ्र प्राप्त नहीं हो सका। १८वीं शताब्दी में जन-साहित्य ने खड़ी बोली कविता का प्रचुर प्रयोग किया। यह प्रयोग अधिकतः खड़ीबोली प्रदेश (आगरे इत्यादि) में ही हुए। भगत, खंड, नौटंकी, भड़ैती, रास आदि जन-मनोरंजनों में खड़ीबोली का विशद प्रयोग हुआ और उसका रूप मँजा।

भगत की रचनाओं के कारण खड़ीबोली की कविता दूर दूर के शहरों में लोकप्रिय हो सकी। सर्वसाधारण को भगतें कितनी पसंद हैं और उनके चित पर इनका कितना प्रभाव पड़ता है, इसका अनुमान वही कर सकता है जिसने या तो भगत देखी हों या पुस्तकें पढ़ी हो। लल्लूलालजी के वंशज मन्नूलालजी द्वारा रचे गये सीता-राम-चरित्र नामक खड़ी बोली के नाटक के कुछ अंश इस प्रकार हैं—

(१) जनक की सभा में रामचन्द्र लछमण का आना—

उसी वक्त दरम्यान सभा के
राजकुँवर दोनों आये।
जो तारों के बीच चन्द दो
जोति, छटा, छवि से छाये॥

(२) बाणासुर का बचन रावण के प्रति—

होय तुमारी खीस सुनो
दससीस बीस भुज भारी
शिव-पिनाक नहिं उठै कटैगी
आख़िर नाक तुम्हारी।
चुपके हो उठ चलो सभा से
मानों बात हमारी

लाज शरम रह जाय इसी में
मती बजाओ तारी ॥

(३) जयमाल डालने का वर्णन—

विजय माल लेकर चली, सिया सखिन के संग ।
रंगभूमि में उस समय बरस रहा रस-रंग ॥

बरस रहा रस रंग सिया ने
कर सरोज लेकर बरमाल
राघो जी के उर पहिराई
प्रेम-फंद का पड़ गया जाल
सखियां कहैं राम पद परसो
उर में सुधि कर गौतम बाल
प्रीति अलौकिक देख सिया की
मन में विहँसे रामदयाल ।

(४) परशुराम का वर्णन (सखियाँ राम से कहती हैं)

तुम तुलसी इसको कहो, हवशी हमें लखाय ।
राक्षस सा आता चला, देखो श्री रघुराय ॥

राक्षस सा आता है सामने
देखो श्री रघुकुल मणिराय
तुम तपसी कैसे बतलाओ,
हमको हबशै पड़ै लखाय
धरा कंध पर फरसा इसके,
ब्रह्मराक्षस जाना गाय
व्याकुल विकल कहैं सब सखियाँ
यह जम आज सबों को खाय

आगरे में ख्यालबाज़ी भी होती थी । वास्तव में सारे पश्चिमी हिन्दी-प्रदेश में (कानपुर-लखनऊ तक) ख़्यालबाज़ी और लावनी की धूम थी । इसका ढंग कुछ-कुछ मुशायरा जैसा था और यह एक प्रकार की आशु कविता की प्रतियोगिता थी । लोग ख्याल बना कर उसी वक्त कहते । कोई कोई पहले बनाये ख्याल भी गाते । कभी-कभी दो नामी ख़्यालबाजी में मुठभेड़ भी हो जाती है, एक दूसरे पर ख्याल में कटाक्ष करता, दूसरा ख्याल में ही उसका

उत्तर देता। कबीर (होली) में भी इसी तरह की प्रतियोगिता चलती थी। सच तो यह है कि इन्हीं कुरुचि-सुरुचि पूर्ण निम्नवर्गों की कविताओं ने साहित्यिक प्रयत्नों के लिए क्षेत्र तैयार किया। इसी प्रकार की अन्य रचनाओं का नाम 'खंड' था। खंड की कविता अधिकतः विशुद्ध खड़ीबोली होती है। ये अधिकांश मौखिक चलते थे, इसलिए लिपिबद्ध नहीं मिलते। इनकी कविता इतनी जोशीली होती थी कि कभी-कभी गाने वालों में लड़ाई और मार-पीट तक हो जाती। उच्च भावों से भरी अत्यन्त मनोरंजक वीररस-प्रधान कथाएँ इनमें पाई जाती हैं जैसे अमरसिंह राठौर, दयाराम गूजर आदि।

द्विवेदी-युग की काव्य-धारा में हिन्दी-कविता की वे प्रवृत्तियाँ पुष्ट हुईं जिनका प्रारम्भ भारतेन्दु हरिश्चंद ने किया था और जो हमारे पिछले काव्य-साहित्य की भावधारा से पूर्ण रूप से संबन्धित हैं। भारतेन्दु के समय काव्य की प्रगति विशेषतया तीन दिशाओं में थी—(क) वैष्णव काव्य-धारा, (ख) शृंगार प्रधान-काव्य और (ग) जातीय और राष्ट्रीय काव्य। पहली दो धाराओं का मूल भारतीय साहित्य की परम्परा में था और अंतिम समय और परिस्थितियों की उपज थी। डाक्टर इन्द्रनाथ मदन ने वैष्णव-काव्य को रोमांटिक काव्य कहा है क्योंकि उनके मत में वैष्णव काव्य सौन्दर्यानुभूति-प्रधान होने के कारण नैतिक प्रतिबन्धों के प्रति विद्रोह भी प्रगट करता है। परन्तु ठीक अर्थों में हम उसे रोमांटिक नहीं कर सकते। यह अवश्य है कि बाद में उसमें शृङ्गार की भावना स्थापित होने के कारण उसका शुद्ध नैतिक रूप दृष्टि से ओझल हो गया था। परन्तु जिस रूप में हम वर्तमान काव्य-धारा से परिचित हैं वह रूप से उसे कभी प्राप्त नहीं हुआ। वैष्णव-काव्य को रोमांटिक काव्य-धारा कहना उपयुक्त नहीं होगा। हाँ, सूफियों के प्रेम-साहित्य को उनकी अंतर्धारा की विशेषता की दृष्टि से हिन्दी का पहला रोमांटिक काव्य अथवा रहस्यवादी धारा कह सकते हैं।

द्विवेदी-युग में भारतेन्दु की काव्यधाराएँ पुष्ट हुईं। किसी दशा में मौलिकता ने नया जन्म नहीं दिया। परन्तु एक बात जो विशेष हुई वह यह थी कि शृंगार-काव्य की परम्परा का युग के बढ़ते हुए बुद्धिवाद और नवीन समाज के कड़े आदर्शों ने विरोध किया। और यह उचित भी था। जाति की क्षीण शक्ति को संयम बाँध कर उसे प्रगति की ओर बढ़ाने की आवश्यकता

थी। परिस्थितियाँ बदल चुकी थीं। कवि को अपना मुख मध्यवर्ग की ओर करना पड़ रहा था जिसने कर्म को प्रधानता दे दी थी और जिसके नैतिकता के आदर्श स्वार्थपूर्ण एवं कड़े थे।

इस युग का सबसे बड़ा महत्व यह है कि इसमें रीतिकाल तक चली आती हुई देश की काव्य-भाषा (ब्रजभाषा) के स्थान पर एक दूसरी उतनी ही प्राचीन समानान्तर बहने वाली काव्य-धारा को परिष्कृत करके साहित्य के उच्चासन पर बिठाने का सफल प्रयत्न हुआ। रीतिकालीन कवियों के सीमाबद्ध कविता के विषयों में परिवर्तन हुआ और कवियों ने देश-काल की स्थिति के साथ कंधे से कंधा मिला कर चलना प्रारम्भ किया। जो नये विषय कविता को मिले वह अधिकांश जातीय और राष्ट्रीय उत्थान एवं समाज-सुधार से सम्बन्धित हैं, परंतु इस युग में प्रकृति की ओर भी लेखकों ने दृष्टिपात किया। ये लेखक संक्रांति-काल के लेखक थे। अतः जैसे अनेक दिशाओं में उनके प्रयास शिशु-प्रयास रहे वैसा इधर भी रहा। उन्होंने प्रकृति को या तो अलंकारों की योजना के लिए भूमि में उतारा था या उसके नाना रूपों या व्यापारों की गिनती करके उसकी तालिका मात्र तैयार की। परन्तु ये प्रकृति के प्रति उनके नये दृष्टिकोण के विकसित होने के अभिनन्दनीय चिह्न थे।

द्विवेदी-युग में पहले-पहल निश्चित रूप से खड़ीबोली काव्य-भाषा के लिए प्रयुक्त हुई यद्यपि उसका प्रयोग थोड़ी मात्रा में भारतेन्दु-युग में भी हो चुका था। भारतेन्दु ने अपने कुछ नाटकों में खड़ीबोली पद्य का प्रयोग किया है, परन्तु एकाध स्थानों को छोड़कर उनका यह प्रयोग प्रहसन का रूप लिये है। पं० श्रीधर पाठक ऐसे पहले कवि थे जिन्होंने खड़ीबोली का गम्भीरता-पूर्वक काव्य-भाषा के लिए प्रयोग किया। उन्होंने अंग्रेज़ी से अनुवाद किये और प्रकृति एवं देशभक्ति संबंधी रचनाएँ इसी बोली में लिखीं परन्तु हमें यह भी स्मरण रहना चाहिये कि पं० श्रीधर पाठक मूलतः ब्रजभाषा के कवि थे। हरिश्चन्द और उनके सहयोगियों ने काव्य-क्षेत्र में नये विषयों का प्रयोग कराया था—स्वदेश-प्रेम, प्रकृति-निरीक्षण, समाज के किसी वर्ग को लेकर व्यंग, सामाजिक कुरीतियाँ—परन्तु काव्य-भाषा और छन्दों में कोई परिवर्तन न हुआ था, अतः जो कुछ परिवर्तन हुआ भी वह आमूल नहीं कहा जा सकता। हरिश्चन्द और उनके सहयोगियों के काव्य में वही रीति-कालीन अभिव्यंजना का ढंग था, वही मूर्तिमत्ता। ऐसी दशा में यह कहा

जा सकता है कि पं० श्रीधर पाठक ने ही अंग्रेज़ी काव्य का सहारा लेकर पहली बार क्रांति का मार्ग दिखाया।

पाठक का प्रकृति-वर्णन रूढ़िगत नहीं है। उन्होंने प्रकृति को अपनी आँखों से देखा है। पिछले षट्ऋतु-वर्णन आदि को देखते हुए यह एक क्रांतिकारी परिवर्तन था। उनके प्रकृति-वर्णन में आत्मानुभूति, तन्मयता या रहस्यवादिता का स्थान भले ही न हो, उसका रूप ऐसा बदला हुआ था कि उस समय के पाठकों की दृष्टि उसकी ओर गई और उनका विरोध हुआ। यही एक बात इस क्षेत्र में उनकी मौलिकता और नवीनता बतलाती है। एक दूसरी बात यह थी कि पाठक ने नये छन्दों का प्रवर्तन किया। उन्होंने अपने छंदों को जनता में प्रचलित लोकगीतों से चुना। इसका कारण, जैसा हम ऊपर दिखा चुके हैं, यह था कि उस समय तक लोकगीतों (लावनी, ख़्याल, सधुक्कड़ी गीत आदि) में खड़ीबोली का प्रयोग लगभग सारे हिन्दी-प्रदेश में हो रहा था और जो साहित्यिक पहली बार पद्य के क्षेत्र में खड़ीबोली का प्रयोग करता उसको इस लोकप्रिय जन-साहित्य का सहारा लेना पड़ता।

परन्तु इस प्रकार की स्वच्छन्द उद्भावना जो नये छन्दों के प्रयोग और प्रकृति के प्रति नये दृष्टिकोण को लेकर चली थी, पं० श्रीधर पाठक तक ही समाप्त हो जाती है। काव्य-क्षेत्र में उनका अनुकरण नहीं हुआ।

यद्यपि खड़ीबोली कविता के उन्नायक निश्चित रूप से पं० श्रीधर पाठक हैं, परन्तु शीघ्र ही दूसरी नई शक्ति आई जिसने इन्हें पीछे डाल दिया। हम देखते हैं कि पं० श्रीधर पाठक का नवीन दृष्टिकोण खड़ीबोली के जन-गीतों और जन-साधारण की सामान्य भावनाओं एवं अंग्रेज़ी साहित्य पर आश्रित था। इस नवीन शक्ति—पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी—का आधार दूसरा था। वे संस्कृत और मराठी काव्य को आधार मान कर चले। उन्होंने संस्कृत वृत्तों का चलन किया और खड़ीबोली काव्य में संस्कृत तत्सम शब्दों के बाहुल्य और संस्कृत पदावली के समावेश को स्थान दिया। ये बातें संस्कृत काव्य के ज्ञान पर आश्रित थीं। उनके काव्य में नीरसता, शुष्कता और कर्ण-कटु शब्दों का प्रयोग मराठी से आया। भाषा उत्तरोत्तर सीधी होती गई और बाद में वह रससिक्त भी हुई परन्तु शैली की इति-वृत्तात्मकता नहीं गई। हाँ, लाभ यह हुआ कि रीतिकाल की रूढ़ियों से हिन्दी

एकदम छूट गई। वास्तव में द्विवेदी-काव्य रीतिकाव्य के शृंगार-रस और रीति-प्रधानता के प्रति प्रतिक्रिया के रूप में उपस्थित हुआ था। यदि पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी साहित्य-क्षेत्र में अवतीर्ण न होते तो खड़ीबोली कविता का विकास प० श्रीधर पाठक की शैली पर स्वतंत्रता से होता और संस्कृत काव्य की ओर लोगों की दृष्टि न जाती।

द्विवेदी-युग में जो काव्य-रचना हुई उसकी अपनी एक बँधी प्रणाली थी जिसके प्रवर्तक पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी थे। इन्होंने भाषा की शुद्धता और सरलता की ओर आग्रह किया। व्रजभाषा और अवधी का जो मिश्रण खड़ीबोली कविता में रहता था, उसे दूर कर दिया। परन्तु द्विवेदीजी का ध्यान पद्य की भाषा के सुधार तक ही सीमित नहीं था। काव्य की शैली के संबंध में भी उनके कुछ विचार थे। इनमें दो मुख्य थे—संस्कृत वृत्तों का प्रयोग हो और भाषा गद्यसे मिलती हो। इन धारणाओं को लेकर उन्होंने पहले व्रजभाषा में ही रचना की, परन्तु शीघ्र ही वे उसे छोड़ बैठे; यही नहीं, उन्होंने खड़ीबोली को ही एकमात्र काव्यभाषा बनाने के लिए आन्दोलन चलाया। यद्यपि उस समय सरल गद्य की भाषा में कविता लिखना असंभव था और स्वयम् द्विवेदीजी उसमें असफल रहे, उनकी कविता में संस्कृत पदावली का प्रवेश हो गया और उनके द्वारा प्रभावित अन्य कवियों में उसका प्रचार बढ़ा। परन्तु द्विवेदीजी का यह आग्रह भी बराबर बढ़ता गया कि कविता की भाषा गद्य की व्यावहारिक भाषा होनी चाहिये। उनकी कविता में रस-संचार की ओर ध्यान नहीं दिया गया, उसमें इतिवृत्तात्मकता की प्रधानता है और सारा काव्य अभिधा मात्र है। न लक्षणा का प्रयोग है, न चित्रमयता का, न अलंकारों आदि का।

संयोगवश द्विवेदीजी को सरस्वती का सम्पादन मिल गया और इस पत्रिका के द्वारा उन्होंने केवल खड़ीबोली के पक्ष का समर्थन ही नहीं किया, वरन् उस भाषा में अनेक पद्यकारों (कवियों) को जन्म दिया। वास्तव में द्विवेदीजी की प्रेरणा से जो व्यक्ति काव्य-क्षेत्र में आये उनमें से अधिक पद्यकार ही थे, कवि नहीं। जैसा ऊपर कहा जा चुका है द्विवेदीजी ने स्वयम् काव्य-रचना कर अपने अनुयायियों के सामने एक आदर्श रखा। धीरे-धीरे अनेक कवि क्षेत्र में आये। इनमें से प्रसिद्ध हैं मैथिलीशरण गुप्त, माधव शुक्ल, रामचरित उपाध्याय, पं० रामनरेश त्रिपाठी, पं० गयाप्रसाद शुक्ल सनेही और पं० रूपनारायण पांडेय। इनमें से कुछ लेखक पहले भी

खड़ीबोली में काव्य-रचना करते आये थे परन्तु वह क्षेत्र में अकेले होने के कारण संकोची बने हुए थे। वे अब एक नये स्कूल का बल पाकर मुखर हो गये।

उन कवियों के अतिरिक्त कुछ अन्य कवि ऐसे भी थे जिन्होंने द्विवेदीजी के प्रभाव से बाहर रहकर खड़ीबोली में कविता की। इनमें लाला भगवानदीन दीन, राय देवीप्रसाद पूर्ण, पं० रामचन्द्र शुक्ल और पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध महत्वपूर्ण हैं।

हरिऔध ने अपना ध्यान उर्दू के छन्दों और ठेठ बोली की ओर किया। १९०० से पहले उन्होंने इसी प्रकार की कविताएँ लिखीं। उस समय तक उर्दू खड़ीबोली का बहुत बड़ा काव्य-साहित्य तैयार हो गया था, अतः हिन्दी खड़ीबोली काव्य के प्रारम्भिक दिनों में कवियों का ध्यान उसकी ओर जाना आवश्यक था। जब पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के आन्दोलन के कारण संस्कृत छन्दों और संस्कृत पदावली को हिन्दी कविता में स्थान मिल गया तो हरिऔध ने उस शैली में द्विवेदी-युग की सर्वोत्तम रचना (प्रियप्रवास, १९१४) लिखी। इसमें संस्कृत वृत्तों का प्रयोग बड़ी सुन्दरता से हुआ है। इसका प्रकृति-वर्णन अधिकांश परम्परा-पालन के लिए है। उसमें श्रीधर पाठक के प्रकृति-वर्णन के समान नवीनता और मार्मिकता नहीं। एक बात अवश्य है। हरिऔध ने संस्कृत की कोमल-कान्त-पदावली का सफलता से प्रयोग कर अन्य कवियों का ध्यान उसकी ओर खींचा। द्विवेदीजी के आग्रह और अनुकरण से जो कविता हो रही थी उसमें कर्कश और और कर्ण-कटु पदावली की प्रधानता थी। परन्तु शीघ्र ही हरिऔध फिर बोल-चाल और मुहावरों की ओर झुके। उनकी इस प्रकार की शैली के उदाहरण हैं चोखे चौपदे (१९२४) और पद्यप्रसून (१९२५)।

बाबू मैथिलीशरण गुप्त द्विवेदी-युग के प्रतिनिधि कवि हैं, यद्यपि उन्होंने परवर्ती काव्य की शैलियाँ भी अपनाई हैं। उनकी कविता में द्विवेदी-युग के अन्य कवियों की भाँति इतिवृत्तात्मकता की प्रधानता है परन्तु जहाँ अन्य कवि छोटी-छोटी मुक्तक कविताओं तक ही रह गये, वहाँ उन्होंने मुक्तकों के अतिरिक्त कथात्मक खंडकाव्यों और महाकाव्यों की भी रचना की। रंग में भंग, गुरुकुल, जयद्रथवध, विकटभट, पंचवटी, वैतालिक, साकेत, द्वापर, यशोधरा, नहुष, तिलोत्तमा, चंद्रहास लगभग एक दरजन से अधिक कथा-प्रधान

काव्यों से उन्होंने हिन्दी काव्य भंडार को अलंकृत किया है। इन काव्यों के विषय हिन्दू जातीयता, हिन्दू जातीय वीर एवं पौराणिक पुरुष या अवतार हैं। इन सब कथाओं में गुप्तजी मनुष्य के परिचित दुःख-सुख का वातावरण लेकर उपस्थित होते हैं। लगभग सभी में करुणामूलक मानवप्रेम, विश्वप्रेम एवम् बलिदान का संदेश है। इन काव्यों की परम्परा पिछले दो चार वर्ष तक चली है, और उन पर राष्ट्रीय आन्दोलनों एवं नवीन साहित्यिक आन्दोलनों का प्रभाव भी लक्षित है, परन्तु मूल रूप से वे द्विवेदी-युग के काव्य के ही अधिक निकट हैं। उनमें हमें उत्तरोत्तर विकसित कला का परिचय मिलता है। इनके अतिरिक्त उनकी अन्य प्रसिद्ध काव्य-रचनाएँ 'भारत-भारती' और 'झंकार' हैं। पहली पुस्तक हिन्दी की पहली राष्ट्रीय रचना है जिसमें देश एवं जाति की ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियों के प्रति पहली बार असंतोष प्रगट किया गया है। दूसरी पुस्तक भावप्रधान गीतों का संग्रह है जिनपर छायावाद-काव्य के विषय एवं शैली का प्रभाव स्पष्ट है।

द्विवेदी-काव्य के अध्ययन के लिए स्वयं पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के काव्य का विशद अध्ययन आवश्यक हो जाता है, यद्यपि उनके काव्य का अधिकांश भाग स्थायी साहित्य नहीं बन सकेगा। फिर भी उसका इतना ऐतिहासिक महत्व है कि उसकी अपेक्षा नहीं की जा सकती। वास्तव में मैथिलीशरण गुप्त के काव्य का बीज-रूप द्विवेदीजीकी रचनाओं में मिल जाता है। यदि द्विवेदीजी केवल गद्य ही लिखते रहते अथवा अपनी कविता-विषयक धारणाओं को गद्य तक ही सीमित रखते, तो कदाचित् वे नवीन काव्य में क्रांति उपस्थित न कर पाते। उनका काव्य उनकी काव्य संबंधी धारणाओं का प्रतिरूप है, परन्तु उन्हें उनकी वास्तविक पीठिका में रखकर देखने के लिए यह आवश्यक है कि सरस्वती से प्रकाशित आचार्य के सिद्धान्तों और अन्य कवियों की कविताओं के साथ-साथ उनका अध्ययन किया जाये। इस अध्ययन के फलस्वरूप उन प्रवृत्तियों का स्पष्ट रूप से उद्घाटन हो सकेगा जिन्हें हम द्विवेदी-युग के काव्य की मूल प्रवृत्तियाँ कहते हैं। सरस्वती में ही हमें मैथिलीशरण गुप्त के विकास की रूपरेखाएँ मिलेंगी। इनके अतिरिक्त पं० रामचरित उपाध्याय, पं० गिरिधर शर्मा नवरत्न, पं० लोचन-प्रसाद पांडेय का साहित्य भी सरस्वती के द्वारा ही प्रतिमास प्रकाश में आता रहा है। ये सब ऐसे कवि हैं जिन्होंने पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी की काव्य-मान्यताओं को स्वीकार कर लिया था और जो स्पष्टतः उनके प्रभाव में बढ़

रहे थे। सरस्वती एवं अन्य समसामयिक मासिक और साप्ताहिक पत्रिकाओं के पृष्ठों में ऐसे कितने ही कवि मिलेंगे जो अब विस्मृति के गर्त में जा पड़े हैं। द्विवेदीजी ने ऐसे लोगों के लिए भी कविता का मार्ग खोल दिया था जिसमें कवि-हृदय नाममात्र को न था, परन्तु जो इतिवृत्तात्मक गद्य-निबंध को तुकबंदी के रूप में उपस्थित कर सकते थे। काव्य की भाषा और गद्य की भाषा में कोई अंतर नहीं रहा था। इसीलिए प्रत्येक व्यक्ति कवि बन बैठता था। काव्यतत्वहीन ऐसी कविताओं से उस समय का सामयिक साहित्य भरपूर है। सारे हिंदी काव्य-साहित्य में ऐसी नीरस, काव्य गुणहीन, काव्य की विडंबना-स्वरूप कविताएँ कदाचित् ही मिलेंगी परन्तु इन्हीं रचनाओं में हमें श्रेष्ठ कवियों के विकास का रूप भी निर्धारित करना होगा और भावी युग के काव्यान्दोलनों के मूल कारण भी मिलेंगे।

ऐसे भी अनेक कवि थे जिनपर द्विवेदीजी का स्पष्ट प्रभाव नहीं था, परन्तु जो भारतेन्दु-युग से चली आती काव्य-परम्परा का पालन कर रहे थे। यह कवि या तो केवल ब्रजभाषा में ही रचनाएँ करते थे (वियोगी हरि, सत्यनारायण कविरत्न) या ब्रजभाषा और खड़ीबोली दोनों भाषाओं में लिखते थे। पिछली श्रेणी के महत्वपूर्ण कवि हैं राय देवीप्रसाद पूर्ण, नाथूराम शंकर, गयाप्रसाद शुक्ल सनेही (त्रिशूल), लाला भगवानदीन, पं० रामनरेश त्रिपाठी और पं० रूपनारायण पांडेय। इन कवियों ने सरस्वती के पृष्ठों से काव्य लिखना नहीं सीखा था, और चाहे वे किसी रूप में द्विवेदीजी के व्यक्तित्व और काव्य-संबन्धी उनकी मान्यताओं से प्रभावित रहे हों, परन्तु मुख्य रूप से वे एक विशद परम्परा की अंतिम शृंखला थे। अतः उनके काव्य में अन्य कवियों की अपेक्षा काव्य-गुण की मात्रा अधिक होना स्वाभाविक ही है, परन्तु हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि खड़ीबोली काव्य की न तो भाषा ही मँज पाई थी, न छंद ही प्रयोग से सरस हो सके थे। इस कारण इनकी खड़ीबोली की कविताएँ इनकी ब्रजभाषा की कविताओं से बहुत नीचे रह जाती है। उनमें हृदय, कल्पना और कला का समुचित समावेश नहीं हो पाता। वास्तव में ये कवि स्वतः समझ गये थे कि किन भावों के लिए किस भाषा का प्रयोग करना सहज होगा। शृंगार, वीर और भक्ति-काव्य के लिए वे परम्परा का पालन करते हुए ब्रजभाषा और कवित्त-सवैया छंद का प्रयोग करते परन्तु जन्मभूमि-प्रेम, जाति-गौरव, समाज-दशा, आचरण-संबंधी उपदेश तथा इसी प्रकार के अन्य सामयिक नवीन

विषय को अपनाते समय खड़ीबोली भाषा और नवीन छन्दों का प्रयोग करते। सत्यनारायण कविरत्न को छोड़कर ऐसा कोई भी कवि नहीं है, जिसने व्रजभाषा में विविध विषयों को अपना विषय बनाया हो। खड़ीबोली में भी कवित्त-सवैयों के लिखने की प्रथा भी चल पड़ी थी। शंकर, सनेही और गोपालशरण सिंह के खड़ीबोली के कवित्त और सवैये भाषा-सौष्ठव और रस-परिपाक की दृष्टि से ऊँची श्रेणी के हैं। अन्य कितने ही कवियों ने इनका अनुकरण किया। सनेही तो आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हुए और उन्होंने कविसमाजों, कविसम्मेलनों और कविता-पत्रों के द्वारा कानपुर में एक विशिष्ठ काव्यसमाज ही स्थापित कर लिया। द्विवेदी-युग की एक विशेषता "रसिक वाटिका" जैसी पत्रिकाएँ हैं जो कविताओं, समस्या-पूर्तियों और कवित्त-सवैयों के लिए ही प्रकाशित होती थीं। वास्तव में उस समय का अधिकांश साहित्य पत्र-पत्रिकाओं तक ही सीमित था।

जिन कवियों का हम ऊपर उल्लेख कर आये हैं वे द्विवेदी-काव्य की मरुभूमि में रसस्रोत बहा रहे हैं। उनमें सत्यनारायण कविरत्न व्रजभाषा-काव्य में और पंडित रामनरेश त्रिपाठी खड़ीबोली काव्य में सर्वोच्च हैं। पं० सत्य-नारायण कविरत्न जैसा कवि-हृदय भारतेन्दु के बाद किसी कवि को नहीं मिला था। उन्होंने जिस व्रजभाषाका प्रयोग किया वह काव्य-परंपरा के भीतर से मिली हुई व्रजभाषा नहीं थी। वह शुद्ध व्रज थी; उनके समय के व्रज की जीती-जागती बोलचाल की भाषा थी। यद्यपि "भ्रमरदूत" और "प्रेमकली" जैसी कविताओं में उन्होंने प्राचीन व्रज-कवियों की कला का आधार ग्रहण किया है, परन्तु स्वयं उनकी सहृदयता और चलती भाषा के मेल के कारण उनका काव्य अत्यंत हृदयग्राही है। इन परंपराबद्ध विषयों के अतिरिक्त उन्होंने सामयिक कविताएँ भी बड़ी मात्रा में लिखी हैं। इसी से उनकी कविता में सुन्दर विविधता के दर्शन होते हैं। स्वयं उनका जीवन अत्यंत कटु था, विषाद-पूर्ण था, परन्तु कुछ कविताओं को छोड़ कर उसकी छाप लगभग नहीं है। उन्होंने आत्मानुभव को भी कितने ही छन्दों में उपस्थित किया है। उनका काव्य जीवन से प्रसूत होने के कारण अभिनन्दनीय है। पं० रूपनारायण पांडेय की कविताएँ 'पराग' और 'वनविहंगम' के रूप में संग्रहीत हैं। इनमें से पिछली कविता में एक कपोत-कपोती की प्रेम-कहानी सहृदयता और सरसता से उपस्थित की गई है। लाला भगवानदीन प्राचीन काव्यशैली के ही पोषक थे। खड़ीबोली की उनकी कविता वीरों के चरित्र को लेकर वीरकाव्य के रूप

में ही प्रस्फुटित हुई है। 'पूर्ण' में हमें भारतेन्दुकाल की सारी प्रवृत्तियों के दर्शन हो जाते हैं—वही राजभक्ति समन्वित देशभक्ति, वही सामयिक आन्दोलनों की प्रतिध्वनि, वही समाज और धर्म-संबंधी उत्साह।

द्विवेदीकाल के दो कवियों—पं० रामनरेश त्रिपाठी और पं० मुकुटधर पांडेय—में हमें परवर्ती रोमांस काव्य, रहस्यवाद या छायावाद के सूत्र मिलते हैं। जैसा हम आगे विशद रूप से विवेचन करेंगे, छायावाद-काव्य में अदृष्ट सत्ता के प्रति प्रेमभावना, लौकिक प्रेम को अध्यात्मोन्मुख करने की प्रवृत्ति, प्रकृति के स्वच्छंद और रमणीय प्रसार की ओर दृष्टि पहले इन्हीं लोगों में मिलती हैं। त्रिपाठी ने मिलन, पथिक और स्वप्न खंडकाव्य लिखकर राष्ट्रीय और प्रेम-प्रधान कथाकाव्य में योग दिया। निम्नलिखित पंक्तियों से उनका वह मूलरूप प्रगट होगा जो छायावाद में अंकुरित हुआ है—

प्रतिक्षण नूतन वेष बना कर रंग बिरंग निराला।
रवि के सम्मुख थिरक रही है नभ में वारिदमाला॥
नीचे नील समुद्र मनोहर, ऊपर नील गगन है।
घन पर बैठे बीच में बिचारूँ, यही चाहता मन है॥

× × ×

सिंधु-विहंग तरंग पंख को फड़का कर प्रतिक्षण में
है निमग्न नित भूमि अंड के सेवन में, रक्षण में

उसी प्रकार मुकुटधर पांडेय की ये पंक्तियाँ भी छायावाद-काव्य का पूर्वरूप उपस्थित करती हैं—

हुआ प्रकाश तमोमय मग में,
मिला मुझे तू तत्क्षण जग में,
दंपति के मधुमय विलास में,
शिशु के स्वप्नोत्पन्न हास में,
वन्य कुसुम के शुचि सुवास में
था तव क्रीड़ा स्थान

इनके अतिरिक्त पं० बदरीनाथ भट्ट और श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख़्शी की १९१३—१६ तक की कुछ कविताओं में गीतात्मकता, भावना, व्यंजनाशैली और जीवन के प्रति दृष्टिकोण में परवर्ती काव्य का बीज है। सच तो यह है कि पहले दशाब्द के अंत होते-होते कवि, विशेषकर वे जो अंग्रेज़ी काव्य से

परिचित थे, द्विवेदी-युग की कविता की नीरसता, अभिधाप्रधान शैली, इतिवृत्तात्मकता और उसकी कल्पना और रस-शून्यता से ऊब गये थे। वे कम से कम, भाव-प्रकाशन की अधिक सरल, सरस और मार्मिक शैली की ओर बढ़ना चाहते थे। यद्यपि ये कवि प्रधान रूप से द्विवेदीयुग के ही कवि हैं क्योंकि उनके काव्य का अधिकांश उसी की विशेषताओं से विभूषित है, परन्तु उनका थोड़ा भाग अवश्य ही उन्हें द्विवेदी-युग से आगे बढ़ाकर छायावाद काव्य के उन्नायकों में रख देता है।

१९१३ ई० तक खड़ीबोली पद्य द्विवेदी स्कूल के कवियों द्वारा बहुत कुछ मँज गया था। भाषा संभल गई थी, यद्यपि तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक था, परन्तु संस्कृत पदावली का प्रयोग कम हो गया था। भाषा में ऊँची कल्पना और उत्कृष्ट चित्र उपस्थित करने एवं उसमें अपनी अनुभूति प्रगट करने की चेष्टा होने लगी थी। मुकुटधर पांडेय कुछ एक गीत भी लिख चुके थे जो रहस्यभावना को प्रगट करते थे। यदि भाषा और शैली में हठात् विदेशी प्रभाव के कारण परिवर्तन न हो जाता तो हिन्दी कविता में प्राचीनता और नवीनता का सुन्दर सामंजस्य हो पाता।

परन्तु ऐसा नहीं हो पाया। जिस प्रकार पिछले काल में पं० श्रीधर पाठक के नैसर्गिक मार्ग को छोड़ कर कविता क्षेत्र में द्विवेदीजी के कारण एक नई गति-विधि चल पड़ी थी, जिसके कारण एक दशाब्द तक कविता की प्रगति रुकी रही, उसी प्रकार रवीन्द्र बाबू के प्रभाव और अंग्रेज़ी १९वीं शताब्दी के रोमांटिक कवियों के प्रभाव के कारण कविता ने मुकुटधर पांडेय और श्रीधर पाठक को एकदम छोड़ कर एक नया रंग पकड़ा। इससे दस वर्षों में हिन्दी कविता जिस प्रौढ़ता पर पहुँच चुकी थी उसको धक्का लगा और कवि नये भाव और नई धारणाएँ लेकर नये सिरे से काम करने बैठे।

द्विवेदी-युग का काव्य इतिवृत्तात्मक था। कवि उससे ऊब चुके थे, विशेष कर जिन्होंने अंग्रेज़ी काव्य का अध्ययन किया था या जो अंग्रेज़ी तथा बंगला साहित्य के वातावरण से प्रभावित हो चुके थे। अतः काव्य-कला के क्षेत्र में द्विवेदी-युग की काव्य-धारा के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई। उसके अभिधा-प्रयोग के विरुद्ध लक्षणा का प्रयोग हुआ। कहीं-कहीं केवल अप्रस्तुत का संकेत होने लगा। ऐसे स्थलों पर अप्रस्तुत प्रस्तुत का प्रतीक होकर आता था। अतः काव्य अस्पष्ट हो गया। विशेषण का प्रयोग विशेष्य के लिए, भाववाचक शब्दों का अधिक प्रयोग, विशेषण-विपर्यय, अन्योक्ति-पद्धति का आश्रय,

लाक्षणिकता का बाहुल्य, वैचित्र्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति, शब्द-सौन्दर्य पर भाव-सौन्दर्य से अधिक दृष्टि—ये नये काव्य (छायावाद) की कुछ विशेषताएँ थीं। छायावाद-काव्य कल्पना-प्रधान था, भक्त-काव्य की भाँति अनुभूति-प्रधान नहीं। इसके साथ ही उसमें आलम्बन की अस्पष्टता भी थी। अद्वैत वेदांत का समर्थक होते हुए भी छायावादी कवि अज्ञात प्रियतम के प्रति प्रेम प्रगट करता है और उससे मिलने के लिए आकुल है। इस प्रियतम का कोई रूप-रंग नहीं, कोई लोक अथवा ऐसा स्थान विशेष नहीं जहाँ वह रहता हो, भारतीय धर्म या साहित्य में उसकी कोई परम्परा नहीं है। कवि अपने को प्रियतम से बिछुड़ी हुई पत्नी या प्रेमिका मानता है, परन्तु न उसकी शैली कोई स्पष्ट चित्र देती है, जैसा कबीर के रहस्यात्मक काव्य में होता है, और न आलम्बन का रूप ही साकार है, जैसा राधा-कृष्ण-काव्य में। वस्तुतः छायावाद काव्य का अनन्त अथवा प्रियतम शैली के रूप में प्रयुक्त होता है। वह काव्य की एक रूढ़ि-सी है। अतः इसमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि हिन्दी प्रदेश की जनता उसे क्यों न समझ सकी।

छायावाद-काव्य पर अंग्रेज़ी साहित्य का प्रभाव भी महत्वपूर्ण है। अनेक शब्द ऐसे प्रयोग में आये हैं जो अंग्रेज़ी भाषा के शब्दों के अनुवाद मात्र हैं। कहीं-कहीं पदावली के अनुवाद भी मिलते हैं। कवियों की प्रवृत्ति कल्पना के द्वारा आकाश-पाताल मिलाने की ओर है। अत्यन्त थोड़ा साम्य रखते हुए भी किसी अपरिचित अप्रस्तुत विधान में एक पूर्ण परिचित प्रस्तुत विधान आरोप किया जाता है। सन्दर्भ-रहित प्रतीकों का अत्यन्त अधिक प्रयोग हुआ है। इससे भावना जटिल हो गई है और भाव अप्रकाशित रह गए हैं। कवियों का ध्यान रूप और गुण-साम्य की अपेक्षा प्रभाव-साम्य पर अधिक है। रीतिकाल के स्त्री के अंगों के उपमान का एक बार फिर प्रयोग हुआ है, परन्तु नवीन रूप से लाक्षणिकता का सहारा लेकर। उपमान वही हैं, परन्तु उनका प्रयोग दूसरे ढंग पर हुआ है। द्विवेदी युग के कवियों ने शृङ्गार रस की पूर्णतः उपेक्षा की थी। उनमें नैतिकता की प्रधानता थी। छायावाद के कवि की स्त्री-विषयक भावना पिछले खेवे के कवियों के दृष्टिकोण से विपरीत थी। इस भावना को हम आश्चर्य-भावना कह सकते हैं। एक बात और थी। नये कवि सौन्दर्य के प्रेमी थे। वह स्त्री के सौन्दर्य की ओर इतने आकृष्ट थे कि उसे पूजा-भाव अथवा रहस्य-भाव से देखते थे।

इन नये कवियों में हम द्विवेदी-काव्य के कवियों के विरुद्ध नाद-सौन्दर्य

से विशेष प्रेम पाते हैं। इसीलिए अनेक निरर्थक पदावलियाँ केवल नाद-सौन्दर्य के कारण ही प्रयुक्त हुई हैं। कवियों की प्रवृत्ति कला की ओर अधिक है। उन्होंने प्रत्येक दिशा में कला-प्रियता का परिचय दिया है। यह कला-प्रियता विशेषतः नवीन छन्दों के प्रयोग के रूप में प्रगट हुई है। अंग्रेज़ी और बँगला साहित्यों के छन्दों से प्रभावित होकर अतुकांत और मुक्त छन्द का भी प्रयोग हुआ। यद्यपि अधिक मात्रा में नहीं।

छायावाद-काव्य में हम अप्राकृतिक में प्राकृत अमानव में मानव और जड़ में चेतन का आरोप पाते हैं। कवियों की दृष्टि आत्माभिव्यक्ति और वैयक्तिकता के प्रकाशन की ओर है परन्तु अनुभूति को कल्पना द्वारा उत्पन्न करने की चेष्टा और वास्तविक अनुभूति की तीव्रता न आने के कारण काव्य में अस्पष्टता-दोष आ जाता है। यद्यपि कवियों की दृष्टि समाज और राष्ट्र से हट कर मुख्यतः अपने व्यक्तित्व पर सीमित हो गई है, तथापि उनमें से कितने ही कवियों में विशाल सहानुभूति के दर्शन मिलते हैं।

इस नये काव्य में मानव-मनोभूमि को प्रगट करने की चेष्टा की गई है। इसीलिए हम विरोधी भावों को एक स्थान पर इकट्ठा देखते हैं, क्योंकि मनुष्य स्वयम् विरोधी भावों का समूह है। पिछले युग के काव्य में कवि किसी भी कथा को लेकर उसके इतिवृत्तात्मक वर्णन में अपने को धन्य मानते थे। छायावाद काव्य में गीतात्मकता की वृद्धि हुई और कवि प्रबन्ध-काव्य की ओर नहीं गए। वास्तव में उनमें अपने सुख-दुःख से हट कर दूसरों के सुख-दुःख को देखने और उसे कथा के रूप में प्रगट करने की प्रवृत्ति ही नहीं थी। फिर भी कुछ कथा-काव्य अवश्य लिखे गए यद्यपि उनमें कथा के विकास की अपेक्षा मनोभावों का चित्रण ही अधिक हुआ।

छायावाद-काव्य में प्रकृति को विशेष स्थान मिला। आधुनिक काव्य में प्रकृति का स्वतंत्र प्रयोग पहले-पहल पं० श्रीधर पाठक द्वारा हुआ, इसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। द्विवेदी-युग के लेखकों ने अपने काव्य में प्रकृति को स्थान तो अवश्य दिया परन्तु वह प्राकृतिक प्रसंगों और वस्तुओं के परिगणन तक ही सीमित रहे। छायावादियों ने प्रकृति के प्रति प्रेम, तन्मयता और तीव्र मिलनाकांक्षा प्रगट की है। उन्होंने प्रकृति के रूपों में स्त्री-सौन्दर्य और रहस्यात्मक सत्ता का आरोप किया है। सारी प्राकृतिक सामग्री स्त्री-रूप में देखी गई है, अतः प्रकृति के कार्य-कलापों में प्रेमी-प्रेमिकाओं की चेष्टाओं का आरोप विशेष रूप से हुआ है। छायावाद के प्रकृति-चित्रण में

अनुभूति के अतिरिक्त कल्पना का भी बड़ा पुट है। इसी से कहीं-कहीं अत्यंत ऊहात्मक वर्णन मिलते हैं। उपमानों की खोज में कवि साधारण अनुभव की सीमा का अतिक्रम कर जाता है और कभी-कभी अत्यन्त सन्दिग्ध, कल्पना-मूलक उपमानों की झड़ी लगा देता है। उसे रंगों के प्रति व्यर्थ का प्रेम है। उसने बहुत से ऐसे रंगों की कल्पना की है जो केवल विदेशी काव्य में प्रयुक्त होते हैं। उसने रंग-संबंधी परम्परागत धारणाओं की अवहेलना की है। सच तो यह है कि छायावादी कवि प्रभाव की ओर अधिक ध्यान देता है, स्वयम् चित्र या रंग की ओर कम।

वर्तमान काव्य (छायावाद) में शृंगार की धारा ने एक प्रच्छन्न रूप ग्रहण कर लिया। उसने अशरीरी सौन्दर्य-प्रियता को जन्म दिया जो छायावाद की विशेषता थी। यह युग एक प्रकार की सौन्दर्य-प्रियता के पुनरुत्थान* का युग था जिसने रोमांस का सहारा लिया था। वैष्णव साहित्य में सौन्दर्यानुभूति की भावना मिली हुई थी जो कवि की सौन्दर्य-प्रेमी प्रकृति को तृप्त करती रहती थी। द्विवेदी-युग के वैष्णव काव्य में सौन्दर्य का विशेष पुट नहीं था। वह युग स्वयम् रसिकता के प्रति विद्रोह का युग था। अब छायावादी कवियों में यह सौन्दर्यानुभूति फिर जागी और उसने देव-गाथाओं और देव-पुरुषों के आलम्बन को छोड़ कर प्रकृति और अव्यक्त अथवा अशरीरी कल्पना-चित्रों में सौन्दर्य-स्थापना की चेष्टा की। यह रीति-काल की स्थूल एन्द्रियता और द्विवेदी-युग की बौद्धिक शुष्कता के बीच का मार्ग था जो इन कवियों ने ग्रहण किया।

आलोचक-प्रवर श्री रामचन्द्र शुक्ल ने छायावाद को "कायावृत्तियों का प्रच्छन्न पोषण" कहा है। बहुत हद तक बात ठीक भी है। वह पूर्ववर्ती स्थूल लौकिकता के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में प्रारम्भ हुआ था। उसका दार्शनिक आधार वेदांत या उपनिषद का दर्शन था। भौतिक प्रेम की ओर से कवि ने अपनी दृष्टि हटा ली, परन्तु उसी प्रकार की अभिव्यंजना वह प्रकृति और अव्यक्त सत्ता के लिए करने लगा। इस प्रकार उसने अपनी शृंगार भावना को अमूर्त्त चित्रों पर आश्रित करके अपने मन को तृप्ति दी। छायावाद के पहले खेवे के कवियों ने नारी-सौन्दर्य की जो सृष्टि की है, वह काल्पनिक अतः अभौतिक है। उसने प्रकृति को भी स्त्री के रूप में देखा।

---

*Aesthetic Revival

जो सर्वप्रथम प्रवृत्ति हमें नये काव्य में दिखलाई पड़ती है वह उसकी सौन्दर्यानुभूति और सौन्दर्य की प्रति उसकी व्याकुलता है। उसने जिस वस्तु को छुआ उसमें सौन्दर्य की स्थापना की। प्रकृति के प्रति पहले उसका दृष्टिकोण आश्चर्य का रहा। फिर उसने प्रकृति पर मानवीय भावनाओं का आरोप किया और उसे अपने अधिक सन्निकट लाने का प्रयत्न किया। प्रकृति के स्त्री-रूप के प्रति उसे मोह हो गया। उत्तरार्द्ध के कवियों में एक प्रकार के प्राकृत अध्यात्म के दर्शन होते हैं। यही नहीं, कवियों में सौन्दर्यान्वेषी प्रवृत्ति इतनी बढ़ी कि उन्होंने स्वयम् छन्द और कविता में भी सौन्दर्य की आत्मा के दर्शन किए। छन्द, शब्द, और ध्वनि सब में उन्होंने उत्तरोत्तर इस प्रकार के परिवर्तन किए कि धीरे-धीरे काव्य का कलापक्ष उसके लिए सब कुछ नहीं, तो बहुत कुछ महत्वपूर्ण हो गया। संक्षेप में यह कि कवियों ने अपनी इन्द्रियों को काव्य का माध्यम बनाया। उन्होंने वर्जित कोनों में सौन्दर्य की खोज की। वे सुन्दर रूपों में खो गये। सौन्दर्यनिष्ठ कवियों की तरह वह इन्द्रियों के विषय में आसक्तिपूर्ण आनन्द लेने लगे।

सौन्दर्य की अनुभूति के साथ करुणा की अनुभूति भी हुई। परन्तु सौन्दर्य और करुणा का सम्बन्ध अनिवार्य हो, यह आवश्यक नहीं है। वैदिक ऋचाओं में ऋषियों ने प्रकृति के अनेक रूपों में देवत्व का स्थापन किया है परन्तु उनके गीतों में विषाद और करुणा की छाया भी नहीं है। वे मुक्त विहंगम की भाँति सुख के पंखों पर उड़ते रहते हैं और यद्यपि वे वर्डस्वर्थ के स्काईलार्क (लवा) की तरह आकाश में उड़ते रहते हैं परन्तु उनके गीतों में पृथ्वी की धूल नहीं लग पाती। वर्तमान काव्य-साहित्य में सौन्दर्याराधना ने कवियों को करुणा की ओर जो संकेत किया इसका कारण वे बंधन थे, जिन्होंने कवियों को बराबर वास्तविकता का ध्यान दिलाया। जिस सौन्दर्य की ओर अपरिचय की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप वह आकर्षित हुए थे, वह उन्हें अधिक समय तक लुभाये नहीं रख सकता था। कवि ने समाज और बुर्जुआ सभ्यता में कुछ सुन्दर समझ रखा था, वह धीरे-धीरे लुप्त होता जा रहा था। पग-पग पर उसे आर्थिक और सामाजिक विडंबनाओं से मोरचा लेना पड़ता और उसकी उस आदर्शवादी धारणा को धक्का लगता जिसके द्वारा वह अपने चारों ओर सौन्दर्य के एक संसार की सृष्टि करना चाहता था। उसने यह अनुभव किया कि सौन्दर्य क्षण-भंगुर और नाशवान है। उसके काव्य में दुःख की भावना की उत्पत्ति हुई। इस दुःख की भावना का विकास हमें उत्तरार्द्ध

के कवियों में मिलता है। पूर्वार्द्ध के कवियों की दुःख की भावना अस्पष्ट और आध्यात्मिक थी; उत्तरार्द्ध में भी इसका रूप आध्यात्मिक रहा परन्तु यह भावना स्पष्ट हो गई। बाद को बच्चन में इसने एक विशिष्ट दुःखवाद का रूप ग्रहण कर लिया।

निराला दुःखवाद से बचे रहे। उनके दर्शन ने उन्हें बचाए रखा। वहाँ खेद और विषाद का स्थान ही नहीं था। वहाँ अनंत संघर्ष था। दुःखवादी कवियों में निराला की आवाज़ ही अनन्त आनन्द की ओर इंगित करती रही। उनके वेदान्त में उनके स्वर में दुर्बलता नहीं आने दी। उन्होंने दुःख को दर्शन के रूप में स्वीकार नहीं किया।

रामकुमार और महादेवी में आध्यात्मिक दुःखवाद अपनी अन्यतम गहराइयों तक पहुँच गया है। कवियों ने अपनी एकातता का अनुभव किया। उन्हें जीवन में शून्यता की अनुभूति हुई। उन्होंने परिस्थितियों को स्वाभाविक और परिवर्तनशील मान कर अपने हथियार डाल दिये। उनके एकांतता के विचार ने उनमें भी अहंमता को उकसाया। अब वे अहंमवादी हो गये। वे वास्तविकता से भागे। उन्होंने अपने बाहर संघर्ष पाकर अपने भीतर के संसार में शांति ढूँढने की चेष्टा की। उनकी प्रवृत्तियाँ अंतर्मुखी हो गईं। संसार के प्रति उनका विश्वास क्षीणतम होकर अन्त में खो गया। तब उन्होंने मनुष्य-जीवन के अन्तिम आधार को पकड़ा जो उसका स्वयम् में विश्वास है। बार-बार जब मनुष्य परिस्थितियों से पराजित हुआ है तो उसने अपने प्रति विश्वास बनाये रखने की चेष्टा की है जिससे उसका अस्तित्व बना रहे। महादेवी लिखती हैं, 'इस युग में अपने प्रति भी विश्वास बचा रखने का क्या मूल है, इसे मेरा हृदय ही नहीं मस्तिष्क भी जानता है। भार तो विश्वास का भी होता है और अविश्वास का भी, परन्तु एक हमारे सजीव शरीर का भार है जो हमें ले चलता है और दूसरा शरीर पर रखे हुए जड़ पदार्थ का जिसे हम ले चलते हैं।'

फल यह हुआ कि कवि के लिए उसका व्यक्तित्व ही सब कुछ हो गया। उसकी व्यापकता उसके लिए इतनी अधिक हो गई कि उसने बाहरी संसार से संबंध ही छोड़ दिया। आज हमारा हृदय ही हमारे लिए संसार है। हम अपनी प्रत्येक साँस का इतिहास लिख रखना चाहते हैं, अपने प्रत्येक कंपन को अङ्कित कर लेने के लिए उत्सुक हैं और प्रत्येक स्वप्न का मूल पाने के लिए विकल हैं। इसके साथ ही उनमें से कुछ ने परिस्थिति का क्षीण विरोध भी किया।

परन्तु शीघ्र ही जो विद्रोह था वह समाप्त हो गया। उनकी एकांतता बढ़ने लगी। उनकी विरोध-भावना उनमें ही केन्द्रीभूत हो गई। उसने यथार्थवादी दृष्टिकोण नहीं अपनाया, न अपने चारों ओर फैले हुए दुःख के कारण के मूल में पहुँचने का प्रयत्न किया। फलतः एक पराजित भोगवाद या झूठी मस्ती का जन्म हुआ। इसकी नींव कवि की पराजित भावनाओं में थी। पराजित योगवाद की भावनाओं ने ख़ैयाम की कविता की ओर दृष्टिपात किया। ख़ैयाम की कविता के आध्यात्मिक संकेत को इन्होंने छोड़ दिया। इसका कारण यह है कि वह स्वयम् पिछले युग की आध्यात्मिक कविता के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में विकसित हुआ था। ख़ैयाम की मादकता इसने ली, उसी के प्रतीक लिए और कविता के संसार में एक युगांतर उपस्थित कर दिया। जनता ने उसमें अपनी रुद्ध चीत्कारों को देखा और उसका स्वागत किया। इस प्रकार की कविताओं के उन्नायक बच्चन अपनी पहली ही कुछ कृतियों से जनता में इतने लोकप्रिय हो गये थे जितना कदाचित् इतने थोड़े समय में हिन्दी का कोई कवि नहीं हुआ। लोक-प्रियता का कारण यह था कि इस कविता में मध्यवर्ग की मनोवृत्तियों का सांकेतिक चित्र रहता था। भोग के प्रति आसक्ति, एक टूटे स्वप्न के लिए रुदन, दैव या भाग्य पर आश्रय (कभी-कभी उससे विरोध परन्तु वह भी उसकी सत्ता को स्वीकार करते हुए), सस्ती भावुकता, सौन्दर्य के प्रति आसक्ति और क्रियाशीलता के प्रति उदासीनता—ये कुछ कविता की इस नई धारा की विशेषताएँ थीं। युद्ध के बाद की मध्यवित्त जनता जिस आर्थिक संकट से गुज़र रही थी, उसने उसमें निराशा और हतोत्साह भावनाओं को जन्म दिया था और यह कविता उसके छिन्न-भिन्न स्वर्ण-स्वप्न को ठीक-ठीक प्रतिबिंबित करती थी।

हमने कहा है कि दुःखवाद के पीछे निराशा और पलायन के दृष्टिकोण थे। सच तो यह है कि दुःखवाद और निराशा एक ही तस्वीर के दो पहलू हैं। भोगवाद की नींव में निराशा काम कर रही थी। धीरे-धीरे कवियों ने ख़ैयाम की भावुकता और मादकता को छोड़ा। दुःख ही उनका स्वर हो गया। अब उनकी पीड़ा से उन्हें मोह था वह एक प्रकार से Sadist थे जो यह संतोष कर लेते थे कि दुःख स्वयम् एक प्रकार की साधना है जो मनुष्य की आत्मा को पुष्ट, बलवती एवं सुन्दर करती है। अब उनकी पीड़ा उन्हें खलने लगी। उन्होंने उसे तीव्र अनुभूति के द्वारा स्पष्ट किया और उनकी कविता व्यक्ति

के आत्मिक रुदन और चीत्कार के रूप में समष्टि की भावना को रूप देने लगी। कवि यद्यपि एकांत में गाता था उसके स्वर में सारे समाज का स्वर बज रहा था।

साथ ही जो कवि समाज, सत्ता और परिस्थिति के प्रति विरोध की भावना लेकर चले थे, उनके सामने समाजवाद के रूप में एक नया दृष्टिकोण आया। उन्होंने अपना स्थान समझने की कोशिश की। उन्होंने देखा कि वह न ऊँचे मध्यवर्ग से सम्बंध रखते हैं, न साधारण श्रमिक-कृषकों से। उन्होंने यह भी देखा कि उन्हें अपना स्थान चुनना होगा। वह जनता का साथ देने की ओर झुके। भगवती बाबू की इधर की कविताएँ और पंत की युगवाणी इस नई दिशा की ओर बढ़ती हुई चीज़ें हैं। कवि ने अनुभव किया कि उसका युग उसकी कविता से मेल नहीं खाता। उसने अपने लिए सौन्दर्य और प्रेम का जो संसार खड़ा किया था वह वास्तविकता की टक्कर से चूर हुआ जाता है। उसने अनुभव किया कि उसका युग गद्यात्मक है। उसे वह रूप देगा। उसकी वेदना को वह स्पष्ट करेगा। पिछले कवियों ने भी बदलने की चेष्टा की परन्तु अभी वे अपनी रोमांटिक मनोवृत्तियों के कारण नये संदेश को साफ़-साफ़ रखने में सफल नहीं हो सके हैं। पूर्वार्द्ध के कवि ऐसे समय में लिखना प्रारम्भ कर रहे थे, जब आज की अपेक्षा सामाजिक बन्धन अधिक दृढ़ थे और यौन-संबंधी आकर्षण को किसी भी प्रकार प्रगट करना एक अपराध होता। उस समय का ब्रजभाषा-साहित्य भी रीतिकाल की प्रधान विशेषता शृंगार से हीन था। उसने साधारण तौर पर प्रकृति-वर्णन और नैतिक उपदेशों को अपना विषय बना लिया था। उस समय का समाज, विशेषकर आलोचक वर्ग, १९वीं शताब्दी के अंग्रेज़ी समाज से मिलता-जुलता है। एक प्रकार से द्विवेदी जॉनसन का कार्य कर रहे थे। साहित्य पर नैतिकता का कठोर नियंत्रण था। अतएव नये कवियों की प्रतिभा विशेषतया प्रकृति या दार्शनिक तत्त्वों की ओर गई। उन्होंने जहाँ-जहाँ भौतिक प्रेम को अपना लक्ष्य बनाया, वहाँ-वहाँ देह की ओर केवल अस्पष्ट संकेत करके रह गये। उनकी पलायनशीलता उन्हें देह की ओर देखने ही नहीं देती थी।

यह क्षेत्र पहले से ही बदनाम था। इससे कवियों को कई दिशाएँ देख कर चलना पड़ता था। समय के नियंत्रण का डर था। स्वयम् उनकी मनोवृत्ति कायिक थी, क्योंकि वह सौन्दर्योपासक थे, परन्तु नारी का चित्रण करते हुए वे या तो उसके दैहिक सौन्दर्य और उसके प्रति आकर्षण को उपेक्षा

करते या उर्दू कविता की तत्संबंधी लाक्षणिकता के आवरण में अपने आकर्षण को छिपाते।

परन्तु धीरे-धीरे परिस्थिति बदली। उनका स्वागत हुआ। नियंत्रण भी कम हुआ और उनकी कायिक वृत्ति ने साँस ली। उन्होंने नारी-सौन्दर्य की ओर भी ध्यान दिया। परन्तु तब कठोर नियंत्रण में रहने के कारण उनका दृष्टिकोण दूषित हो गया था। उनकी सौन्दर्यानुभूति रहस्यमयता की ओर बढ़ रही थीं। फल यह हुआ कि उन्होंने नारी को एक रहस्यमय, अलौकिक, अपार्थिव जीव के रूप में देखा। उनके इस दृष्टिकोण की जड़ में उनकी रहस्यवादी प्रवृत्ति थी जो लौकिक को अलौकिक और नगण्यतम को उच्चतम करके देखने लगी थी।

परन्तु एक दिन उन्होंने आँखें खोल कर देखा तो नारी उनकी चिन्तना के केन्द्र में थी। यह अवश्य था कि उसमें पार्थविकता का कोई अंश न था। वह उनकी कल्पना-सृष्टि थी, विधाता की नहीं। परन्तु उनका दृष्टिकोण उससे इतना रँग गया था कि उन्होंने इसे प्रकृति के मूल में देखा और कभी चेतन आदि-शक्ति के रूप में भी। इन कवियों में से नारी के संबंध में प्रसाद का दृष्टिकोण अंत तक शुद्ध सौन्दर्यानुभूति-प्रियता का रहा। पंत और की सौन्दर्यानुभूति निराला नारी के रहस्यमय अव्यक्त रूप की ओर उन्मुख रही।

उत्तरार्द्ध के कवियों के काव्य में नारी का रूप अधिक स्पष्ट हो गया है। 'नरेन्द्र' के 'प्रवासी के गीत' की कविताएँ इसका प्रमाण हैं। कवि नारी को कल्पना की स्वर्गीय भूमि से उतार कर उसके प्रकृत स्थान में उसे स्थापित करने लगा है। यही नहीं, पुराने रूढ़िपंथी दृष्टिकोण के प्रति विरोध के शंख भी बज रहे हैं। युगवाणी में पंत लिखते हैं—

योनिमात्र रह गई मानवी
निज आत्मा कर अर्पण,
पुरुष प्रकृति की पशुता का
पहने नैतिक आभूषण
नष्ट हो गई उसकी आत्मा,
त्वचा रह गई पावन,

युग युग से अवगुंठित गृहणी
सहती पशु के बन्धन
खोलो हे मेखला युगों की
कटि प्रदेश से, तन से
अमर प्रेम हो बंधन उसका,
वह पवित्र हो मन से
अंगों की अविकच इच्छाएँ
रहें न जीवन-पातक,
वे विकास में बनें सहायक,
होवें प्रेम-प्रकाशक

द्विवेदी-युग में नए छंदों के प्रयोग की बात हम पहले ही कह आये हैं, परन्तु छायावाद-काव्य में छन्दों के विषय में भी क्रांति हुई :

(१) नवीन संस्कृत छंदों का प्रयोग हुआ;

(२) मात्रिक छंदों में ऐसे प्रकार की सृष्टि हुई जिनमें प्रत्येक चरण में विभिन्न छंदों के चरण का प्रयोग मिलेगा;

(३) अभिव्यंजना को सफल करने के लिए किसी भी चरण की मात्राओं को घटाने-बढ़ाने की स्वतंत्रता बरती गई;

(४) बँगला से प्रभावित छन्दों का प्रयोग हुआ;

(५) तुकान्त छन्दों के कई नए भेदों का प्रयोग हुआ;

(६) मुक्त छन्द (जिसे उपहास की दृष्टि से विरोधियों ने रबड़छन्द या केचुआ-छंद कहा था) में रचनाओं की प्रवृत्ति स्थापित हुई;

(७) लगभग सारा छायावाद-काव्य गीतों या गेय कविताओं के रूप में ही हमारे सामने आया। व्यक्ति की प्रधानता और गीतात्मकता के महत्व के कारण इसके सिवा और कुछ हो ही नहीं सकता था।

परन्तु इस सारे समय में विषय और प्रकार की दृष्टि से अनेक तरह की विभिन्नता रही है। राम-कृष्ण पर 'साकेत' और 'प्रियप्रवास' जैसे महाकाव्य लिखे गये हैं,। बुद्ध पर 'अनघ' और 'बुद्धचरित्र'। कुछ पौराणिक काव्य भी लिखे गये जिनका विषय देवी-देवता हैं। इनके अतिरिक्त मध्य युग और आधुनिक युग के कितने ही वीरों को विषय बनाया गया। वास्तव में

जातीयता और राष्ट्रीयता के भावों के विकास के साथ उन पर ध्यान जाना आवश्यक था—यही कारण है कि शिवाजी, प्रताप, अर्जुनदेव, गोविन्दसिंह जैसे वीरों को लेकर कितनी ही वर्णनात्मक और कथात्मक कविताएँ लिखी गई हैं। परन्तु इस युग की विशेषता है जनसाधारण का काव्य में प्रवेश। हम कह चुके हैं कि सर्वचेतना और करुणा की प्रवृत्तियाँ मुख्य थीं, नवीन प्रवृत्तियाँ इन्हीं के भीतर से छन कर एकात्मकता को प्राप्त हुई।

विषय के बाद जो सबसे महत्वपूर्ण बात नवीन कविता में दृष्टिगोचर होती है वह है कलात्मकता। इसकी अभिव्यक्ति छंदों, शब्द-योजना और शैली सभी में हुई है। कवि ने अपनी कला को गीतात्मकता या संगीत और चित्रात्मकता पर गढ़ा है। जो कुछ कहा जाय उसमें संगीत हो और अत्यन्त रंगीन, विशद एवं मुखर चित्र उपस्थित हो सकें। हम जानते हैं कि ऐसा सब स्थानों पर नहीं हो सका है, विशेषकर वहाँ जहाँ कवि इंद्रियों को ही अपना विषय बनाता है अथवा अमूर्त्त भावों को ही मूर्त्त रूप देता है या मूर्त्त वस्तु के सौंदर्य की रहस्यात्मक अनुभूति प्रगट करता है—परन्तु यह प्रवृत्ति अन्य सभी स्थलों पर मिलती है।

छायावाद-काव्य का एक दूसरा पक्ष भी है—उसमें साधारण के ऊपर असाधारण की प्रतिष्ठा की गई है। फलतः उसने साधारण शब्दों के प्रयोग को त्याग कर असाधारण, नए गढ़े शब्दों का प्रयोग किया। यदि यह प्रवृत्ति नहीं होती तो हम उसकी भाषा में मैथिलीशरण गुप्त या गोपालशरण सिंह की भाषा का विकास देखते जिनकी भाषा में द्विवेदीयुग की काव्य-भाषा का सर्वोत्तम विकास मिलेगा, परन्तु इस व्यक्तिगत रुचि के कारण नए शब्दों का अत्यन्त बहुलता से प्रयोग हुआ। इन शब्दों के उद्गम-स्थल कई हैं—

(१) अंग्रेज़ी शब्दों का अनुवाद

(जैसे स्वर्णस्वप्न, गीले गान प्रभृति। इस प्रकार के शब्दों का सबसे अधिक प्रयोग श्री सुमित्रानन्दन पंत के काव्य में हुआ है।)

(२) बंगला से लिये हुए संस्कृत शब्द

(निराला और पंत दोनों के काव्य द्वारा इन शब्दों ने हिन्दी-जगत् में प्रवेश किया)

(३) लक्षण के प्रयोग

(४) अंग्रेज़ी और बँगला के शब्दों के जोड़ पर गढ़े नये शब्द और समास

(५) संस्कृत काव्यों और महाकाव्यों से प्राप्त नए शब्द

(६) नये अर्थ में प्रचलित संस्कृत शब्द

इस प्रकार छायावाद-काव्य में एक विशिष्ट शैली ही नहीं एक विशिष्ट शब्दकोष ही खड़ा हो गया। यह शब्द-कोष ही छायावाद की लांच्छना का विशेष कारण हुआ। बिना संदर्भ के इन शब्दों को समझना कठिन था। ये हमारी काव्य-परम्परा में प्रयोग पाये हुए शब्दों की आत्मा से बड़ी दूर जा पड़ते थे।

वास्तव मे २०वीं शताब्दी की मुख्य काव्यधारा को रोमांटिक ही कहना पड़ेगा, यद्यपि पिछले दशाब्द तक छायावाद का जन्म एवम् उत्थान नहीं हो पाया था और प्राचीन ब्रजभाषा अथवा उससे प्रभावित खड़ीबोली के कवित्तों-सवैयों की कविता भी चल रही थी। पहले दो दशाब्दों में रीतिकाल की कविता के विरोध ने ही नवीन प्रवृत्ति का रूप ग्रहण किया। इसके कारण काव्य में कई नवीनताओं का समावेश हुआ—(१) शृङ्गार से एकदम विमुखता, (२) इतिवृत्तात्मक काव्य, (३) पौराणिक विषयों की ओर प्रवृत्ति, (४) नये रूप से कथाकाव्य का जन्म, (५) प्रकृति, पेड़-पौधों आदि पर दृष्टि—यद्यपि प्रकृति के प्रति आग्रह रामचन्द्र शुक्ल जैसे कुछ कवियों में ही मिल सकेगा। (६) नई शब्दावली का प्रयोग जिसमें माधुर्यगुण, यमक, अलंकार आदि की योजना नहीं थी। इस प्रकार कवियों की दृष्टि भाषा की स्वाभाविकता की ओर थी। इस तरह यद्यपि पहले २० वर्षों का काव्य रूढ़ि से विद्रोह के नाते रोमांटिक कहा जायगा परन्तु ठीक उस प्रकार का काव्य छायावाद के रूप में ही हमारे सामने आया। ब्रजभाषा काव्य में केवल कवित्त, सवैयों और दोहों का प्रयोग होता है। खड़ीबोली का जो कविवर्ग परम्परा से अधिक प्रभावित था, उसने कवित्तों और सवैयों में रचना की परन्तु दूसरे वर्ग ने संस्कृत छन्दों और फ़ारसी बहों के अत्यन्त विस्तृत प्रयोग किये। यही नहीं, बँगला के पयार और अंग्रेज़ी के सॉनेट आदि का प्रयोग हुआ। जहाँ सारे रीति-साहित्य में मुक्तक काव्य ही भरा पड़ा था, वहाँ कथाकाव्य, गीत, भजन, महाकाव्य और खंडकाव्य भी उपस्थित हुए, यद्यपि पहले दशाब्द में उच्च श्रेणी का काव्य उत्पन्न नहीं हुआ। कारण यह था कि कवियों की दृष्टि

भाषा-परिष्कार में लग जाती थी और नये विषयों पर लिखते हुए उन्हें प्राचीन काव्य से किसी प्रकार सहारा नहीं मिलता था। जहाँ प्राचीन कवित्व में रस और अलंकार ही सब कुछ थे, वहाँ अब भाव पर अधिक बल दिया गया। यही नहीं, रसदृष्टि भी परिष्कृत हो चली। वीर रस का अर्थ केवल कर्णकटु शब्दों का श्रुत्यानुप्रास नहीं रह गया। इसी दृष्टिकोण के कारण वीभत्स और भयानक रसों पर अधिक नहीं लिखा जा सका। शृङ्गार तो प्रतिक्रिया के कारण उपेक्षित ही था। हाँ, राम-कृष्ण को लेकर एवम् फुटकर विनयपदों में शांतरस की प्रतिष्ठा रही। इस काल में वीर, रौद्र, करुणा ही मुख्य रस रहे यद्यपि उनके प्रति दृष्टिकोण एकदम नवीन था। पहले प्रकृति उद्दीपन के लिए थी और षट्ऋतु-वर्णन प्रत्येक कवि का ध्येय समझा जाता था, परन्तु अब षट्ऋतु वर्णन शृङ्गार से अलग हो गया। कालांतर में ऋतुओं के अतिरिक्त अन्य प्राकृतिक विषयों पर भी कविताएँ लिखी जाने लगीं। इनमें वर्णन की इतिवृत्तात्मकता है, रसपुष्टि कम हुई है, परन्तु बदलते हुए दृष्टिकोण के कारण एवम् संक्रांति-काल की कविता होने के कारण वह प्रत्येक पकार से अभिनन्दनीय है।

धीरे-धीरे नवीन प्रभाव पड़े। करुणा की प्रवृत्ति को विस्तार मिला। १९१४ के आस-पास मुकुटधर पांडेय, राय कृष्णदास, प्रसाद आदि के द्वारा गीतांजलि से प्रभावित होकर एक नए प्रकार की रचना हिन्दी में आई जो भावना और शैली की दृष्टि से नवीन थी। इसी के प्रभाव से छायावाद-काव्य की नींव दृढ़ हुई। छायावाद की विशद विवेचना हम पीछे कर चुके हैं। यहाँ हम संक्षेप में उसकी प्रवृत्तियों और उन प्रभावों को ही सूचीबद्ध करेंगे जिसके कारण वे प्रवृत्तियाँ विकसित हुईं—

(१) सर्वचेतनता की भावना—करुणा की प्रवृत्ति का विकास और उन्नीसवीं शताब्दी के अंग्रेज़ी काव्य का प्रभाव।

(२) परमसत्ता के प्रति आकुलता भाव—'रहस्यवाद'। 'गीतांजलि,' कबीर आदि का प्रभाव।

(३) प्रकृति के प्रति नवीन दृष्टिकोण—श्रीधर पाठक के समय से आई हुई नवीन प्रकृत्ति का विकास, विशेषकर सर्वचेतनता की भावना और उन्नीसवीं शताब्दी के आंग्ल काव्य के भीतर से।

(४) नारी के प्रति दृष्टिकोण—सामाजिक एवं व्यक्तिगत संस्कारों एवं परिस्थितियों का प्रभाव।

(२) निराशावाद—आर्थिक असंतोष का प्रभाव जिसने रहस्यवाद के साथ मिलकर आध्यात्मिक असंतोष का अस्पष्ट रूप ग्रहण कर लिया था।

(३) कलात्मकता—व्यक्तिगत प्रयास।

इन सब प्रवृत्तियों के मूल में एक विशेष प्रवृत्ति थी लेखकों में कवित्व एवं अहम्मन्यता का विकास। इसी प्रवृत्ति के कारण कविता के विषयों का साधारणीकरण संभव हो सका।

इन प्रवृत्तियों के कारण नायक-नायिकाओं का साधारणीकरण हो गया। दो प्रकार के नायक हमारे काव्य के विषय पहले से ही थे—धीर वीर नायक, धीर ललित नायक। ये क्रमशः वीर-काव्य और शृंगार-काव्य के नायक थे। कालांतर में 'रासो' आदि ग्रंथों में वीर नायक उदात्तचरित्र लोक-नायक न रहकर महाराज या सामंत होने लगे और शृंगार काव्य के नायक राधाकृष्ण या राजा-महाराजा। रीतिकाव्य में राधाकृष्ण ही शृंगार के विषय रहे, परन्तु धीरे-धीरे इसका संदर्भ छूट गया। इससे लौकिक नायक-नायिकाओं की प्रतिष्ठा हुई। प्रत्येक नर-नारी, चाहे वह कितना ही क्षुद्र हो, नायक-नायिका के रूप में प्रतिष्ठित हो गया। आधुनिक युग में नायक-नायिकाओं की मान्यता और भी साधारण तल पर उतर आई। प्रत्येक जातीय वीर और राष्ट्रीय वीर नायक था। सत्याग्रह आन्दोलनों ने सत्याग्रही के रूप में एक नया वीरादर्श दिया। उधर शृंगार के कल्पित नायक-नायिकाओं के स्थान पर व्यक्तिगत रूप से, लोक से अभिन्न प्रिय-प्रियतमाओं की सृष्टि हुई।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्तमान काव्य असाधारण और अलौकिक से लौकिक की ओर निरंतर बढ़ती हुई प्रगति का अंतिम सोपान है।

परन्तु यह नहीं समझना होगा छायावाद की इस नवीन धारा के साथ अन्य प्राचीन धाराओं का लोप हो गया था। पिछली सभी काव्य की धाराएँ इस समय चल रही थीं। इन धाराओं के तीन रूप थे—ब्रजभाषा काव्य की कवित्त-सवैयों की शृंगार-प्रधान धारा, खड़ीबोली काव्य की कवित्त-सवैयों की शैली जिसमें एक बड़ा वर्ग अब कविता करने लगा था एवं जिसका आदर्श प्राचीन रूढ़िप्राप्त विषयों को अंगीकार करके बढ़ना था; द्विवेदी-युग की खड़ीबोली की नई धारा जो अब प्राचीन होकर समय से पीछे पड़ गई थी। पहली धारा के प्रतिनिधि रत्नाकर, रमाशंकर रसाल, सरस आदि हैं। दूसरी धारा के प्रतिनिधि अनूप शर्मा, जगदम्बाप्रसाद हितैषी,

गोपालशरण सिंह और सनेही है। इनमें से कुछ द्विवेदी-युग का भी प्रतिनिधित्व कर चुके हैं। तीसरी धारा के पोषकों की संख्या सर्वाधिक है। ठाकुर गोपालशरण सिंह, हरिऔध, श्यामनारायण पांडेय, पुरोहित प्रतापनारायण, मैथिलीशरण गुप्त आदि कितने ही कवि भावधारा की दृष्टि से द्विवेदीयुग से आगे नहीं बढ़ पाये हैं। वस्तुतः जनता में यही तीनों वर्ग कवि माने जाते थे; छायावाद-काव्य को जनसाधारण बराबर उपहास का पात्र बनाये हुए था। इसका कारण यह था कि इस काव्य में चतुर्दिक क्रान्ति हुई। काव्यभाषा तो खड़ी रही, परन्तु वह द्विवेदीयुग के लोकप्रिय कवियों की भाषा से इतनी दूर थी कि वह हटात् विद्रोह उत्पन्न करती थी। भाषा, भाव, छंद, व्यंजनाशैली—काव्य के समस्त उपकरणों में एक ही साथ आपादमस्तक परिवर्तन हो गया। जनता इस परिवर्तन के लिए तैयार नहीं थी। वह द्विवेदी-युग के कवियों की ही जनता थी। इसी से छायावाद-युग का सर्वप्रिय कवि कोई छायावादी नहीं है, यह लोकप्रिय कवि द्विवेदी-युग के प्रतिनिधि कवि मैथिलीशरण गुप्त हैं। छायावाद के अतिरिक्त ये जो तीन काव्यधाराएँ हिन्दी काव्यक्षेत्र में चल रही थीं, उनके विषय स्पष्ट थे, जनता उनकी भाषा, शैली, व्यंजना—सभी को भली भाँति समझती थी। ब्रजभाषा काव्य यों तो खड़ीबोली के प्रचार और अध्ययन-अध्यापन के कारण जनता से दूर पड़ा जा रहा था, परन्तु उसकी विशिष्ट काव्यशैली और उसके विषय से लोग इतने अधिक परिचित थे कि कवि सम्मेलनों में, जिनमें बहुधा प्रधान छायावादी कवियों को छोड़कर शेष की खिल्ली उड़ाने की बँधी चाल थी, उसी की जीत होती थी। १९२५ तक परिस्थिति लगभग यही रही परन्तु इसके उपरान्त छायावादी कवियों ने अपनी संगीतज्ञता के कारण जनता को आश्वस्त कर लिया यद्यपि समझ में न आने की शिकायत अब भी बनी रही। १९३८ तक आते आते कवि-सम्मेलनों में परिस्थिति विपरीत हो गई, कम से कम जहाँ तक हिन्दी के प्रधान केन्द्रों का सम्बन्ध था। कवियों को निराशापूर्ण अर्द्ध आध्यात्मिक कविताओं को अपने ही ढंग पर समझ कर कवि-सम्मेलनों की जनता उनकी माँग करने लगी। परन्तु इससे यह न समझना चाहिये कि जनता अध्यात्म-प्रिय हो गई थी या छायावादियों की कविता समझ लेती थी। बात इतनी ही थी कि अधिक परिचय के कारण जनता का विद्रोह कुण्ठित हो गया था, इस नये काव्य के प्रति, और कुछ नहीं तो जिज्ञासा की दृष्टि से ही, देखने के लिए वह तैयार थी, उसके अस्पष्ट आध्यात्मिक

निराशावाद और काव्य-क्रन्दन में उसे अपनी असफलताओं और निराशाओं के चित्र दिखलाई पड़ते थे।

छायावाद-काव्य जैसा हम कह चुके हैं, मुक्तकाव्य था। उसमें खंडकाव्य और महाकाव्य जैसी चीजें नाममात्र को ही थीं। पथिक, स्वप्न, ग्रन्थि, निशीथ, राम की शक्ति-उपासना, कामायनी—छायावाद-काव्य केवल इन्हीं कथा काव्यों को हमारे सामने उपस्थित कर सका है। उसमें व्यक्तित्व की प्रधानता थी। कवि संसार को अपनी ही दृष्टि से देखता था, अपने ही को केन्द्र बना कर देखता था। फल यह था कि उसे उन कथाओं से कोई मतलब नहीं था जो स्वयं उसके भावक्षेत्र में नहीं आई थी। उसकी दृष्टि वहिर्मुखी कम थी, अन्तर्मुखी अधिक थी। इसी से वह खंडकाव्य और महाकाव्य प्रभृति चीजें नहीं लिख सका। जहाँ उसने ऐसा किया भी (उदाहरण के लिए कामायनी लीजिये), वहाँ अस्पष्ट भावधारा, असंतुलन और अव्यक्त व्यंजन भाषा के कारण एवं गीतात्मकता की प्रधानता से वह उच्च श्रेणी का कथाकाव्य नहीं बन सका। कामायनी में पात्रों और कथा के भीतर जो ज्ञान, कर्म और श्रद्धा के रूपकों को लेकर अंतर्जगत का चित्र उपस्थित करने की जो चेष्टा है, वही उसे कथाकाव्य की श्रेणी से नीचा गिराती है। व्यक्तिमुखी काव्य व्यक्तिपर काव्य नहीं बन सकता था। परन्तु द्विवेदी-युग में परिवर्तित खड़ीबोली की काव्य-धारा के कवियों ने छायावादी कवियों के स्फुट गीतों के समकक्ष खंडकाव्यों और महाकाव्यों का ढेर लगा दिया। मैथिलीशरण गुप्त के कितने ही महा-काव्य और खंडकाव्य कालक्रम की दृष्टि से छायावाद के साथ ही लिखे गये हैं; सियारामशरण गुप्त का 'मौर्यविजय', अनूप शर्मा के 'मृणाल' और 'सिद्धार्थ', श्यामनारायण पांडेय के 'राणा के दो वीर' और 'हल्दीघाटी' पुरोहित प्रतापनारायण का 'नलनरेश' आदि कितने ही काव्य छाया-वाद के बवंडर के भीतर ही हमारे सामने आये और जनता ने उनका स्वागत किया। जहाँ द्विवेदी-काव्य का कवि अपने व्यक्तित्व को कथा संपुट में रखकर उसे जनता को उसके परिचित स्वरों में उपस्थित करता था, वहाँ छायावादी कवि की प्रतिभा अहम्-प्रधान होने के कारण कथा को भी बिखेर देती थी। छायावाद-काव्य के पहले खेवे के प्रधान कवि जयशंकरप्रसाद (१८८९—१९३७), सुमित्रानन्दन पंत (१९०१—), निराला (१८८६—), मोहनलाल महतो वियोगी (१९०२) हैं। दूसरे खेवे के महत्वपूर्ण कवि महादेवी वर्मा (१९०७—), भगवतीचरण वर्मा (१९०३—), रामकुमार वर्मा (१९०५—), जगन्नाथप्रसाद

मिलिंद (१९०७—), सियारामशरण गुप्त (१८९४—), जनार्दनप्रसाद द्विज, हरिकृष्ण प्रेमी, गुरुभक्त सिंह 'भक्त', बच्चन (हरवंशराय), इलाचंद जोशी, शांतिप्रिय द्विवेदी हैं। इन सब कवियों में छायावाद-काव्य की उन विशेषताओं में से किसी न किसी के दर्शन अवश्य होते हैं जिनका वर्णन हम पहले कर आये हैं।

इन कवियों में जयशंकरप्रसाद संक्रांतिभूमि पर खड़े हैं। इनकी प्रारंभिक कविताएँ ब्रजभाषा में हैं, परंपरागत कवित्त छंदों का ही आधिक्य है, परन्तु भाव और अभिव्यंजना शैली दोनों की दृष्टि से वह छायावाद-काव्य का पूर्व रूप ही प्रस्तुत करती हैं। 'आँसू' पर लिखा हुआ यह छंद उनके इसी नाम के क्रांतिकारी काव्य की पीठिका कहा जा सकता है :

आवे इठलात जालजात-पात के-से बिंदु,
कैधों खुली सीपी माहिं मुकता दरस हैं।
कढ़ी कंज कोष तें कलोलिनी के सीकर ते,
प्रात-हिम-कन-से न सीतल परस है॥
देखे दुख दूनों उमगत अति आनँद सो,
जान्यो नहीं जाय याहि कौन सो हरप है।
तातो-तातो कढ़ि रूखे मन को हरित करै,
ऐरे मेरे आँसू ये पियूष ते सरस हैं॥

ये प्रारम्भिक कविताएँ 'चित्राधार'' में संग्रहीत हैं। उनके अन्य संग्रह 'काननकुसुम', 'महाराणा का महत्व', 'करुणालय' और 'प्रेमपथिक' उन्हें जहाँ विषय और भाषा-शैली की दृष्टि से द्विवेदी-युग में रखते हैं, वहाँ इन्हीं काव्यों में कहीं-कहीं नवीन काव्यभूमि के भी दर्शन हो जाते हैं। १९१८ में प्रकाशित 'झरना' की कविताओं से वह स्पष्ट रूप से नवीन काव्य के प्रवर्तक के रूप में दिखलाई पड़ते हैं। राय कृष्णदास ने प्रसाद के संस्मरण में लिखे हुए अपने एक लेख में 'झरना' की कविताओं का इतिहास दिया है जिससे पता चलता है कि 'साधना' (गद्यगीत) और 'झरना' की कविताओं का मूल स्रोत एवं मूल रूप एक ही है। इससे स्पष्ट है कि उन पर रवीन्द्रनाथ की गीतांजलि के गद्यानुवाद का स्पष्ट प्रभाव है। परन्तु यह प्रभाव इस संग्रह की कुछ कविताओं को छोड़कर आगे नहीं बढ़ सका है। १९२७ में 'झरना' का द्वितीय संस्करण प्रकाशित हुआ। इसमें कितनी ही नई कविताएँ उपस्थित

है जो प्रसाद की अपनी विशेष काव्यानुभूति और अभिव्यंजना शैली को प्रकाशित करती हैं। 'विषाद', 'बालू की बेला' और 'किरण' शीर्षक कविताएं रहस्यवाद की व्यंजना, समस्त कविता में लाक्षणिक आरोप और मादकतापूर्ण चित्रमयता को हमारे सम्मुख उपस्थित करती है। परन्तु जिस कविता ने प्रसाद को अग्रगण्य छायावादी कवि के रूप में प्रतिष्ठित किया वह १६३१ में प्रकाशित 'आँसू' है। उनका दूसरा संग्रह 'लहर' (१६३६) है। प्रसाद की कवि-प्रतिभा ने छायावादी काव्य को कामायनी (१६३७) की अंतिम और सर्वश्रेष्ठ भेंट दी है जिसमें कवि एक पौराणिक कथा को लेकर उस पर रूपक का आरोप करता हुआ जीवन-मृत्यु, ज्ञान-कर्म-श्रद्धा, प्रेम और विलास के अन्यतम रहस्य खोलता दिखाई देता है।

प्रसाद सौन्दर्य, प्रेम और करुणा के भीतर से जीवन और प्रकृति को देखते हैं और उन्हें अंतर्जगत में उतारने की चेष्टा करते हैं। यह आध्यात्मिक और सौन्दर्यनिष्ठ असंतोष को प्रगट करते हुए भी काव्य में चिरमंगल का संदेश देते हैं। 'आँसू' के दूसरे संस्करण का अंतिम भाग और कामायनी के अंतिम प्रकरण उन्हें इसी रूप में प्रगट करते हैं। कामायनी में कर्म, श्रद्धा और बुद्धि इन तीनों के सामंजस्यपूर्ण सम्मिलन को ही चिरशांति का विधायक बताया है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया की धाराएँ जब अलग-अलग बहती हैं तो व्यक्ति और राष्ट्र के जीवन में असफलता, संघर्ष और उच्छृङ्खलता के सिवा और कुछ नहीं पड़ता। श्रद्धा के द्वारा इन तीनों विभिन्न शक्तिकेन्द्रों में एकीकरण स्थापित होता है। दुःख का कारण है मन के संतुलन का अभाव। सुख-दुःख को मन के खेल समझ कर समभाव बने रहने और इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया की धाराओं को एकमुखी बनाने में ही मुख्य जाति का कल्याण है। प्रसाद जगत् के दुःख-सुख-प्रधान व्यक्तित्व के ऊपर आत्मा के मांगलिक आनन्दवाद की प्रतिष्ठा करते हैं।

पंत में दार्शनिकता का इतना आग्रह नहीं है जितना प्रसाद और निराला में। वे प्राकृत कवि हैं। उन्होंने प्रकृति, सौन्दर्य और मानव जीवन को कुतूहल, उल्लास और रहस्य की दृष्टि से देखा है। वह सच्चे अर्थों में रोमांटिक कवि हैं। उच्छ्वास, ग्रंथि, वीणा, पल्लव, गुंजन—ये उनके क्रमिक विकास का इतिहास उपस्थित करते हैं। अपने युग में उन्हीं का अनुकरण सबसे अधिक हुआ है और छायावाद-काव्य का प्रतिनिधि कवि उन्हें ही कहा

जा सकता है। उच्छ्वास और ग्रंथि गीतात्मक कथा-काव्य हैं। यद्यपि कथा-शैली विशेष के कारण खुलने नहीं पाई है, परन्तु उसमें हमें पंत के प्रकृत रूप के दर्शन पहली बार होते हैं। वीणा में उनका रूप कुछ अधिक स्पष्ट हुआ है परन्तु पल्लव में ही वे पहली बार काव्य की मान्यताओं को तर्क-वितर्क की भूमि पर उतारते हुए और निश्चित सिद्धान्तों को लेकर बढ़ते हुए हमारे सामने आते हैं। पल्लव (१६२६) में सुकुमार शब्द-चयन, उत्कृष्ट कल्पना, सौन्दर्य और प्रेम की रहस्यात्मक अनुभूति, प्रकृति के प्रति कुतूहल और रहस्यभाव एवं तीव्र आकर्षण, अतीन्द्रिय प्रेम का आग्रह इतने स्पष्ट रूप में हिन्दी जनता के सामने आ गया कि वह कवि को भली भाँति न समझ सकने पर भी उसके प्रति जिज्ञासु हो उठी। जैसा हम पहले कह आये हैं पंत की प्रारम्भिक कविताओं पर गीतांजलि का प्रभाव है परन्तु उनकी बाद की कविताएँ उससे बिल्कुल मुक्त हैं। 'पल्लव' की कविताओं पर यह प्रभाव लगभग नहीं है। इन कविताओं का ऐतिहासिक महत्व महान है क्योंकि इन्हीं के द्वारा काव्य की प्रचलित परिपाटी के प्रति विद्रोह और नवीन काव्य की रूप-रेखा प्रकाशित हुई है। इस विद्रोह के कई रूप थे :

(१) रीतिकालीन शृंगार के प्रति विद्रोह—

"शृंगार-प्रिय कवियों के लिए शेष रह ही क्या गया? उनकी अपरिमेय कल्पना-शक्ति कामना के हाथों द्रौपदी के दुकूल की तरह फैलकर 'नायिका' के अङ्ग-प्रत्यङ्ग से लिपट गई। बाल्यकाल से वृद्धावस्था पर्यंत,—जब तक कोई 'चंद्रबदनी मृगलोचनी' तरस खाकर, उनसे बाबा न कह दे,—उनकी रस-लोलुप सूक्ष्मतम-दृष्टि केवल नख से शिख तक, दक्षिणी ध्रुव से उत्तरी ध्रुव तक, यात्रा कर सकी! ऐसी विश्वव्यापी अनुभूति।....इसी विराट रूप का दर्शन कर ये पुष्प-धनुर्धर कवि रति के महाभारत में विजयी हुए। समस्त देश की वासना के वीभत्स समुद्र को मथकर इन्होंने कामदेव को नव जन्मदान दे दिया, वह अब सहज ही भस्म हो सकता है!"

(२) रीति-काव्य के वाह्य रूप के प्रति विद्रोह—

"भाव और भाषा का ऐसा शुकप्रयोग, राग और छन्दों की ऐसी एकस्वर रिमझिम उपमा तथा उत्प्रेक्षाओं की ऐसी दादुरावृत्ति, अनुप्रास एवं तुकों की ऐसी अश्रान्त उपलवृष्टि क्या संसार के और किसी साहित्य में मिल सकती है!"

(३) खड़ीबोली को नए प्रकार से नए संस्कारों में गढ़ने का उद्योग

(क) शब्दों के रागात्मक रूप और नादात्मक सौन्दर्य को खोजने की चेष्टा :

"भिन्न-भिन्न पर्यायवाची शब्द, प्रायः, संगीतभेद के कारण, एक ही पदार्थ के भिन्न-भिन्न स्वरूपों को प्रगट करते हैं। जैसे भ्रू से क्रोध की वक्रता, भृकुटि से कटाक्ष की चंचलता, भौंहों से स्वाभाविक प्रसन्नता, मृदुता का हृदय में अनुभव होता है।"—आदि

(ख) चित्रमय भाषा के लिए आग्रह :

"कविता के लिए चित्रभाषा की आवश्यकता पड़ती है, उसके शब्द सस्वर होना चाहिये, जो बोलते हों; सेब की तरह जिनके रस की मधुर लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर झलक पड़े; जो अपने भाव को अपनी ही ध्वनि में आँखों के सामने चित्रित कर सकें, जो झंकार में चित्र, चित्र में झंकार हों; जिसका भाव-संगीत विद्युत्धारा की तरह रोम-रोम में प्रवाहित हो सके..."

(ग) भाव और भाषा के सामंजस्य का प्रयत्न :

'भाव और भाषा का सामंजस्य, उनका स्वरैक्य ही चित्र-राग है। जैसे भाव ही भाषा में घनीभूत हो गये हों; निर्झरिणी की तरह उनकी गति और रव एक बन गये हों, छुड़ाये न जा सकते हों..."

(घ) अलंकारों का विशेष प्रयोग :

"अलङ्कार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं; वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं।...कविता में भी विशेष अलंकारों लक्षणा-व्यंजना आदि विशेष शब्द शक्तियों तथा विशेष छन्दों के सम्मिश्रण और सामन्जस्य से विशेष भाव की अभिव्यक्ति करने में सहायता मिलती है...."

(४) छन्द के क्षेत्र में नए प्रयोग

(क) संस्कृत के वार्णिक छंदों की उपेक्षा :

"संस्कृत का संगीत जिस तरह हिल्लोलाकार मालोपमा में प्रवाहित होता है, उस तरह हिन्दी का नहीं।...हिन्दी का संगीत केवल मात्रिक छन्दों ही में अपने स्वाभाविक विकास तथा स्वास्थ्य की सम्पूर्णता प्राप्त कर सकता, उन्हीं के द्वारा उसमें सौन्दर्य की रक्षा की जा सकती है। वर्णस्रोतों की नहरों में उसकी धारा अपना चंचलनृत्य...खो बैठती।"

(५) सवैया और कवित्त की उपेक्षा

"सवैया तथा कवित्त छन्द मुझे हिन्दी की कविता के लिए अधिक उपयुक्त नहीं जान पड़ते..."

(६) तुक के प्रति मोह

"तुक राग का हृदय है।"

'पल्लव' में पंत का विरोध अत्यन्त सफल कविता के रूप में प्रगट हुआ है। वहाँ हमें छायावाद का प्रकृत रूप मिलता है। इस संग्रह की 'परिवर्तन' शीर्षक कविता सचमुच बेजोड़ है, परन्तु इसका कारण यह है कि कवि की दृष्टि विचित्रता पर नहीं है और वह प्राचीन परम्परा को आत्मसात करके चल रहा। चित्रभाषा और नादसौन्दर्य में तो सारे छायावादसाहित्य में इस जोड़ की रचना नहीं मिलेगी—

अहे वासुकि सहस्र फन
लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरंतर
छोड़ रहे हैं जग के विक्षत वक्षस्थल पर
शत-शत फेनोच्छ्वसित, स्फीत फूत्कार भयंकर
घुमा रहे हैं घनाकार जगती का अम्बर
मृत्यु तुम्हारा गरलदन्त कंचुक कल्पान्तर
अखिल विश्व ही विवर, वक्रकुण्डल दिङ्मंडल

'गुञ्जन' की कविताओं में कवि विषय, भाषा और अभिव्यंजना की इतनी ऊंची भूमि पर नहीं उठ सका है, 'पल्लव' के विरोधी स्वर भी दब गये हैं, परन्तु यहाँ हमें कवि जीवन-मरण जैसे चिरन्तन सत्यों के उद्घाटन में लगा दिखलाई देता है। पल्लव में वह बाह्यजगत पर मुग्ध था, उसके सौन्दर्य से रहस्य और कुतूहल की खोज करता था; गुञ्जन में अन्तर्मुख हो गया है, जहाँ उसने बाह्य जगत को देखा भी है, वहाँ आत्मचिंतन के भीतर से। इसी से गुंजन में दर्शन और कविता का सुन्दर सामंजस्य स्थापित हो सका है। आचार्य शुक्लजी के शब्दों में—"गुंजन में कवि का जीवन-क्षेत्र के भीतर अधिक प्रवेश ही नहीं, उसकी काव्य-शैली को अधिक संयत और व्यवस्थित पाते हैं। प्रतिक्रिया की झोंक में अभिव्यंजना के लाक्षणिक वैचित्र्य आदि के अतिशय प्रदर्शन की जो प्रवृत्ति हम 'पल्लव' में पाते हैं वह 'गुंजन' में नहीं है। उसमें काव्य-शैली अधिक संगत, संयत और गंभीर हो गई है।"

पंत की परवर्ती कविताओं में अन्य अनेक प्रवृत्तियों का मेल हुआ है। परन्तु उनमें भी वह अपने पुरातन स्वर भूल नहीं सके हैं। जहाँ कवि प्रकृति और नारी-सौन्दर्य से दो-चार होता है, वहाँ उसकी वीणा के पुराने तार ही झंकृत हो उठते हैं। परन्तु इन बाद की कविताओं में वह कल्पना के शीशमहल से निकल कर जीवन के कर्मपथ पर बराबर बढ़ता चला गया है। उसने यह प्रयत्न किया है कि कला के भीतर से कर्मठ जीवन के स्वरों के उतार-चढ़ाव चित्रित कर सके, यद्यपि अपनी ईश्वरदत्त कोमल प्रकृति के कारण वह सब कहीं सफल नहीं हो पाया है।

सूर्यकांत त्रिपाठी निराला का काव्य-काल १६१५ से आरम्भ होता है। प्रारम्भिक कविताएँ "मतवाला" में प्रकाशित होकर 'अनामिका' नाम से संग्रहीत हुईं। दूसरा संग्रह 'परिमल' था जिसमें तुकान्त, भिन्नतुकांत, अतुकांत और मुक्तछंद सभी प्रकार की रचनाएँ थीं। इस संग्रह ने निराला को क्रांतिकारी कवि के रूप में उपस्थित किया। निराला की कविता पर वेदांत की गहरी छाप है। जहाँ दार्शनिकता के साथ-साथ कठिन और अव्यवहृत भाषा का प्रयोग हो गया है, वहाँ वह केशवदास की तरह कठिन काव्य के प्रेत बन गए हैं। परन्तु ऐसी कविताएँ भी कम नहीं हैं जो भाव, भाषा और अभिव्यंजना की दृष्टि से नूतन होती हुई भी कठिन नहीं हैं। यह कोमल-कठोर, सरल-दुरूह का विचित्र मेल निराला की प्रतिभा की विशेषता है। काव्य के भीतर से स्वतंत्रता और शक्तिमत्ता का ऐसा सुन्दर सामञ्जस्य अन्य प्रांतीय काव्य-साहित्य में भी नहीं मिलेगा। पंत और निराला दोनों की कविताओं में प्राचीन काव्य-रूढ़ियों के प्रति विद्रोह दिखलाई पड़ता है। कुछ चमत्कार की भावना भी है। इसीलिए उनकी प्रारम्भिक कविताओं को, जिनमें ये प्रवृत्तियाँ अत्यधिक वेग के साथ उपस्थित हैं, समझना कठिन है। वैलक्षण्य की प्रवृत्ति पंत में 'पल्लव' के बाद अधिक नहीं मिलती। वे काव्य की सामान्य भूमि पर उतर आये। 'गुंजन' की कविताएँ उदाहरण-स्वरूप उपस्थित की जा सकती हैं, परन्तु निराला में यह प्रवृत्ति अब तक बनी है। इसका कारण वह विद्रोह है जिसका सामना उन्हें पग-पग पर करना पड़ा, जिसने उन्हें प्रकृत नहीं बनने दिया।

'निर्माल्य,' 'एकतारा' और 'कल्पना' आदि काव्य-रचनाओं के कवि मोहनलाल महतो वियोगी रवीन्द्र के प्रभाव को हिन्दी में स्थापित करनेवाले प्रमुख कवियों में से हैं। 'निर्माल्य' के परिचय में लेखक ने कहा है—"यह

गीतांजलि के टक्कर का है, ऐसा कहने का हमें कोई अधिकार नहीं।" परन्तु इस उक्ति से गीतांजलि का प्रभाव ही स्पष्ट होता है; जो इस प्रकार की कविताओं में अधिक मुखर हो उठा है—

मैं क्या लिखता हूँ, इसका है नहीं मुझे किंचित भी ज्ञान ;
अनमिल अक्षर मिलकर बन जाते हैं स्वयं पद्य या गान।
मैं तो हूँ नीरव वीणा, मुझ पर है वादक का अधिकार ;
मुझे बजाता है वह जब आ अपनी इच्छा के अनुसार—
होती हैं तब व्यक्त राग-रागिनियाँ मन हरनेवाली;
है उसकी ही दया अचेतन को चेतन करनेवाली।

छायावाद-काव्य का एक पक्ष 'कविता कविता के लिए'-वाद का आग्रह भी था। वियोगी कहते हैं—'कविता कविता के लिए ही लिखी जाती है। अत्युक्तियों और अलंकारों की सहायता से अपने मन की बातों को रंजित करना आवश्यक है।" इस प्रकार नवीन काव्य में कला की प्रधानता थी। इस प्रवृत्तियों में महतो ने भी महत्वपूर्ण योग दिया है।

इन चार प्रमुख कवियों के अतिरिक्त राय कृष्णदास, माखनलाल चतुर्वेदी, लक्ष्मीनारायण मिश्र आदि कितने ही कवि ऐसे हीं जिन्होंने छायावाद-काव्य के रूप को गढ़ने में सहायता दी है। राय कृष्णदास (१८६२—) के 'साधना', 'छायापथ', 'संलाप', 'प्रवाह' आदि गद्यकाव्य नवीन काव्य-प्रवृत्तियों के ही प्रभाव हैं। 'साधना' का एक गद्यगीत इस प्रकार है—

"मैं अपनी मणिमंजूषा लेकर उनके यहाँ पहुँचा, पर उन्हें देखते ही उनके सौन्दर्य पर ऐसा मुग्ध हो गया कि अपनी मणियों के बदले उन्हें मोल लेना चाहा। अपनी अभिलाषा उन्हें सुनाई। उन्होंने सम्मति स्वीकार करके पूछा—'किस मणि से मेरा, बदला करोगे?' मैंने अपना सर्वोत्तम लाल दिखाया। उन्होंने गर्वपूर्वक कहा—'अजी, यह तो मेरे मूल्य का एक अंश भी नहीं।' तब मैंने पूछा—'मूल्य पूरा कैसे होगा?' वह कहने लगे—'तुम अपने को दो, तब पूरा होगा।"

इस गीत की केन्द्रीय भावधारा छायावाद के अदृष्ट सत्ता के प्रति लिखे गये गीतों की भावधारा से किसी भी प्रकार भिन्न नहीं है। लक्ष्मीनारायण मिश्र ने 'अंतर्जगत्' में असीम और ससीम का संबंध निश्चित किया है—

आज बज उठी तेरे कर से वीणा मेरे मन की,
आशातीत अतिथि ! लीला, कैसी ? तेरी इस छन की !
जागृत तभी हुई अचानक, जो चिरदिन की सोई
सुला सकेगा क्या उसको फिर इस जगती में कोई
जीवन सागर के उस तट पर अपने सुन्दर जग की
सृष्टि अनोखी की है तूने, जहाँ न रेखा मग की।
नीचे सिन्धु भर रहा आहें, हँसते नखत गगन में,
सबसे दूर जल रहा दीपक तेरे भव्य भवन में।
तेरी धुँधली स्मृति के आगे झुकी विश्व की क्षमता;
भला असीम जगत यह तेरी कर सकता है समता !
सत्य कहीं होगी यदि निर्मम यह चिरपूजा मेरी,
तो देवत्वलाभ कर लेगी पवन प्रतिमा तेरी

वह साधना के उपर्युक्त गद्यगीत से भिन्न नहीं है, केवल प्रकाशन-शैली में अंतर है। इन सभी कवियों में भाषाशैली की वक्रता को अत्यन्त महत्व दिया गया था। साधारण-सी बात कहने के लिए कवि इतना आयोजन इकट्ठा करता दिखलाई पड़ता है कि केन्द्रीय भावधारा गौण चित्रों के पीछे छिप जाती है। माखनलाल चतुर्वेदी 'तरुण कलिका से' कहते हैं—

 री सजनि, वनराजि की शृंगार
समय के बनमालियों की क़लम के वरदान,
डालियों, काँटों भरी के ए मृदुल अहसान;
मुग्ध मस्तों के हृदय के मुँदे तत्त्व अगाध;
चपल अलि की चरम संचित गूँजने की साध;

बाग़ की बाग़ी हवा की मानिनी खिलवाड़,
पहन कर तेरा मुकुट इठला रहा है झाड़
खोल मत निज पंखियों के द्वार,
री सजनि, बनराजि की शृङ्गार

आ गया वह वायु-वाही, मित्र का नव राग,
बुलबुलें गाने लगी हैं—जाग, प्यारी, जाग !
प्रेम-प्यासे गीत गढ़ तेरा सराहें त्याग,
रागियों का प्राण है, तेरा अतुल अनुराग,

पर न बनदेवी, न संपुट खोल, तू मत जाग,
विश्व के बाज़ार में मत बेच मधुर पराग !
खुली पंखड़ियाँ कि तू बे-मोल,
हाट है यह ; तू हृदय मत खोल

इसके केन्द्र में जो भाव है, वह अधिक महत्वपूर्ण नहीं है, पर उसपर रूपक का विशाल मंदिर खड़ा कर दिया गया है। इस प्रकार की कविताएँ एक दो नहीं, सैकड़ों की संख्या में लिखी गईं जिनमें कवि को या तो कुछ कहना ही नहीं होता था, या जो उसे कहना होता था वह महत्वपूर्ण नहीं होता था। छायावाद के गौण कवियों में इस प्रकार की कविताएँ अपेक्षाकृत अधिक मिलेंगी। इनमें हम छायावाद को एक विशेष भाषाशैली के रूप में ही देखते हैं, विशेष दर्शन के रूप में नहीं जैसा प्रसाद के काव्य में। सच तो यह है कि छायावाद काव्य की शैलियों का सभी प्रकार की कविताओं में प्रयोग हुआ। राष्ट्रप्रेम, समाजसुधार, प्रकृति—सभी पर इस नए ढंग से लिखा गया कि जनता हठात् विद्रोही हो गई, वह नए काव्य को खिलवाड़ समझने लगी। विभिन्न कवियों ने विभिन्न प्रवृत्तियों के वशीभूत हो छायावाद की एक-एक दो-दो विशेषताओं को लेकर अपने काव्य की रचना की, इस तरह काव्य का एक विशाल संग्रह खड़ा हो गया जो किसी एक "वाद" के भीतर नहीं आ सकता था।

छायावाद के इन कवियों ने जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है दुःख को प्रधानता दी थी। धीरे-धीरे उनका चिंतन आत्मप्रधान हो गया और निराशा-वाद की धारा का सूत्रपात हुआ। दुःख को साहित्य के मूल सत्य के रूप में स्वीकार कर लिया गया। यही समय गांधीयुग के आविर्भाव का भी है। गांधीवाद महायुद्ध के बाद से आज तक राजनैतिक क्षेत्र में प्रधानता पाता रहा है। वह दुःख, आत्मपीड़न और समझौते को स्वीकार करता है, विद्रोह और आमूल परिवर्तन को नहीं। हिन्दी-काव्य के दुःखवाद और दुःख को साधना के रूप में स्वीकार करने की भावना में मूलतः कोई अंतर नहीं। 'प्रसाद' और 'पंत' की निराशा कवि की निराशा थी। बाद के कुछ कवियों ने इसे दार्शनिक भित्ति देने की चेष्टा की और वे सफल भी हुए। इस प्रकार अध्यात्मवाद और आध्यात्मिक निराशावाद का जन्म हुआ। सुश्री महादेवी वर्मा की कविताओं में इस धारा ने सर्वोच्च विकास प्राप्त किया। दुःख की कल्पनात्मक अनुभूति कविता-क्षेत्र की एक रूढ़ि सी हो गई। नये कवियों में

इसकी काफ़ी छीछालेदार भी हुई। जिन कवियों ने इन भावधाराओं में योग दिया उनमें महादेवी वर्मा के बाद रामकुमार वर्मा, जनार्दन झा 'द्विज' और भगवतीचरण वर्मा महत्वपूर्ण हैं। इन सबका साहित्य मुख्य रूप से १९२५ के बाद हमारे सामने आया, अतः सामयिक साहित्य के अंतर्गत आता है। छायावाद की विवेचना करते हुए और उनके ऐतिहासिक विकास की रूपरेखा निर्धारित करते हुए हमने इनका उल्लेख किया है।

कहानी-साहित्य

प्राचीन भारत का कहानी-साहित्य

वर्तमान समय में कहानी का प्रधान उद्देश्य मनोरंजन माना जाता है, परन्तु प्राचीन कहानी-साहित्य में हम कहानी के इस उद्देश्य को गौण रूप में ही पाते हैं। सदुपदेश ही अधिकतर कहानी का प्रधान हेतु होता है अथवा सदुपदेश के साथ-साथ किसी विषय विशेष में ज्ञान की कमी पूरी करने की भावना निहित रहती है। हँसी, मनोरंजन और धार्मिक शिक्षा कहानीकार के ध्येय के रूप में बाद को आते हैं। इन आदि कहानियों में मानव और अमानव अथवा मानव और अतिमानव की सृष्टि और उनका पारस्परिक संबंध रोचक रूप में हमारे सामने आता है।

वैदिक भारतवर्ष में इस तरह की अनेक दन्तकथाएँ प्रचलित थीं। तब ये दन्तकथाएँ मनुष्य के भिन्न-भिन्न अंगों में ज्ञान के अभाव की पूर्ति करती थीं। बाद में इनके द्वारा उपदेशों का प्रतिपादन होने लगा। ऋग्वेद की ऋचाओं में हम अवश्य इस प्रकार की दन्तकथाएँ नहीं पाते। परन्तु तब ऋग्वेद का उद्देश्य देवताओं और यज्ञयाग का वर्णन ही है। फिर भी अमानवों के उस चित्रण में मनुष्य ने अपने स्वभाव को अंकित किया है। बाद को उपनिषदों और पुराणों में ये कथाएँ हमें स्पष्ट रूपरेखा में मिलती हैं। छांदोग्य उपनिषद में सत्यकाम की कथा और कठोपनिषद में नचिकेता आदि की कथाएँ ऐसी ही कथाएँ हैं। ये कथाएँ किसी सीमा तक उपदेशप्रद हैं और बाद को उपदेशपूर्ण कहानियों के लिए मार्ग खोलती हैं। कहानी-साहित्य की दृष्टि से ऋग्वेद की अपाला की कथा, ब्राह्मणों की बामदेव और रोहित की कथाएँ और उपनिषदों के जाबालि और 'नचिकेता' के उपाख्यान अत्यंत प्राचीन हैं। पिछले काल के दार्शनिकों ने भी न्याय और दर्शन के सिद्धान्तों को ग्राह्य बनाने के लिए इस प्रकार की आख्यायिकाओं का प्रयोग किया है। कहानी की इस

गंभीर विषयों को समझाने की उपादेयता का बराबर उपयोग होता रहा है। इसका एक स्पष्ट फल यह हुआ कि कहानी के उपकरण-कारण बढ़ गये। पशु-पत्नी, भूत-प्रेत, चेतन-अचेतन और मानव-अमानव सभी कहानी के पात्र बनने लगे। इन पात्रों की स्वाभाविकता-अस्वाभाविकता तब कथाकार के चिंतन का विषय नहीं थी। सूत्रों और दर्शन-ग्रंथों में इस प्रकार की कथाओं का बाहुल्य है।

कालान्तर में बुद्ध की जातक-कथाएँ लिखी गई। वैशाली की महासमिति के उपरान्त इन जातक-कथाओं का त्रिपिटक में संकलन हुआ, अतएव ये कथाएँ ईसा से पूर्व चौथी शताब्दी में रची गई होंगी। यह भी संभव है कि इन जातक-कथाओं में प्राचीन आर्य-गाथाओं के नवीन संस्करण भी रहे हों। बौद्ध भिक्षुओं के द्वारा ये कथाएँ संसार के समीपवर्त्ती और दूरवर्त्ती भागों में पहुँचीं। इन जातक-कथाओं का प्रचार और प्रभाव अत्यंत व्यापक था। मध्य-एशिया, योरोप, अरब, मिश्र आदि भू-खंडों में इन कथाओं ने पहली बार कहानी नाम की वस्तु को जन्म दिया। यूनान में इन्हीं जातक-कथाओं का रूपांतर किया हुआ संग्रह ३०० पू० ई० के समीप डेमीट्रीमिस कोलिरीयस ने किया। यही संग्रह बाद को "ईसप की कहानियाँ" नाम से प्रसिद्ध हुआ। इन ईसप की कहानियों का, जो जातक-कथाओं का रूपान्तर मात्र थीं, योरोप के साहित्य पर किसी न किसी रूप में सत्रहवीं शताब्दी तक प्रभाव रहा।

पुराण तो एक प्रकार से धार्मिक उपाख्यानों और ऐतिहासिक कथाओं के संग्रह मात्र हैं। इन पौराणिक गाथाओं ने धर्म-प्रधान हिन्दू-प्रवृत्ति को शताब्दियों तक जकड़ रक्खा है। महाभारत में भी—जो पंचम-वेद कहा जाता है—प्रसंग रूप में बहुतसी छोटी-बड़ी आख्यायिकाएँ वर्तमान हैं।

बुद्ध की जातक-कथाएँ पाली और प्राकृत में थीं, परन्तु बाद को ब्राह्मणों ने प्रचार का अच्छा साधन देख कर इन्हें स्वतंत्र रूप से अपना लिया। पंचतंत्र, हितोपदेश आदि ग्रंथों में इस प्रकार की कथाएँ हैं। संस्कृतभाषा में ही नहीं, अपभ्रंश और पैशाचिक भाषाओं में भी इन जातक-कथाओं के आधार पर कथा की सृष्टि हुई। गुणाढ्य की "बृहत् कथा" कदाचित् पैशाचिक भाषा में ही थी। यह सम्भवतः ६०० ई० पूर्व में लिखी गई होगी। अब यह ग्रंथ लुप्त हो चुका है परन्तु इसकी अनेक कथाएँ "बृहत् कथामंजरी" और "कथा सरितसागर" के रूप में अब भी संस्कृत में उपलब्ध हैं।

संसार-साहित्य में एक अन्य प्रभावशाली ग्रंथ 'अलिफ़लैला' (सहस्र रजनी चरित्र) रहा है। परन्तु इसमें भी जातकों के राजा ब्रह्मदत्त और कथा-सरित-सागर के नरवाहनदत्त का अनुकरण कर व्यक्तिविशेष को केन्द्र बनाकर भिन्न-भिन्न कहानियों को कह डालने का ढंग रखा है। संस्कृत साहित्य में भी 'दशकुमार-चरित्र' इसी प्रकार की पुस्तक है।

उपदेश के उद्देश्य से आरम्भ होकर कथा बराबर मनोरंजन की ओर बढ़ती गई। यह तो अवश्य है कि समाज के धर्मप्रधान होने के कारण प्राचीन कहानियों का प्रधान उद्देश्य धार्मिक अथवा नैतिक शिक्षा रहा है, परन्तु 'दश-कुमार-चरित्र' के समय तक लौकिकता और सांसारिकता की शिक्षा की ओर कहानी का झुकाव स्पष्ट दिखाई देता है।

हिन्दी कहानियों का विकास

हिन्दी में पहले-पहल कहानियाँ अनुवाद के रूप में आती हैं। बैताल पच्चीसी, सिंहासनबत्तीसी और शुकबहत्तरी आदि कथा-ग्रन्थ संस्कृत और अन्य भाषाओं से अनूदित हुए। संवत् १६२१ विक्रमी के लगभग लिखी श्री गोकुलनाथजी की "चौरासी वैष्णवन की वार्ता" कदाचित् हिन्दी की पहली गद्य-कहानियों का संग्रह है। इसके पश्चात् सं० १६८० के लगभग जटमल की गोराबादल की पद्यबद्ध कथा का गद्य रूपांतर हुआ। फिर हमें श्री लल्लूलाल, सदल मिश्र और इंशाअल्लाह खाँ की कथाएँ मिलती हैं। लल्लूलालजी का प्रेमसागर और सुखसागर प्रसिद्ध हैं। ये अट्ठारहवीं शताब्दी के आरम्भ की चीजें हैं। सदल मिश्र का "नासिकेतोपाख्यान" भी इसी समय का लिखा है। परन्तु भाषाविकास के सिवा इन ग्रंथों का कोई श्रेय नहीं; कारण, इनमें कथानक की मौलिकता नहीं है। प्रेमसागर और सुखसागर 'भागवत' के आधार पर लिखे गये हैं और नचिकेतोपाख्यान का आधार उपनिषद की एक कथा है। इन बातों का ध्यान रखते हुए श्री 'इंशाल्लाखाँ की "केतकी की कहानी" हिन्दी की पहली मौलिक कहानी-रचना है।

अतएव, हिन्दी कहानी का आरम्भ १८वीं शताब्दी के आरम्भ में हुआ। परन्तु अठारहवीं सदी के मध्य काल तक कोई अन्य मौलिक रचना सामने नहीं आई। शताब्दी के अंतिम चरण में राजा शिवप्रसादजी ने "राजा भोज का सपना" और भारतेन्दु ने "आपबीती और जगबीती" लिखी।

इस समय तक हिन्दी गद्यशैली कई प्रकार से परिष्कृत हो गई थी और

उसमें रोचकता का समावेश हो गया था। इसी समय 'किस्सा साढ़े तीन-यार', 'सारंगा सदावृत्त' आदि कथाएँ लिखी गईं। मनोरंजन और स्त्रीजाति के विरुद्ध प्रचार के सिवा इनका कोई उद्देश्य नहीं था।

वर्तमान युग में कहानियों के विकास का विशेष श्रेय हिन्दी पत्र जगत् को है। पत्रों में मनोरजन के लिए एक ही अङ्क में प्रकाशित होने के लिए छोटे-छोटे कथानकों के रूप में कहानी का विकास हुआ। इस क्षेत्र में 'सरस्वती' और 'इन्दु' ने बड़ी सेवाएं कीं। 'सरस्वती' में प्रकाशित अधिकांश कहानियाँ अंग्रेजी और बंगला से अनूदित होती थीं। मौलिक रचनाओं की संख्या कम थी। तब तक बंगला में काफ़ी कहानियाँ लिखी जा चुकी थीं और बाद की मौलिक कहानियों पर बंगला का यथेष्ट प्रभाव पड़ा। मौलिक कहानियों के विकास में 'इन्दु' का हाथ प्रधान रहा है।

श्री 'प्रसाद'

वर्तमान युग की प्रथम मौलिक कहानी 'ग्राम' है जिसके लेखक बाबू जयशंकरप्रसाद हैं। यह १९११ में इन्दु में प्रकाशित हुई थी। अतएव प्रसादजी को हम आधुनिक हिन्दी कहानी का प्रवर्त्तक कह सकते हैं। प्रसाद कवि-कहानीकार हैं, परन्तु अपनी श्रेणी के अन्य लेखकों की अपेक्षा उनकी दृष्टि तीव्र है और उनकी अनुभूति आश्चर्यजनक है। उन्होंने भिन्न भिन्न चरित्रों का उद्-घाटन किया है और समाज के मध्य और निम्न वर्गों को आधार बना कर सफल कहानियाँ लिखी हैं।

प्रसादजी की कहानियों में हमें हिन्दू संस्कृति के दर्शन होते हैं और यह बात उनकी ऐतिहासिक और सामाजिक सभी कहानियों में एक जैसी मिलती है। प्रसाद प्राचीन सभ्यता और संस्कृति को भारत की मुक्ति का मूलमंत्र समझते हैं और बारबार वे इस बात पर ज़ोर देते हुए जान पड़ते हैं। उनकी कहानियों में एक प्रकार की मनोरंजन भावुकता और स्वाभाविकता है। कविता का एक विशेष पुट देकर और कथोपकथन को जड़ वार्तालाप से ऊपर उठाकर उन्होंने इन कहानियों का समय, देश और समाज के बंधनों से मुक्त कर अमरता की भूमि में स्थान दिया है। उनकी 'आकाशदीप', 'स्वर्ग के खंडहर में' 'पुरुस्कार' आदि कहानियों में कला का सुन्दर विकास हुआ है।

प्रसादजी ने सामाजिक त्रुटियों को ध्येय बनाकर भी कहानियाँ लिखी हैं, परन्तु काल्पनिक और ऐतिहासिक कहानियों में ही वे अधिक सफल रहे हैं।

उनकी चरित्र-चित्रण प्रणाली अत्यन्त मनोवैज्ञानिक है और उनकी कहानियों में पात्रों का मानसिक विश्लेषण पर्याप्त मात्रा में रहता है। उन्होंने भिन्न-भिन्न कहानियों में भिन्न-भिन्न प्रकार की भाषा का प्रयोग किया है। वे अलंकारपूर्ण भी हो सकते हैं और प्रसाद गुण युक्त भी। उनकी बहुत-सी कहानियों में भाषा की चुहल देखने योग्य है। परन्तु कभी-कभी जब वे अप्रचलित शब्दों की भरमार-सी कर देते हैं, तब वे साधारण पाठकों के लिए कठिन हो जाते हैं।

पं० विश्वम्भरनाथ 'जिज्जा'

आपकी 'परदेशी' शीर्षक कहानी १९१२ में 'इन्दु' में प्रकाशित हुई थी। आपने भी हिन्दी कहानी के विकास में बड़ी सहायता दी है। ये कहानियाँ भाषा और भाव की सरलता और कथावस्तु के साधारण होने के कारण अब समय के पीछे जा पड़ी हैं, परन्तु एक समय 'पंजाब मेल' आदि कहानियों पर जनता मुग्ध थी।

पं० विश्वम्भरनाथ 'कौशिक'

कौशिकजी ने १९१३ ई० में 'रक्षाबन्धन' शीर्षक कहानी के साथ 'सरस्वती' के द्वारा हिन्दी में प्रवेश किया था। अब आपकी कहानियों के दो संग्रह निकल चुके हैं—'चित्रशाला' और 'मणिमाला'। 'ताई' उनकी सर्वश्रेष्ठ कहानी मानी जाती है। कौशिकजी की अधिकाश कहानियाँ सामाजिक हैं और किसी विशेष नैतिक ध्येय को सामने रख कर लिखी गई हैं। इनकी कहानियों में पात्रों का मानसिक विश्लेषण सुन्दर रहता है, परन्तु उनकी सबसे प्रधान बात उनकी भाषा और विशेषकर कथा का वार्तालाप भाग है।

श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी

गुलेरी जी की एक कहनी—'उसने कहा था' १९१५ ई० में सरस्वती में प्रकाशित हुई। अब उनकी दो और कहानियाँ प्रकाश में आई हैं। 'उसने कहा था' हिन्दी की सबसे पहली सर्वाङ्गपूर्ण यथार्थवादी कहानी है और कला के प्रत्येक अंग पर पूरी उतरती है।

महायुद्ध के आरम्भ होने तक हिन्दी में काफ़ी संख्या में मौलिक कहानियाँ लिखी जा चुकी थीं। इसके साथ ही कहानी-कला भी भली-भाँति विकसित हो गई थी। १९१४ में पं० ज्वालादत्त शर्मा और श्री चतुरसेन शास्त्री ने हिन्दी में प्रवेश किया। दोनों कहानीकारों के ढंग और ध्येय भिन्न-भिन्न थे। शर्माजी की सामाजिक और घटना प्रधान-कहानियों की कुछ दिन बड़ी

माँग रही। अब अवश्य उनकी कहानियाँ समय के पीछे पड़ गई हैं। बाद को प्रेमचंद की सुन्दर कृतियों में उनका क्षेत्र छीन लिया। शर्माजी भी उन कहानी लेखकों में से हैं जो—'कला कला के लिए' सिद्धान्त के प्रतिपादक नहीं है। उनकी प्रत्येक कहानी में कोई नैतिक ध्येय छिपा है। इस प्रकार वे भी प्रेमचंद स्कूल के अन्दर आ जाते हैं। शास्त्रीजी की कहानियों में नग्नता और एक प्रकार की सुन्दर भावुकता है—'दुखवा कासों कहूँ मोरी सजनी' में उनकी भावुकता और उनकी मनोरंजक शैली अत्यंत मनोहर रूप में सामने आती है।

प्रेमचंद

१६१६ ई० में बाबू धनपत राय (मुंशी प्रेमचंद) के पदार्पण के साथ हिन्दी कहानी साहित्य में एक अपूर्व परिवर्तन हो गया और १६३६ के अन्त में इन प्रेमचंद का स्वर्गवास कहानी-साहित्य के इतिहास में प्रमुख घटना रहेगी। प्रेमचंदजी हिन्दी में आने के पूर्व वर्षों उर्दू में लिख चुके थे और उस साहित्य में उनका प्रमुख स्थान था। अपनी अपूर्व मौलिकता और प्रतिभा के कारण हिन्दी में प्रवेश करते ही उन्होंने चोटी का स्थान प्राप्त कर लिया।

प्रेमचंदजी की भाषा उर्दू मिश्रित हिंदी (अथवा हिन्दोस्तानी) है। आज यह भाषा प्रेमचंद की मुहर पाकर टकसाली हो गई है। उत्तरी भारत के हिन्दू-मुसलमान बराबर हेर-फेर से इसी भाषा का प्रयोग करते हैं। इस भाषा ने प्रेमचंद को सर्वप्रिय बना दिया।

प्रेमचंदजी की कहानियाँ भारतीय सामाजिक जीवन का चित्र है। समाज के प्रत्येक अंग ने उनसे आवश्यक सहानुभूति पाई है और इसी विशाल सहानुभूति के कारण वे हिन्दू, मुसलमान, अँगरेज और अन्य जातियों के घर में प्रवेश करने में सफल हुए हैं। उन्होंने सभी के विशेष चित्र दिये हैं। वे गृहस्थ जीवन के सफल कवि हैं, यद्यपि हम मान लेते हैं कि शरत् बाबू ने इसी क्षेत्र में अधिक सुन्दर चित्र दिये हैं।

गाँव के चित्र और कवित्वमयता ये दो प्रेमचंद की कहानियों की अपनी विशेषताएँ हैं। प्रेमचंदजी जनता के लेखक थे। उन्होंने अपनी कहानियों के द्वारा उन सहस्रों मूक और दीन किसानों और मजदूरों का प्रतिनिधित्व किया जो पहले साहित्य में अछूत माने जाते थे। उन्होंने पहली बार वर्गसाहित्य की सृष्टि की है और इस प्रकार वे हिन्दी के गोर्की नहीं तो गोर्की के बहुत निकट आ जाते हैं।

परन्तु प्रेमचंद की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ वे हैं जिनमें उन्हें यथार्थवाद को छोड़कर आदर्शवाद के क्षेत्र में काम करना पड़ा है। हम इन्हें कवित्व-पूर्ण कहानियाँ इसलिए कहते हैं कि उनमें कहानीकार ने विषय को कवि की दृष्टि से खोजा है और उसी दृष्टि से सँवारा भी है। 'कामनातरु', 'आत्माराम' और 'शतरंज के खिलाड़ी' इन कहानियों में सर्वश्रेष्ठ हैं। इनमें कहानीकार कवि की भाँति तत्त्वों और सीमाओं के बंधन से मुक्त हो गया है और उसकी प्रतिभा को उड़ान भरने के लिए अवकाश और आकाश काफ़ी मिले हैं।

इन कहानियों के बाद ऐतिहासिक कहानियों का स्थान आता है। प्रसाद भी हमारे परिचित ऐतिहासिक कहानीकार हैं परन्तु प्रसाद की दृष्टि जहाँ भारत के हज़ारों वर्ष पूर्व के आश्रमों और बौद्धकालीन सभ्यता की ओर उठती है वहाँ प्रेमचंद समीपवर्ती मुग़लकाल तक जाकर रह जाते हैं। प्रसाद की भाँति प्रेमचन्द भी वर्तमान समस्याओं को निदान पीछे मुड़कर प्राचीन भारतीय सभ्यता और संस्कृति में ही खोजते हैं, परन्तु दोनों के आदर्श भिन्न-भिन्न हैं। हाँ, मुस्लिम सभ्यता और संस्कृति के चित्र इतनी सहानुभूति और सहृदयता के साथ प्रेमचन्द ने खींचे हैं कि वे विजातीय की रचना नहीं जान पड़ते। इनमें उनका विशाल हृदय पूर्णत: प्रतिबिंबित है।

इसके अतिरिक्त प्रेमचन्दजी ने पहली और अंतिम बार जनसमूह और समष्टि का चित्रण किया है। देश के वर्तमान आन्दोलनों का जैसा चित्र उनकी कहानियों में है, वैसा चित्र दूसरी जगह नहीं। कोई विदेशी यदि एक स्थान पर भारत की जानकारी चाहता है तो हम उसे प्रेमचन्द की कहानियाँ देंगे। इस क्षेत्र में वे शरत् और रविबाबू से आगे हैं। शरत् और रविबाबू व्यक्ति और घर और अन्ततः समाज के बाहर नहीं जाते। बाहर के सङ्घर्षों का प्रतिबिंब उनकी रचनाओं में लगभग नहीं है। प्रेमचन्द की कृतियाँ भविष्य के इतिहासकार को भरपूर सहायता देंगी। परन्तु यह भी सच है कि प्रेमचन्द मनुष्य-स्वभाव के इतने बड़े पारखी नहीं हैं जितने शरत्बाबू अथवा रविबाबू हैं और इनकी कहानियों में उतना तीव्र सङ्घर्ष नहीं। उनके चरित्र हमें रोज़ मिल सकते हैं और हम उन्हें बहुधा किसी न किसी श्रेणी के अंतर्गत रख सकते हैं। उनकी कहानियाँ केवल कहानियाँ हैं—कलात्मकता उनमें बहुत अधिक नहीं है।

श्री राय कृष्णदास

रायसाहब की कहानियाँ हिन्दी की कलापूर्ण कहानियों में एक युगांतर

उपस्थित करती हैं। उनकी पहली कहानी १९११ में प्रकाशित हुई थी। उनकी 'अन्तःपुर का आरम्भ' शीर्षक कहानी आदि-काल के नर-नारी स्वभाव का सूक्ष्म चित्रण करती है। यह कहानी भारतीय कहानी-साहित्य में अपने ढंग की अनोखी कहानी है।

श्री हृदयेश

स्वर्गीय चंडीप्रसाद 'हृदयेश' का रचनाकाल १९१९ है। इनकी रचनाएँ कवित्वपूर्ण होती हैं। प्रकृति के सुन्दर चित्रण और लालित्यपूर्ण भाषा के लिए उनकी कहानी देखने की वस्तु है। इनकी भाषा का बाद के नवयुवक लेखकों और जनता पर विशेष प्रभाव रहा है—'सन्ध्या की शोभा रात्रि के क्रमशः प्रगाढ़ होते हुए अंधकार में विलीन हो गई है। विशाल गगन-मंडल में धीरे-धीरे तारिकाओं का उदय होने लगा है और दिवस का विकट कोलाहल रात्रि की नीरव शान्ति में धीरे-धीरे विलुप्त होता जा रहा है—इत्यादि (उन्मादिनी)'। कहानीकला और विशेषकर कथानक और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से हृदयेशजी की कहानियों में विशेष प्रतिभा नहीं है, परन्तु उनकी विशेषता उनकी यही भाषा और कवित्वमय चित्रण है, जो कथानक के स्वतः-प्रवाह में बाधा डालता है।

पंडित गोविन्दवल्लभ पंत और श्री सुदर्शन

१९१९ के लगभग इन दो लेखकों ने हिन्दी में प्रवेश किया। सुदर्शन तो पहले ही उर्दू में लिखा करते थे। इनकी कहानियाँ चरित्र-प्रधान हैं। उर्दू मुहावरों और भाषा के प्रवाह के लिए प्रेमचन्द के बाद सुदर्शन का ही नाम आता है। इनकी कहानियों के कई संग्रह निकल गए हैं। वर्तमान कहानी-साहित्य में इनको प्रशंसनीय स्थान प्राप्त है। पं० गोविन्दवल्लभ पंत की पहली कहानी 'मिलन-मुहूर्त्त' १९१९ में 'प्रतिभा' में प्रकाशित हुई थी। कलापूर्ण ढंग की इनकी छोटी-छोटी कहानियाँ अच्छी होती हैं।

श्री उग्र

उग्रजी का रचनाकाल १९२२ है। आपके प्रवेश से हिन्दी के कहानी-साहित्य में नवीन शक्ति और एक क्रांति का प्रादुर्भाव हुआ है। उग्रजी ने न केवल भाषा की दृष्टि से एक नवीन, चलती हुई, चुलबुली भाषा की सृष्टि की, अपितु इनकी कहानियों का दृष्टिकोण ही सर्वथा नवीन था। वे समाज

के प्रति एक विद्रोह की भावना लेकर उठे थे और उनकी कहानियों ने हिंदुओं की सामाजिक जागृति में विशेष भाग लिया है।

उग्र उन कहानीकार में प्रधान हैं जो 'कला कला के लिए' सिद्धान्त के समर्थक हैं। इन्होंने समाज का नग्नतम चित्रण किया है, जो किसी हद तक अवांछनीय भी है। 'उसकी मा', 'कला का पुरस्कार', 'प्यारे और खुदाराम' उनकी उत्कृष्ट कहानियाँ हैं। प्रेमचन्दजी के बाद सामयिक समाज और विशेषकर देश की राजनीतिक प्रगतियों का जितना सुन्दर चित्रण उग्रजी ने किया है अन्य किसी ने नहीं। भाषा, शैली, कल्पना और कथानक सभी में एक मौलिकता है। 'दोज़ख़ की आग', 'चिंगारियाँ', 'बलात्कार' आदि शीर्षक से उनकी कहानियों के संग्रह निकल चुके हैं। हिन्दू-मुस्लिम समस्या पर उनकी कहानियाँ देखने योग्य हैं। भाषा की चुहल देखिये—'मेरी एक बीबी थी। गुलाब की तरह खूबसूरत, मोती की तरह आबदार, 'कोहेनूर' की तरह बेश-क़ीमत, नेकी की तरह नेक, चाँद की तरह सादी, लड़कपन की हँसी की तरह भोली और मा की तरह प्यारी'...(दोज़ख़ की आग)। 'लड़कपन खो जाने पर उन्मत्त जवानी फूल-फूल कर हँस रही थी, बुढ़ापे के पाने पर फूट-फूट कर रो रही थी। उस 'खोने' में दुःख नहीं, सुख था; इस 'खोने' में दुःख ही नहीं, नरक भी है! लड़कपन का खोना—वाह! वाह!! बुढ़ापे का पाना—हाय! हाय!!' (बुढ़ापा)। उनकी 'चिनगारियाँ' संग्रह में संग्रहीत कहानियाँ साहित्य में अनोखी हैं और उनके बाद इस क्षेत्र में नाम लेने के लिए केवल 'अज्ञेय' रह जाते हैं।

श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी

श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी ने भी सुन्दर कहानियाँ लिखी हैं। उनमें से कई कहानियाँ बहुत सुन्दर बन पड़ी हैं। आपकी कहानियाँ अधिकतर प्रेमचन्द-स्कूल की कहानियों की विशेषता रखती हैं। इधर आपने 'अज्ञेय' आदि के ढंग पर विशेष मनोवैज्ञानिक कहानियाँ लिखी हैं।

श्री जैनेन्द्रकुमार जैन

जैनेन्द्रजी की पहली प्रकाशित कहानी 'हत्या' है। इस कहानी के साथ १९२७ ई० में वह कहानी के क्षेत्र में आये हैं और प्रेमचन्द के स्वर्गवास के बाद शायद हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कहानीकार माने जाते हैं।

जैनेन्द्रजी की कहानियों में उनका व्यक्तित्व स्पष्ट झलकता है। वे जैसे

नीरस, शुष्क, दार्शनिक के रूप में सामने आते हैं। उनकी कहानियाँ उसी रूप को परोक्ष में बराबर लाती हैं। कदाचित् यही व्यक्तित्व (और कठिन गम्भीर व्यक्तित्व) उनके जनता के समीप पहुँचने में बाधा डाल रहा है। वे अवश्य प्रेमचन्द के आगे के कलाकार (और कहानी से पहले कलाकार) के रूप में जनता के सामने आये हैं। भाषा, दृष्टिकोण और बर्ताव सभी दृष्टियों से उन्होंने कहानी-जगत में नवीन सृष्टि की है। उनकी भाषा एक दार्शनिक की भाषा है जो पग-पग पर विचार कर तब आगे बढ़ती है। विचारशील पात्रों और चरित्रों के संघर्ष को सामने रखने के लिए यह भाषा बड़ी उपयुक्त है। 'वातायन', 'दो चिड़ियाँ' और 'एक दिन' नाम से उनका कहानियों के तीन संग्रह भी निकल चुके हैं और उनकी कहानियों की संख्या २०० से ऊपर पहुँच गई है। इन कहानियों में 'एक दिन', 'दो चिड़ियाँ', 'पढ़ाई, 'आलोचक' 'एक टाइप' श्रेष्ठ हैं। इस प्रकार की विश्लेषण-प्रधान कहानियों के लिए जैनेन्द्र में हिन्दी को सुन्दर लेखक मिल गया है। परन्तु इधर की कहानियों में जैनेन्द्र धीरे-धीरे रस से दूर होते जा रहे हैं। जीवन के अन्दर दार्शनिकता का पुट देकर उसे नीरस बना कर चित्रित करना कहानी-कलाकार के लिए अक्षम्य अपराध हो जाता है। जैनेन्द्र में यही बात पाई जाती है। जिस प्रकार कहानी की उपादेयता उसमें नैतिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन के द्वारा नहीं बढ़ाई जा सकती, उसी प्रकार रस को छोड़ कर दर्शन और सिद्धान्त का आश्रय लेकर चलना कलाकार को उसके ऊँचे पद से नीचे खींच लाता है। बाद की कहानियों में उनकी 'पत्नी'-शीर्षक कहानी श्रेष्ठ है। इसमें वे भारतीय नारी की विशेषता ठीक-ठीक पकड़ पाये हैं। परन्तु जान पड़ता है वे इस विषय में अधिक चिंतनशील नहीं हैं। उन्होंने 'भाभी' नाम की एक नारी-सृष्टि को प्रधानता दी है और यह भाभी कई-कई कहानियों ('भाभी', 'ग्रामोफोन का रेकार्ड') और उनके उपन्यास (सुनीता) में बारबार आई है। फिर भी ये भारतीय नारी और भाभी के पवित्र संबंध की सुन्दर मूर्तियाँ नहीं हैं। मनोविज्ञान के उत्साह में जब लेखक भारतीय नैतिक तत्त्वों की साफ़-साफ़ अवहेलना करता है तो वह असह्य हो जाता है।

श्री हीरानंद सच्चिदानंद वात्स्यायन (अज्ञेय)

अज्ञेयजी की अधिकांश कहानियाँ एक खास ढंग से लिखी गई हैं। इसे हम मनोवैज्ञानिक ढग के अंतर्गत रख सकते हैं। अधिकतर कहानियाँ पात्रों

के पिछले दिनों की अस्फुट चित्र-कल्पनाएँ हैं। मनुष्य को जब किसी नवीन समस्या को पुरानी घटनाओं के प्रकाश में सुलझाना होता तो है अतीत के ये चित्र सिनेमा-चित्रों की भाँति इस तेज़ी से आते हैं कि हमारी धारणाशक्ति उन्हें जहाँ-तहां ही पकड़ पाती है। इस प्रकार की कहानियों में चेतना के प्रवाह को दिखाने के लिए कथानक में तेज़ी लाना आवश्यक है। अज्ञेयजी की 'शान्ति हँसी थी' कहानी में यह प्रवाह है।

"जानकीदास, मुजरिम, तुम पर जुर्म लगाया गया है कि तुमने ता० १४ दिसम्बर को...हालीवुड के दरवाज़े पर दङ्गा किया और कि तुम्हारी रोज़ी का कोई ज़रिया नहीं है। बोलो, तुम्हें जवाब में कुछ कहना है।" मजिस्ट्रेट उसे ५ मिनट का अवकाश देता है और जानकीदास सोचता है—शांति ने रोटी उसके हाथ में थमा कर उसी में भाजी डालते-डालते कहा था 'इस वक्त तो हम खा लेते हैं, उस जून मेरी एकादशी है।'

"वह कोई भी काम करना चाहता है ? कोई पढ़ाने का काम ! क्लर्क का, बढ़ई का ! निर्धनता की इस आँच में तप कर मनुष्य के विचार और कार्य थक जाते हैं। तब वह किसी भी काम को इस तरह कार्यशून्यता से बचने के लिए, पकड़ लेता है जैसा डूबता हुआ तिनके को...और उसकी चेतनाशक्ति फिर भी सोई रहती है। इसी में जानकीदास टिकट लेता है बिना सोचे हुए और जब जेब में एक भी पैसा नहीं है—

और यह सब पाँच मिनट में अस्फुट अर्धचेतना मन में फिर जाती है।"

इस प्रकार की कहानियों के लिए अज्ञेयजी ने जिस मनोवैज्ञानिक भाषा का सहारा लिया है वह जैनेन्द्रजी की भाषा से अधिक प्रौढ़ और उपयुक्त है।

अज्ञेय की दूसरी कहानियाँ राजनीतिक हैं—अधिकांश में पात्र और घटनाएँ विदेशी चादर ओढ़ कर सामने आते हैं। उनकी 'अकलंक', 'रोज़ा' और 'कड़ियाँ' ऐसी ही श्रेष्ठ कहानियाँ हैं। इन कहानियों में बार-बार स्त्री की दृढ़ता, कार्यशक्ति और देशशक्ति का प्रदर्शन किया गया है। ये कहानियाँ प्रेम और देशभक्ति के संघर्ष की कहानियाँ कही जा सकती हैं। अन्य कहानियों में ग़रीबी, दलितों और अंत्यजों के प्रति हार्दिक क्रन्दन है। उनके विचार से—'कहानी जीवन की प्रतिच्छाया है और जीवन स्वयम् एक अधूरी कहानी है, एक शिक्षा है, जो उम्र भर मिलती है और समाप्त नहीं होती, (कड़ियाँ)। 'एकाकी तारा', 'पहाड़ी जीवन' 'पगोडावृक्ष' शीर्षक उनकी

अन्य सुन्दर कहानियाँ हैं। परन्तु अर्धचेतन मन की क्रियाओं की व्याख्या में एकान्त मनोवैज्ञानिक ध्येय होने के कारण वे अस्पष्ट होते जा रहे हैं और रूप के आकर्षण में कहानी के रंग और मनोरंजकता को खो देते हैं। यह उनके कहानी-सम्बन्धी विचारों का एकान्त फल है, परन्तु कहानी में हम जीवन की भाँति अपूर्णता नहीं चाहते। वहाँ हम एक चित्र चाहते हैं और कहानी की मनोरंजकता का विषय पूर्ण चित्र ही बन सकता है, अपूर्ण, विशृङ्खलित चित्र नहीं।

पिछले १०-१२ वर्षों में कहानी का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया है। नये-नये लेखकों ने रंगमंच पर पदार्पण किया है और उन्होंने कहानी को कला की एक विशिष्ट वस्तु बना दिया है। सामूहिक रूप से, व्यक्तिगत रूप से नहीं, ये लेखक कहानी के क्षेत्र और रूपरेखा के विस्तार और विकास में एक महान् शक्ति रहे हैं। श्री इलाचन्द्र, ऋषभचरण, भारतीय, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, बनीराम प्रेम, मुक्त, कृष्णानन्द गुप्त, चंद्रगुप्त विद्यालंकार, मोहनलाल महतो वियोगी, रघुपतिसहाय, राजेश्वरप्रसाद, विनोदशंकर व्यास द्विज और वाचस्पति पाठक इनमें प्रधान हैं। इनमें से कुछ अवश्य प्रेमचन्द और प्रसाद से प्रभावित होकर लिख चुके हैं। पाठकजी की कहानियों के दो संग्रह—'द्वादशी' और 'प्रदीप' नाम से प्रकाशित हो चुके हैं। परन्तु ये कहानियाँ कहानी से अधिक रेखाचित्र कही जा सकती हैं और इस रूप में लेने पर ये अत्यन्त मौलिक चीज़ें हैं। इनमें लेखक की अद्भुत पर्यवेक्षणशक्ति का पता लगता है। 'कागज की टोपी' और 'रानी' इनमें सर्वश्रेष्ठ हैं। श्री विनोदशंकर व्यास छोटी कहानियाँ लिखने में सिद्धहस्त हैं। इनकी कहानियाँ कलापूर्ण हैं। 'भूली बात', '४० कहानियाँ' आदि नाम से उनकी कहानियों के कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

हिन्दी में हास्यरस की कहानियाँ बहुत कम हैं। इस क्षेत्र में दो तीन नाम लिये जा सकते हैं—श्री जी० पी० श्रीवास्तव, अज़ीमबेग चग़ताई, अमृतलाल नागर, बेढ़ब बनारसी। श्रीवास्तवजी का हास्य उनकी 'लतखोरीलाल' शीर्षक कहानियों में स्पष्ट है परन्तु वह कोई ऊँचे दरजे का हास्य नहीं है। वह केवल समाज की निम्नश्रेणी की मनोवृत्ति को सन्तुष्ट कर सकता है। चग़ताई की कहानियाँ अवश्य कलापूर्ण और सुन्दर हैं। उनकी 'कोलतार' कहानी बड़ी सुन्दर बन पड़ी है। जहाँ तक स्पष्ट है हिन्दी के कहानीकार में वह

स्वस्थ मनोवृत्ति नहीं जो हास्य के रूप में प्रगट हो सके। शायद इसका कारण उनके चारों ओर का गम्भीर वातावरण और उनकी परिस्थितियाँ हों। श्री अन्नपूर्णानन्दजी और श्री बेढब बनारसी ने भी हास्यरस की कहानियाँ लिखी हैं। बेढबजी का 'बनारसी इक्का' उल्लेखनीय है।

श्री भगवतीचरण वर्मा

'इन्सटालमेंट' के नाम से श्री वर्माजी की कहानियाँ पहली बार संग्रह के रूप में हिन्दी संसार के सामने आईं। इस संग्रह में १५ कहानियाँ थीं जिनमें कुछ परिहास की कहानियाँ सचमुच अपूर्व थीं। इन व्यंग-परिहास की कहानियों में लेखक हमारे सामने बिलकुल नए रूप में आता है यद्यपि उसका हास निरालाजी के परिहास-जैसा गंभीर, अतःस्थायी, नहीं है। 'मुग़लों ने सल्तनत बख्श दी' और 'विक्टोरिया क्रास' इसी प्रकार की कहानियाँ हैं। ये कहानियाँ किसी गहरी संवेदना अथवा भावना का पुट देकर नहीं लिखी गईं।

वर्माजी के कथानक विशेषतः नवीन समाज से लिए होते हैं। उन्होंने नवीन नारी का भी चित्रण किया है। यह नवीन नारी धन के लिए प्रेम बेच देती है, परन्तु अपने हृदय का प्रकाश भी पुरुष को नहीं देती। वह पुरुष को भुलावा देकर मृत्यु तक ले जाती है। 'वाह, एक पेग', 'प्रेज़ेन्ट्स 'एक विचित्र चक्कर है' और 'उत्तरदायित्व' कहानियों में इसी नारी को बार-बार उन्होंने दुहराया है। प्लॉट की यह समानता कहानीकार की प्रतिभा के विषय में संदेह पैदा कर देती है। कहानी कहने का ढंग भी एक ही रहता है—एक पात्र होटल में, घर पर अथवा कहीं चाय या शराब पीते हुए कहानी कहता है। स्पष्ट है कि इस प्रकार के ढंग से केवल एक ही प्रकार का दृष्टिकोण दिया जा सकता है और यह प्रत्येक कहानी में अवाञ्छनीय है। यह कहानी को अनावश्यक रूप से संकीर्ण बना देता है।

वर्माजी की कहानियों की प्रधान दिलचस्पी उनकी भाषा है जो उर्दू का आवश्यक पुट पाकर उनकी अपनी विशेष चीज़ बन गई है। और इसके सिवा वे विचार हैं जो कथानक के धरातल के नीचे अन्तः-सलिला की भाँति बहते हैं और जो कहीं-कहीं पात्र को स्पष्ट रूप से सामने रख देते हैं।

श्री सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'

निराला की कहानियाँ अधिकतः एक कवि की कहानियाँ हैं। उनकी दृष्टि कवि की दृष्टि है—विद्रोहात्मक परन्तु कल्पना-प्रधान। उनकी कहा-

नियों के दो संग्रह 'लिली' और 'सखी' प्रकाशित हो चुके हैं। 'भक्त और भगवान' उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना है। यह कहानी कहानी-क्षेत्र में एक नई भूमि उपस्थित करती है। यह एक सुन्दर आध्यात्मिक कहानी है। हिन्दू मूर्ति में जो प्रतीक है, उसकी सफल व्याख्या है। भक्त उन प्रतीकों की उपासना करता हुआ अमूर्त्त तक पहुँचता है। स्त्री की माँग में सिंदूर देख कर हनुमान का स्मरण होना और स्त्री का शनैः-शनैः अंजना में परिवर्तित हो जाना स्वयम् स्त्री की रहस्यगर्भिता और शक्तिपूजा का सुन्दर प्रतीक है। अधिकांश कहानियों में व्यक्त और अव्यक्त रूप से कहानीकार-कवि ने अपनी अभिव्यक्ति की है। इन कहानियों में लेखक के 'अहम्' के स्वर ऊँचे बजते हैं परन्तु यही उसकी श्रेष्ठ कहानियाँ हैं। ये कहानियाँ हैं—'स्वामी सारदानन्द और मैं', 'देवी', 'भक्त और भगवान' और 'चतुरी चमार'।

निराला जी की अधिकांश कहानियों का रचना-संगठन अच्छा नहीं हुआ है। वे किसी समस्या को सामने नहीं रखतीं अथवा रखती भी हैं तो वे उनके कहने के कवि-ढंग में दब जाती हैं। प्रत्येक कहानी के अंत में लेखक बाज़ीगर की भाँति कथानक को मोड़ दे देता है। उनकी 'चाय', 'सखी' आदि कहानियाँ इसी अस्वाभाविकता के कारण कला से हट गई हैं। उनकी पात्रियाँ स्त्री-स्वभाव पर पूरी नहीं उतरतीं। वे हद से अधिक ज्योति से गढ़ी जाती हैं और प्राणों में मुस्कुरा कर रह जाती हैं।

'देवी' उनकी दूसरी सुन्दर कहानी है। इसमें निराला अपने श्रेष्ठ कलाकार के रूप में हमारे सामने आते हैं। शायद कारण यह हो कि इस प्रकार की कहानी में लेखक को प्लॉट का बंधन और डर नहीं होता। 'देवी' कहानी ने उन्हें अपनी अरूपता के कारण ही व्यंग और परिहास का अच्छा मौक़ा दिया है। वे शब्दों, ध्वनियों और अर्थों को भिन्न-भिन्न ढंग पर व्यंग और परिहास के लिए प्रयुक्त करते हैं। संगमलाल को संग-मलाल बनाना और चतुरी को ('चतुरी चमार' कहानी में) जूतों का सम्पादक बनाना और उसके जूतों को अपरिवर्तनवाद के नमूने बताना निरालाजी की सुन्दर सूझ है। 'देवी' कहानी तो आदि से अंत तक व्यंग की भावना में पुष्ट होती है। उसका प्रतिपादित विषय ही मनुष्यता के प्रति लेखक का अविश्वास है।

भाषा कवित्वपूर्ण और कहीं-कहीं दार्शनिक हो जाती है जो कहानी के प्रवाह में सहायता नहीं देती।

कहानियाँ हमारे सामने आती हैं और नई समस्याएँ और नवीन मान्यशैलियाँ उनमें स्थान पाती हैं।

ऊपर १९३५ ई० तक की कहानी के इतिहास और विभिन्न प्रवृत्तियों का हमने उल्लेख किया है, परन्तु इस संक्षेप उल्लेख से हमारे कहानी-साहित्य की प्रगतिशीलता और कलात्मकता पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। वास्तव में आधुनिक ढंग की कहानी हमारे साहित्य की सबसे नूतन प्रवृत्ति रही है और इसका श्रीगणेश प्रेमचंद और जयशंकरप्रसाद की कहानियों से १९१० ई० के लगभग होता है। प्रेमचंद के अवतरण से पहले की कहानियाँ अधिकांश में सुधारवादी थीं। प्रेमचंद ने कहानी के क्षेत्र का विस्तार किया और समाज के सभी अंगों पर कहानियाँ लिखीं। समाज के दलित और उपेक्षित वर्गों और किसान मज़दूरों के पहले यथार्थवादी चित्र प्रेमचंद की कहानी ने ही हमें दिये। अपनी कहानीकला के लिए प्रेमचंद भले ही रवीन्द्रनाथ ठाकुर के ऋणी हों, इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने अपनी मौलिक प्रतिभा के योग से कहानी को एक महान अस्त्र बना दिया। प्रेमचंद कदाचित् भारत के सबसे बड़े कहानीकार हैं। इस क्षेत्र में उन्हें जो सफलता मिली है, वह उनकी उपन्यास के क्षेत्र की सफलता को बहुत पीछे छोड़ जाती है। जहाँ प्रेमचंद ने सामाजिक और राजनैतिक कहानियों को अपनाया वहाँ प्रसाद ने भावात्मक एवं ऐतिहासिक कहानियां लिखीं। अगले २५ वर्षों में हमारा कहानी-साहित्य मुख्यतः इन्हीं दो महान् कलाकारों की प्रतिभा से पुष्ट हुआ। सुदर्शन, कौशिक और जैनेन्द्र ने इन्हीं लेखकों के क्षेत्र में अपनी-अपनी प्रतिभा का योग दिया। समसामयिक युग के आरम्भ में जैनेन्द्र ही नया दृष्टिकोण लेकर उपस्थित हुए। उन्होंने मनोविज्ञान को कहानी की भित्ति बनाया और कहानी को नई भाषा, नई शैली और मौलिक काव्यकला में पुष्ट किया।

समसामयिक युग

१९३६—४७

पिछले पृष्ठों में हमने १६३५ तक की साहित्यिक प्रवृत्तियों और रचनाओं के संबंध में विशद रूप से विचार किया है। आगे के पृष्ठों में हम समसामयिक साहित्य के संबंध में विवेचना करेंगे। हमारे आधुनिक साहित्य के पिछले दस वर्ष बड़े महत्वपूर्ण हैं। वैसे राजनीति की दृष्टि से भी ये दस वर्ष कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। परन्तु इन दस वर्षों ने तो साहित्य का रूप ही बदल दिया है और उनमें कुछ नितांत नवीन प्रवृत्तियों ने जन्म दिया है।

१६३५ ई० में हमारे देश की राजनीति में कई महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। सब से बड़ा परिवर्तन यह था कि कांग्रेस ने वैधानिक सुधारों को स्वीकार कर लिया और उसने देश के शासन में भाग लेना आरम्भ किया। परन्तु १६३६ ई० में (लगभग ४ वर्ष बाद) यूरोप में भीषण युद्ध छिड़ गया और शीघ्र ही उसने विश्वव्यापी महायुद्ध का रूप धारण कर लिया। सात वर्ष (१६३६-४५) तक यह महायुद्ध चलता रहा। अंग्रेज़ शासकों ने विधान-सभा की स्वीकृति-अस्वीकृति की परवाह न कर देश को युद्ध की भट्टी में झोंक दिया और पिछले महायुद्ध की भाँति लाखों-लाखों सैनिक भरती होकर भिन्न-भिन्न मोर्चों पर जाने लगे। १६४० ई० में ही इस परिस्थिति के विरुद्ध आवाज़ें उठने लगीं और विश्ववन्द्य महात्मा गांधी ने अपने 'हरिजन' पत्र में पहली बार यह माँग की कि अंग्रेज स्वेच्छा से भारत छोड़ जायें। १६४२ ई० में 'भारत छोड़ो' का यह नारा देश-व्यापी हो गया और ६ अगस्त को देश के समस्त बड़े नेता पकड़ कर लोहे के सीखचों के भीतर ठूँस दिये गये। लगभग तीन वर्ष तक आर्डनेंसों और संगीनों के बल पर अँग्रेज़ भारत के धन-जन को युद्धक्षेत्रों में नष्ट करते रहे।

१९४५ ई० में युद्ध समाप्त हो गया। नेता बाहर आये। 'भारत छोड़ो' की आवाज़ फिर उठी और अधिक शक्ति के साथ। अंग्रेज़ इस युद्ध में विजयी हुए थे, परन्तु उनकी आर्थिक शक्ति टूट गई थी। संसार के राजनैतिक क्षेत्र में उन्हें भयंकर धक्का लगा था। उन्होंने यही अच्छा समझा कि राजनैतिक सत्ता भारत की राजनैतिक संस्थाओं के हाथ में छोड़ कर अपने देश चले आयें। परन्तु अपने राष्ट्रीय स्वार्थों और पिछले १५० वर्षों की परम्परा को न भुला सकने के कारण वे प्रगतिशील शक्तियों का साथ नहीं दे सके। उन्होंने मुस्लिम लीग जैसी प्रतिक्रियावादी धार्मिक-राजनैतिक संस्था की बँटवारे की

माँग को स्वीकार किया और चलते चलते देश को पाकिस्तान और हिन्दुस्तान दो भागों में बाँट दिया। फिर भी देश का तीन-चौथाई भाग और ३४ करोड़ मनुष्य १५ अगस्त १९४७ को स्वतंत्रता के वातावरण में साँसें लेने लगे।

परन्तु स्वतन्त्रता के साथ ही पिछले वर्ष अनेक नई समस्याएँ उठ खड़ी हुईं और प्रतिक्रियावादी अराष्ट्रीय शक्तियों ने एक बार फिर ज़ोर पकड़ा है। कलकत्ता, नौआखाली, बिहार, पश्चिमी सीमा प्रांत और पूर्वी-पश्चिमी पंजाब में इतना बड़ा जन-संहार धर्म के नाम पर हुआ है कि सारे संसार में हमारे देश और उसकी संस्कृति का सिर झुक गया है।

हर्ष का विषय है कि पिछले दस वर्षों की राजनैतिक लड़ाई में हिंदी के कवियों और लेखकों ने प्रगतिशील शक्तियों का साथ दिया है। जहाँ-जहाँ साम्प्रदायिकता, शोषण, उत्पीड़न, हिंसा और भय की आँधी चली, वहाँ वहाँ हमारे साहित्यकार चट्टान की तरह अडिग रहे और उन्होंने जनता को आँधी-पानी के दिनों में साहसपूर्वक जीवित रहने का अपार बल दिया। बंगाल के अकाल, कलकत्ता के जनसंहार और पंजाब की विभीषिकाओं पर लिखी कविताएँ और कहानियाँ करोड़ों मनुष्यों के हृदय में मानवता की लौ जलाये रही हैं। अनेक लेखक नौकरशाही के लोहे के सींखचों के पीछे अदम्य उत्साह से लेखनी चलाते रहे और जो बाहर रहे उन्होंने भी आशा, विश्वास और बलिदान के मंत्र फूँके। इसमें संदेह नहीं कि पिछले दस वर्षों में साहित्यकार देश के राजनैतिक और सामाजिक जीवन के साथ कंधे से कंधा भिड़ाकर चला है और उस पर पलायन की लाँछा नहीं लगाई जा सकती।

काव्य

'छायावाद' नाम की जिस काव्यधारा का हमने पिछले पृष्ठों में विवेचन किया है, वह समसामयिक काल में बराबर चलती रही, यद्यपि उसका बल धीरे-धीरे क्षीण होता गया। इस समय की धारा की प्रमुख रचनाएँ हैं हरिवंशराय बच्चन की 'मधुबाला' (१९३६), नरेन्द्र का 'कर्णफूल' (१९३६), महादेवी वर्मा का 'सांध्यगीत' (१९३६), सूर्यकांत त्रिपाठी निराला की 'गीतिका' (१९३६), तारा पांडेय का 'शुक-पिक' (१९३७), इलाचन्द्र जोशी की 'विजनवती' (१९३७), भगवतीचरण वर्मा का 'प्रेमसंगीत' (१९३७), हरिवंशराय बच्चन का 'मधुकलश' (१९३७), रामकुमार वर्मा का 'चन्द्रकिरण' (१९३७), गोपालशरणसिंह की 'कादम्बिनी' (१९३७), आनन्दकुमार का 'पुष्पबाण'

(१९३८), गोपालशरणसिंह की 'मानवी' (१९३८), रामेश्वर शुक्ल अंचल की 'मधूलिका' (१९३८), हरिवंशराय बच्चन का 'निशानिमंत्रण' (१९३८), आरसीप्रसादसिंह का 'कलापी' (१९३८), आनन्दकुमार का 'सारिका' (१९३९), गोपालशरणसिंह की 'संचिता' (१९३९), रामेश्वरी देवी चकोरी का 'मकरन्द' (१९३९), रामेश्वर गुरु की 'शैफाली' (१९३९), उदयशंकर भट्ट की 'मानसी' (१९३९), रामरतन भटनागर का 'तांडव' (१९३९), सुदर्शन की 'झंकार' (१९३९), रामेश्वर शुक्ल अंचल की 'अपराजिता' (१९३९), अनूप शर्मा की 'सुमनांजलि' (१९३९), तोरण देवी लली की 'जागृति' (१९३९), उदयशंकर भट्ट का 'विसर्जन' (१९३९), हरिवंशराय बच्चन का 'एकांत संगीत' (१९३९), महादेवी वर्मा की 'यामा' (१९४०), नरेन्द्र शर्मा का 'पलाशवन' (१९४०), सुमित्रानन्दन पंत की 'पल्लविनी' (१९४०), हरिकृष्ण प्रेमी का 'अग्निगान' (१९४०), गोपालशरणसिंह की 'सुमना' (१९४१), रामेश्वर शुक्ल अंचल की 'किरणबेला' (१९४१), उपेन्द्रनाथ अश्क की 'ऊर्मियाँ' (१९४१), भगवतीप्रसाद बाजपेयी की 'ओस की बूंद' (१९४१), माखनलाल चतुर्वेदी की 'हिमकिरीटिनी, (१९४१), महादेवी वर्मा की 'दीपशिखा' (१९४२), हृदयनारायण 'हृदयेश' की 'सुषमा' (१९४८)। १९४३ के बाद से इस प्रकार की रचनाओं की परम्परा में उतना बल नहीं रहा, परन्तु अब भी 'पत्रों' में और फुटकर काव्य-संग्रहों में इस श्रेणी की कविताएँ सामने आ रही हैं। वास्तव में छायावादी काव्य-शृंखला की अंतिम कड़ी 'कामायनी' (१९३७) है। १९३७ से नई-नई प्रवृत्तियों का जन्म होने लगता है जिन्होंने बाद में जाकर 'प्रगतिवाद' की रूपरेखा स्थिर की। इस नई प्रगतिवादी धारा का पहला स्फुरण 'रोटी का राग' (श्रीमन्नारायण अग्रवाल, १९३७) है। इसी वर्ष पंत ने 'युगांत' (१९३७) लिखकर नई काव्य-प्रवृत्तियों में योग दिया। प्रगतिवाद की कविताएँ 'अपराजिता' (रामेश्वर शुक्ल 'अंचल', १९४१), 'युगवाणी' (पंत, १९३९), मानव (भगवतीचरण वर्मा, १९४०), 'ग्राम्या' (पंत, १९४०), 'किरणबेला' (अञ्चल,१९४१), जीवन के गान (शिवमंगलसिंह, १९४१), मानव (श्रीमन्नारायण, १९४१), तांडव (रामरतन भटनागर, १९४२) और चिंता (अज्ञेय , १९४२) काव्य-संग्रहों में प्राप्त होती हैं। धीरे-धीरे नई प्रवृत्तियाँ पुष्ट होती गईं, परन्तु 'छायावाद' की रचनाओं की परम्परा भी बढ़ती गई। युद्धकाल (१९४२-४५) नये काव्य-प्रयोगों का युग है और इस समय हम छायावाद काव्य-धारा को रूढ़ बनता

और प्रगतिवादी काव्य-धारा को अग्रसर होता पाते हैं। 'रूपाभ' (१९३२ मासिक, प्रयाग), और 'हंस' (१६३०, काशी) ने इस नए काव्य (प्रगतिवाद) के निर्माण में विशेष योग दिया। छायावाद की अनेक प्रवृत्तियाँ नई विचार-धारा से पुष्ट होकर प्रगतिवाद का अङ्ग हो गईं। अब भी प्रगतिवादी कवि यदा-कदा छायावाद की परम्परा से प्रभावित हो जाते हैं—वे अभी एकदम नई दिशा स्थिर नहीं कर सके हैं अतः प्रगतिवाद के साहित्यिक और ऐतिहासिक मूल्यांकन के लिए छायावाद का अध्ययन अनिवार्य हो जाता है।

छायावाद-काव्य का आधुनिक काव्य-साहित्य में बड़ा महत्व है। इस काव्य द्वारा हम प्राचीन काव्य की वृन्दावनीय गलियों से एकदम बाहर आ सके हैं। इसी काव्य के द्वारा हमने पश्चिम और अपने बाहर के विश्व से अपना सम्बन्ध जोड़ा है। इससे भी महत्व की बात यह है कि इस काव्य ने हमारे कलात्मक आन्दोलनों का श्रीगणेश किया है। 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास' (१६००-२५) में डा० श्रीकृष्ण लाल ने इस आन्दोलन का बहुत सुन्दर विश्लेषण किया है :

१—हिन्दी साहित्य के प्रथम पचीस वर्षों में हिन्दी कविता का विकास स्वच्छन्दवाद (Romanticism) का सर्वाङ्गीण विकास है। इस विकासयुग के दो चरण हैं। प्रथम चरण में स्वच्छंदवाद अपने मूल रूप में प्राचीन साहित्य की रूढ़िगत परम्परा और उसके सीमित दृष्टिकोण के प्रति एक उत्साहपूर्ण विरोध था।

२—यह सीमित दृष्टिकोण छंदों के बंधन, अलंकारों की परंपरा और काव्य की रूढ़ियों के कारण और भी संकुचित हो गया था। × × अस्तु आधुनिक कवि जिन्हें मानव-जीवन को समझना और उसकी भावपूर्ण व्यंजना करना अभीष्ट था, रीति-कवियों के संकुचित दृष्टिकोण का विरोध और बहिष्कार करने लगा।

३—स्वच्छंदवाद का प्रथम चरण (१६००-१६) 'सैद्धान्तिक स्वच्छंदवाद' (Theoretical Romanticism) का काल का जिसका सिद्धांत उन्नीसवीं शताब्दी की कविता के संकुचित दृष्टिकोण के प्रति असंतोष और उसकी अतिशय नियमबद्धता (Formatism) और साहित्यिक पांडित्य के प्रति विरोध था। इस विरोध के दो पक्ष थे। प्रथम पक्ष में प्रकृति और मानव-जीवन को उनके संकीर्ण वातावरण से मुक्त करना आवश्यक था और फिर नवीन ज्ञान और संस्कृति के आलोक में काव्य के क्षितिज को

विस्तीर्ण करना था। सैद्धांतिक स्वच्छन्दवाद का दूसरा पक्ष रीति-परंपरा की अतिशय और नियमबद्धता साहित्यिक पांडित्य का विरोधी था। यह विरोध कविता के सभी वाह्य उपादानों—भाषा, छन्द, साहित्यिक रूप और परिभाषा—में प्रत्यक्ष हुआ।

४—स्वच्छन्दवाद का दूसरा चरण केवल एक साहित्यिक आंदोलन मात्र न था, वरन् वह कलात्मक और दार्शनिक आंदोलन भी था। इसमें विश्व की वेदना, सृष्टि का रहस्य, उदात्त भावना तथा प्रेम और वीरता को अपनाने की तीव्र आकांक्षा, अनन्य प्रेम से उद्भूत एकांत वेदना और अनन्त निराशा आदि विशिष्ट दार्शनिक प्रवृत्तियों का प्रदर्शन था। यह द्वितीय आंदोलन १९१४ के आस-पास मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पांडेय, राय कृष्णदास, बदरीनाथ भट्ट और पदुमलाल पुन्नालाल बख़्शी की स्फुट कविताओं से आरम्भ होता है, किन्तु इसका वास्तविक प्रारम्भ १९१८ से मानना चाहिये जब से 'प्रसाद', सुमित्रानन्दन पंत और निराला की नवीन शैली की रचनाओं का प्रकाशन होता है।

५—इस स्वच्छन्दवाद के आंदोलन के कई पक्ष हैं—दार्शनिक, कलात्मक और साहित्यिक।

(क) (इस) दार्शनिक दृष्टिकोण ने मानवीय अनुभूति की परिधि को बहुत ही विस्तृत कर दिया जिसकी अभिव्यंजना सर्वचेतनवादी कविताओं (Pantheistic theory) में मिलती है। कवि को समस्त सृष्टि में—पशु, पक्षी, जड़ और अचेतन वस्तुओं में—एक अव्यक्त चेतना-प्रवाह दिखाई देता है, प्रत्येक स्थान में जीवन का आभास मिलता है। × × (यह) दार्शनिक दृष्टिकोण × × × अनंत की खोज के लिए भी भावना उत्पन्न करता है। भावनाओं का दैवीकरण (Deification) और वेदनामय खिन्नता (Pairful melancholy) दार्शनिक स्वच्छन्दवाद के दो अन्य प्रमुख लक्षण हैं।

(ख) (स्वच्छन्दतावाद आंदोलन के पहले चरण में कलात्मकता के अधिक दर्शन नहीं होते) किन्तु स्वच्छन्दवाद आंदोलन के द्वितीय चरण में प्रतिष्ठित रूढ़ियों, परंपराओं और नियमों को विदा दे दी गई और कला व्यक्तिगत प्रतिभा की अभिव्यंजना मात्र रह गई। कविता के संगीत और चित्रांकन में अभिव्यक्त होने वाली कलानाशक्ति आधुनिक कवि की काव्यकला की कसौटी है। भाषा के अर्थ और नादव्यंजना की सहायता से कवि' दृश्य

रूपों की सृष्टि करता है। अब केवल कुछ अलंकारों द्वारा ही किसी वस्तु का वर्णन करना कला नहीं है, वरन् काव्य-जगत की वस्तुओं को स्वप्नचित्रों के समान उपस्थित करना ही कला की सफलता है। आधुनिक काव्य एक जाग्रत स्वप्न है।

(ग) द्वितीय स्वच्छन्दवाद आन्दोलन का तीसरा पक्ष इसका साहित्यिक रूप है। भाषा-शैली (Diction), छन्द, काव्य-रूप और कविता की परिभाषा—इन सभी क्षेत्रों में महान परिवर्तन हो गया। × × शीघ्र ही एक समृद्ध भाषा-शैली का विकास होने लगा जिसमें संस्कृत तत्सम तथा ध्वनि व्यंजक शब्दों की अधिकता थी। वह चमत्कारपूर्ण और आलोकमय विशेषणों और चित्रमय तथा ध्वन्यात्मक शब्दों का युग था। × × कवियों ने समादृत नियमों की अवहेलना कर विषय और भाव के अनुकूल छन्दों का प्रयोग प्रारंभ कर दिया। (प्रतिष्ठित विधानों के प्रति सबसे बड़ा विद्रोह 'निराला' का मुक्तछन्द था) × × काव्य-रूप की दृष्टि से स्वच्छन्दतावाद आन्दोलन का द्वितीय चरण प्रधान रूप से गीतिवाद का युग था। भावों की संगीतात्मक व्यंजना इसकी विशेषता थी। × आधुनिक गीतिकाव्य पश्चिमी शैली की 'गीति' है; यह संगीतमय भाषा में रचित एक आभ्यांतरित काव्य (Subjective Poetry) है। इस काव्य की कविता में रस और अलंकार का स्थान ध्वनि और व्यंजना ने ले लिया। × × निकट निरीक्षण से यह ज्ञात होगा कि आधुनिक काव्य में ध्वनि-व्यंजना 'ध्वन्यालोक' से अनुमोदित ध्वनि की अपेक्षा पाश्चात्य काव्य-साहित्य की व्यंजना (Subjectiveness) से कहीं अधिक निकट है। वास्तव में आधुनिक कवियों का आदर्श पाश्चात्य ध्वनि और नादव्यंजना है।

यह स्पष्ट है कि छायावाद के प्रवर्तन का श्रेय अलग-अलग प्रसाद, पंत और निराला को है। तीनों रवीन्द्रनाथ के काव्य से प्रभावित हुए परन्तु शीघ्र ही उन्होंने अपने लिए स्वतंत्र पथ प्रशस्त कर लिए। तीनों कवियों ने नये काव्य में नये-नये वातायन खोले। व्यक्तित्व की प्रधानता तीनों में थी। तीनों कवि अभिव्यजना की नई-नई शैलियाँ लेकर चले और तीनों ने भाव-भूमि के प्रसार के प्रति आग्रह दिखाया। पश्चिमी कवियों का सीधा प्रभाव पंत के काव्य पर ही अधिक पड़ा। प्रसाद और निराला प्राचीन आर्य-साहित्य की परंपरा से ही विशेष रूप से प्रभावित हुए और बंगला और अंग्रेजी काव्य में जो सुन्दर और श्रेष्ठ था, उसका सम्बन्ध उन्होंने प्राचीन आर्य-साहित्य से

जोड़ा। इन तीनों कवियों को हम छायावाद की 'बृहद्त्रयी' कह सकते हैं। १९३० ई० तक इन तीनों कवियों का व्यापक प्रभाव नई पीढ़ी पर पड़ने लगा था। इस प्रभाव ने अनेक नए कवियों को जन्म दिया। इनमें सबसे अधिक लोकप्रियता रामकुमार वर्मा, भगवतीचरण वर्मा और महादेवी वर्मा को मिली। इन्हें 'छायावाद' की 'लघुत्रयी' कहा जा सकेगा। रामकुमार वर्मा और महादेवी वर्मा का केवल एकमात्र विषय था—आध्यात्मिक रहस्यवाद। इन्होंने इस विषय के अनुरूप भाषा गढ़ी, नई-नई शैलियों के प्रयोग किये। विषय की एकरसता इनमें मिलेगी, परन्तु इस एक विषय में भाव और विचार के तीनों स्तर मिल जायेंगे।

भगवतीचरण वर्मा का काव्य महादेवी और रामकुमार के काव्य से भिन्न है। वह बालकृष्ण शर्मा नवीन के काव्य की परम्परा में अधिक आता है। अध्यात्म उनका प्रिय विषय नहीं रहा। प्रेम, प्रकृति और विद्रोह यही तीन उनके प्रिय विषय थे। उनकी कविता में रोमांटिक कविता के उस रूप के कोई दर्शन नहीं होते जो हम प्रसाद, पंत और निराला में पाते हैं। न प्रकृति के प्रति रहस्यभावना है न अध्यात्म की उलझन। उन्हें हम आधुनिक कविता का बाइरन कह सकते हैं। उद्दाम वासना, उत्कट लालसा, अदम्य विद्रोह उनके विषय हैं। भाषा में वह ओज, वह मार्दव है जो अन्य छायावादी कवियों में नहीं है। उनकी आँखें रहस्य के परदे में नहीं खो जातीं। आगे चलकर भगवती बाबू प्रगतिवादी काव्य के उन्नायक हुए। सच तो यह है कि जीवन में प्रति प्रेम, संघर्ष और उत्कट राग का भाव उनकी प्रारम्भिक कविताओं में भी है। अतः उनकी एक अलग श्रेणी माननी पड़ेगी। हाँ, व्यक्तिनिष्ठ वे अन्य कवियों से अधिक हैं। फिर भी 'प्रेम संगीत' और 'मधुकण' की कुछ कविताओं में वे काव्य के नक्षत्र-लोक से उतर कर जीवन के समतल पर आ गये हैं। भाषा भी जीवन के अधिक निकट है। १९१०-३२ ई० में जब छायावाद अपने पूर्ण उत्कर्ष में था, इस कवि ने मादक विद्रोह स्वर में, गर्व-भरी नई वाणी दे अपने निजी दुख-सुख कहकर छायावाद-काव्य में एक नई लीक स्थापित कर दी। इसमें सन्देह नहीं कि भगवती बाबू का काव्य छायावाद और प्रगतिवाद की सन्धि पर खड़ा है। उसमें हिन्दी कविता नए स्वर में बोल रही है। वह शिशु की प्यारी रहस्यमय तुतलाहट नहीं है, किशोर का साहसी कंठ है।

इन दोनों 'त्रयी' के बाद जो कवि रह जाते हैं उनमें मोहनलाल महतो, रामनाथ सुमन, हरिकृष्ण प्रेमी और सियारामशरण गुप्त अधिक प्रौढ़ हैं। काल-क्रम की दृष्टि से वह वृहद्त्रयी के साथ हैं। इनमें महतो की कविता पर रवीन्द्र की रहस्यात्मक कविताओं और गीतों का बहुत अधिक प्रभाव है। सियारामशरण ने छंदों के अनेक नये प्रयोग किये हैं और उनमें विषय-वैभिन्न्य भी अन्य कवियों से अधिक है। वे छायावाद और द्विवेदी युग की कविता के बीच की कड़ी हैं। उनके अग्रज मैथिलीशरण गुप्त द्विवेदी युग की कविता के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। पश्चिमी और बंगला प्रभाव से अलग रहकर इस शताब्दी के पहले-दूसरे दशक की काव्य-प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व उन्होंने किया है। परन्तु कलाकार के रूप में मैथिली बाबू सदैव सतर्क रहे हैं। 'झंकार' (१९२९) में उनकी वे कविताएँ संग्रहीत हैं जो छायावाद का प्रभाव ग्रहण करके आगे बढ़ती हैं। वैसे 'साकेत' का ऊर्मिला का विरह-वर्णन और द्वापर काव्य छायावाद की लाक्षणिकता और गीत-शैली को आत्मसात कर लेते हैं। एक और कवि जिनका बहुत कुछ अलग अस्तित्व है, माखनलाल चतुर्वेदी हैं। उन्होंने राष्ट्रीय कविता को नया रूप दिया है। लाक्षणिकता और वाग्भंगिमा उन्हें विशेष प्रिय है। इस विषय में वे प्रसाद के समकक्ष आते हैं। भाषा और शैली के अटपट कलाहीन प्रयोग के भीतर से वह अपनी बात कहने में सफल हुए हैं। 'हिमकिरीटिनी' (१९४१) में उन्होंने अपनी काव्य-साधना को इकट्ठा कर दिया है। रामधारीसिंह 'दिनकर', आरसीप्रसादसिंह, उदयशंकर भट्ट और नरेन्द्र शर्मा ने अनेक प्रकार से छायावाद-काव्य की परम्परा को आगे बढ़ाया है। इन सब कवियों पर पंत का प्रभाव विशेष रूप से लक्षित है, परन्तु उनमें अपना भी बहुत कुछ है। दिनकर का ओज और नरेन्द्र की सुकुमारता छायावाद-काव्य के गौरव हैं।

छायावाद-काव्य की प्रधान प्रवृत्ति प्रकृति-प्रेम थी। परन्तु छायावाद-काव्य में प्रकृति के चित्रण अलंकृत ही अधिक हुए। १९२७ में 'कुसुमकुञ्ज', १९२५ में 'सरस सुमन', १९३२ में 'वनश्री' और 'वंशीध्वनि' लिखकर भक्त ने छायावादी प्रकृति काव्य में नये प्राण डाल दिये। वर्डस्वर्थ उनके माडिल थे। छायावाद की अलंकृत, अभिजात्यात्मक (Aristocratic) भाषा के स्थान पर उन्होंने प्रतिदिन के दृश्यों को प्रतिदिन की बोली में लिखा। यह एकदम नई प्रवृत्ति थी। परन्तु विशेष कारणों से वह अधिक विकसित नहीं

नहीं हो सकी। गोपालसिंह नेपाली के 'पंछी' और 'उमंग' (१९३४) काव्य इस दिशा में अधिक रसात्मक प्रयत्न थे। आधुनिक काल की नवीनतम काव्य प्रवृत्ति (प्रगतिवाद) भाषा और प्रकृति चित्रण के संबंध में वही दृष्टिकोण है जो भक्त और नेपाली का है। परन्तु अब प्रकृति के अच्छे-बुरे सभी चित्र काव्य का विषय बन गये हैं और इन प्रकृति-चित्रों की भाषा लगभग गद्य ही है।

'बच्चन' (हरिवंशराय) की कविताएँ मूलतः स्वच्छन्दवाद के अन्तर्गत आती हैं परन्तु उनमें क्षणिक आनन्दवाद की एक नई धारा बह रही है। 'उमरख़ैयाम' की रुबाइयों (ख़ैयाम की मधुशाला १९३५) के साथ बच्चन ने हिन्दी कविता में प्रवेश किया। 'क्षणिकवाद', 'आनन्दवाद', 'हालावाद' कह कर उनकी कविताओं की खिल्ली उड़ाई गई। उनके गीतों पर यह लांछा लगाई गई कि उनमें 'वासना' भरी पड़ी है। 'कवि की वासना' शीर्षक कविता लिखकर कवि को अपने विरोधियों का मुँह बन्द करना पड़ा। धीरे-धीरे उनकी कविता में आनन्द और मादकता के स्वर म्लान होते गये और मधुकलश (१९३७) के बाद वे घोर निराशावादी के रूप में उपस्थित हुए। 'निशानिमंत्रण' (१९३८) और एकांतसंगीत (१९३९) में दुःख, करुणा निराशा और सूनेपन के स्वर इतने ऊँचे हो उठे हैं कि एक प्रकार से कवि का साहित्य आत्मघाती बन जाता है। 'आओ, सो जायें, मर जायें' कहकर कवि जीवन के द्वन्द्वों की समस्या को हल करता है। परन्तु यह नहीं कि बच्चन की कविता के उज्ज्वल पक्ष हैं ही नहीं। भाषा की नई पकड़, भावों की नई सूझ, नई मूर्तिमत्ता, गीतिकला (Lyrical Art)—अनेक दृष्टियों से बच्चन का काव्य उत्कृष्ट है। उसमें वेदना, पलायन, आत्मघाती आनन्दवाद के जो स्वर हैं वे परिस्थितिजन्य हैं। कवि का जीवन जिन संघर्षों में से होकर गुज़रा है, उन्होंने जो गीत उठाये वे ही कवि ने शब्दों में बाँध दिये। परन्तु इन गीतों में बहुत कुछ है जो इस पृथ्वी का है, जो छायावाद को प्रगतिवाद की ओर बढ़ाता है।

छायावाद के सभी प्रधान कवियों में व्यक्तित्व की भावना बहुत गहरी है। सभी व्यक्तिनिष्ठ हैं। परन्तु प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी और रामकुमार अपनी बात नहीं कहते। उनके काव्य में निर्वैयक्तिकता का ही विशेष विकास हुआ। कवि अपनी बात न कहकर सब की प्राणों की ध्वनि मुखरित करता है। इसी से 'प्रसाद' का 'आँसू' अस्पष्ट रह गया है।

इसी से इन कवियों के अध्यात्म-प्रेम और लौकिक प्रेम के गीत प्राणों को नहीं छूते। नारी के प्रति उनका दृष्टिकोण रहस्यवाद से प्रभावित है। भगवती बाबू में पहली बार इस व्यक्ति का कण्ठ फूटता पाते हैं। फिर तो वैयक्तिकता का तूफ़ान आ गया। सभी कवियों ने 'मैं' शैली अपनाई। सब ज़ोर-ज़ोर से अपनी बात कहने लगे। महादेवी, बच्चन, भगवती बाबू और अंचल की कविताओं में इस वैयक्तिकता की मात्रा सब से अधिक है। इन कवियों में प्रेम आकाशचारी नहीं रह गया। वह इस जगत की स्थूल वस्तु हो गया। बच्चन की 'मिलनयामिनी' (१९४७) भगवती बाबू का प्रेमसंगीत (१९३७) और अञ्चल की कविताएँ (१९३८-४१) इसका प्रमाण हैं। "स्वर्ग की तन्वि" हाड़-मांस की नारी बन गई है।

परन्तु अन्य काव्यधाराओं की भाँति रहस्यवाद जड़ नहीं बन सका। वह गतिशील रहा है। नई-नई वृत्तियों ने उसमें योग दिया। जिन अंग्रेज़ी स्वच्छंद कवियों (Romanticists) को उसने अपना गुरु माना है, उन्हीं में परिवर्तन के बीज भी विद्यमान थे। आधुनिक अंग्रेजी कविताओं में जो क्रांति हुई है वह सौ वर्ष पहले के वर्डस्वर्थ के काव्य से प्रभावित होकर ही हुई है। छायावादी कवियों ने विशेषतयः शेली, कीट्स, और टेनीसन से प्रेरणा ली थी। जब 'सरस सुमन' (१९३२) में गुरुभक्तसिंह 'भक्त' वर्डस्वर्थ की ओर मुड़े, तब प्रगतिवाद के जन्म के लिए वातावरण तैयार होने लगा। काव्य जीवन के निकट आने लगा। भाषा और भाव दोनों में। छायावाद की विचित्रता, चंचलता, विद्रोहात्मकता का अन्त हुआ। वाणी में स्थायित्व आया। गम्भीरता आई। नेपाली (१९३४—) के काव्य ने भाषा-विषयक परिवर्तन को और आगे बढ़ाया। 'बच्चन' को हम जीवन, प्रेम और व्यक्ति को नई आँखों से देखता पाते हैं। रोमांस के धूप के चश्मे जैसे उतर गये हों। 'अञ्चल' की रचनाओं में आत्मा के विरोध में देह की पुकार ही ऊँची उठती है। भाषा, विषय, छन्द और टेकनीक (अभि-व्यंजना) के नये प्रयोग होने लगे हैं। अनेक रचनाएँ छायावाद और प्रगतिवाद की संधि पर खड़ी दिखलाई पड़ती हैं। तांडव (१९४०) में ये दोनों काव्य-धाराएँ स्पष्ट रूप से अलग-अलग होती जान पड़ती हैं।

१९२७ ई० के लगभग छायावाद में अनुकरण की इतनी प्रधानता हो गई थी कि समीक्षकों के लिए एक समस्या खड़ी हो गई थी। इसी वर्ष 'सरस्वती' के संपादक को ऐसी निरर्थक रचनाओं से ऊब कर तीव्र आलोचना करनी पड़ी। रहस्यवादी ऊहापोहात्मक कविताओं की इस बाढ़ ने छायावाद की

साधारण जनता के निकट लांछित कर दिया। १९३६ ई० तक छायावाद की कविता का विद्रोह मुखर हो चला था। 'सरस्वती', खंड ३७, संख्या ३, १९३६ की एक कविता 'रहस्यवाद का निर्वासन' इसका प्रमाण है। इसी वर्ष की पहली संख्या में 'रूखी रोटी वा रहसगान' गीत में कविता में पलायनवाद पर चोट की गई। १९३७ ई० में हम स्पष्ट रूप से नई प्रगतिवादी धारा का प्रवर्तन पाते हैं। रूपाभ (१९३७) और हंस (१९३०) ने इस नवीनतम काव्यधारा के निर्माण में महत्वपूर्ण भाग लिया। इस प्रगतिवादी कविता की विशेषताएँ हैं :

१—भाषा में गद्यात्मकता

२—नये छन्दों की ओर विशेष आग्रह नहीं। परन्तु भाववाहक छन्दों के निर्माण की ओर प्रवृत्ति

३—निर्वैयक्तिक दृष्टिकोण। बाह्य जगत को तद्गत और अनासक्त भाव से देखने का प्रयत्न

४—समाजवादी सिद्धान्तों का बहुल प्रचार

५—किसानों और मज़दूरों का स्तवगान

६—योन के प्रति तीव्र आकर्षण, फ्रायड़ का प्रभाव

७—शोषितों और पीड़ितों के प्रति गहरी सहानुभूति

८—बुद्धितत्त्व की प्रधानता

९—मानवता (Humanism) और अंतर्राष्ट्रीयता (Internationalism)

१०—प्रभाववाद (Impressionism)

११—व्यंगात्मक लाक्षणिक शैली का प्रयोग। डी० एच० लारेन्स और टी० एस० इलियट की रचनाओं का प्रभाव। इससे कविता में ध्वनि-प्राणता की मात्रा बढ़ गई है।

यह स्पष्ट है कि नये काव्य (प्रगतिवाद) में छायावाद के विरुद्ध एक नये रास्ते के निर्माण का प्रयत्न किया गया है। छायावाद की अलंकृत भाषा के विरोध में गद्यात्मक भाषा और व्यंगात्मक लाक्षणिक शैली का प्रयोग बाह्य परिवर्तन है। परन्तु विशेष परिवर्तन इस बार फिर कविता की स्पिरिट का है। व्यक्तिवाद से हट कर कवि निर्वैयक्तिक (Impersonal) हो गया है। उसमें सामाजिकता ही प्रधान हो उठी है। किसानों, मज़दूरों, शोषित, पीड़ितों का काव्य में प्रवेश इसी का फल है। बुद्धितत्त्व की प्रधानता (Rationalism)

के कारण समाजवाद, मार्क्स और फ्रायड काव्य में प्रवेश पा गये हैं। इस नई कविता की सब से आशाप्रद प्रवृत्तियाँ मानवतावाद और अंतर्राष्ट्रीयता ही हैं। छायावाद अधिकतः आध्यात्मिक और साहित्यिक क्षेत्रों को लेकर चला। चारों ओर के जीवन को उसने आँख की ओट कर लिया। अब यही बहिष्कृत जीवन सहस्रों द्वारों से काव्य के नक्षत्रग्रह में प्रवेश कर गया है। मनुष्य की दैहिक भूखें उसका विषय बन गई हैं। अन्न, काम, सामाजिक सभ्यता, आर्थिक मुक्ति हिन्दी कविता के नए विषय हैं। परन्तु अतिवाद यहाँ भी घुस गया है। मनुष्य का बाहर का जीवन ही सब कुछ हो गया है, भीतर का जीवन (कला, सौन्दर्य, अध्यात्म, नैतिकता) कुछ भी नहीं रह गया है।

प्रगतिवादी काव्यधारा के प्रमुख ग्रन्थ हैं—युगवाणी (पंत, १९३९), ग्राम्या (पंत १९४०), कुकुरमुत्ता (निराला, १९४०), जीवन के गान (शिवमंगलसिंह, १९४१), मानव (श्रीमन्नारायण अग्रवाल, १९४१), चिंता (सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन, १९४२), अणिमा (निराला, १९४३), बेला (निराला, १९४६), नये पत्ते (निराला, १९४६), तारसप्तक (सात प्रगतिवादी नये कवियों का संग्रह, दो भाग, १९४५—४७)।

इन संग्रहों में जहाँ हमें कुछ प्रसिद्ध छायावादी कवियों के नाम मिलते हैं वहाँ कुछ अत्यन्त तरुण कवियों के। इन कवियों के काव्य में अभी प्रौढ़ता और [illegible]ता नहीं आई है। अनेक नई दिशाएँ इनके काव्य में उन्मुक्त हुई हैं और अभी इन दिशाओं में पूर्णता नहीं आई है। साम्राज्यवाद की विभीषिका, वर्गसंघर्ष, दरिद्रता, यांत्रिक जीवन के दुःख, मानववाद इत्यादि इन नये कवियों के विषय हैं। इन विषयों के अनुरूप भाषा और शैली में भी परिवर्तन हो गया है। 'पीपल' के ऊपर चिन्तन करता हुआ कवि कहता है—

सर् सर् मर् मर
रेशम के से स्वर भर
बने नीमदल
लंबे, पतले, चंचल
श्वसन स्पर्श से
रोम हर्ष से
हिल हिल उठते प्रतिपल

एक नये प्रकार की सहृदयता की ओर वह बढ़ा है जिसमें भावुकता का अंश अधिक नहीं है—

उस निर्जन टीले पर
दोनों चिलबिल
एक दूसरे से मिल
मित्रों से हैं खड़े,—
मौन मनोज्ञ।
दोनों पादप
सह वर्षातप
हुए साथ ही बड़े
दीर्घ, सुदृढ़तर!
पतझर से सब पत्र गए झर।
नग्न धवल शाखों पर
पतली, टेढ़ी, टहनी अगणित
शिरा-जाल सी फैली अविकल
भू पर कर छायांकित,
नील निरभ्र गगन पर
चित्रित दोनों तरुवर
आँखों को लगते हैं सुन्दर,
मन को सुख कर

नई भाषा-शैली का सब से सुन्दर रूप निराला की नई कविताओं में मिलता है। 'कुकुरमुत्ता' और 'खजोहरा' हमारे समाज और हमारी अपनी सामाजिक धारणाओं पर तीव्र व्यंग हैं। 'खजोहरा' का एक चित्र देखिये—

कच्चे घर ऊबड़-खाबड़, गंदे
गलियारे, बंद पड़े कुल धंधे
लोग बैठ लेते हैं जमहाई,
ठंडी-ठंडी चलती है पुरवाई।
ख़रीफ़ निराई जा चुकी है, कहीं
करने को रहा कोई काम नहीं।
बारिश से बढ़ी ज्वार, बाजरा, उर्द,
गाँव हरे-भरे कुल, कलाँ और खुर्द,
लोग रोज़ रात को आल्हा गाते
ढोलक पर अपना जी बहलाते।

झूला झूलती गाती हैं सावन
औरतें "नहीं आये मनभावन"
लड़के पेंगें मारते हैं बढ़बढ़ कर
गूँज रहा है भरा हुआ अंबर।

'प्रेमसंगीत' शीर्षक कविता में कवि प्रेम की स्वर्गीय ईश्वरता और समाजगत धारणा के प्रति व्यंग करता है। वह ब्राह्मण का लड़का होता हुआ भी काली कहारिन पर मर रहा है। इस प्रकार की विरोध-प्रधान कविताओं में हमारे अपने युग का प्रतिबिंब स्पष्ट रूप से खिल उठा है। समाजवादी और साम्यवादी (कम्यूनिस्ट) आलोचकों ने छायावादी कवियों के प्रति यह लांछा लगाई थी कि उनका काव्य जीवन की वास्तविकता से दूर भागता है। उन्होंने अपील की थी कि साहित्य को जीवन के निकट लाया जाये। राजनीति में कांग्रेस और गांधीवाद की प्रधानता थी। इन्हें नई राजनैतिक शक्तियों ने प्रतिक्रियावादी कहा और राजनैतिक शक्ति को हस्तांतरगत करने के लिए नये साधनों की बात चलाई। अहिंसा और सत्याग्रह इनके लिए कोई महत्वपूर्ण साधन नहीं थे। इस प्रकार के नये दृष्टिकोण से प्रभावित होकर जो धारा चली उसे 'प्रगतिवाद' कहा गया। स्वच्छंदवाद (छायावाद) के कई प्रधान कवियों के योग देने से इस धारा को शीघ्र ही बल प्राप्त हो गया। वे इस नई साहित्यिक प्रवृत्ति के नेता अवश्य नहीं बन सके। उनके काव्य में बार-बार पुराने काव्य की झलक दिखलाई पड़ जाती है। नये प्रगतिवादी काव्य का अधिकांश न अच्छा काव्य है, न अच्छा गद्य। इन कवियों को यौन-व्यापार, नंगेपन (नग्न, स्थूल नारी-सौन्दर्य के चित्रण), प्रयोगों और साधारण जन (प्रोलेतरेत) के प्रति अकारण मोह हो गया है। काव्य की भाषा गद्य की भाषा से बहुत अधिक भिन्न नहीं है। हूरों और परियों के कल्पना-लोक से उतर कर कवि जीवन के उस ठूँठ की ओर आता है जो जल गया है, जिसके पास बदले में देने के लिए कुछ भी नहीं है, कल्पना का आनन्द भी नहीं है। इसी श्मशान में वह अपना डेरा डालेगा और यहीं नये मानव की नई संस्कृति की बीन बजायेगा। नये छन्दों में, नई भाषा में नया कवि ग्राम-ग्राम में जन्म लेते हुए नये जीवन का अभिनन्दन करेगा। 'निराला' की एक कविता है—

कैसी यह हवा चली, तरु-तरु की खिली कली
लगने को कामों में, जगे लोग ग्रामों में

ग्रामों ग्रामों में चल पड़े बड़े बड़े बली
जान गये जान गई, खुली जो लगी क़लई
उठे मसुरिया, बलई, भगे बड़े-बड़े छली
अपना जीवन आया, गई पराई छाया
फूटी काया-काया, गूँज उठी गली-गली !

इस गीत में जन-साहित्य का जो ठाट है वह एकदम निराला है। उसमें पन्त का मार्क्सवाद भी नहीं है और नये कवियों को रूस से उधार ली हुई प्रोलेतरैत की अंधाधुन्धी ऊहापोह भी नहीं। नये कवियों ने आल्हा, कजली और अन्य लोकगीतों की तर्ज़ भी अपनाई है। 'निराला' की एक कजली में उन्नीस-सौ-ब्यालीस की जनता की कुण्ठित भावनाएँ इस प्रकार चित्रित हैं—

काले काले बादल छाये, न आये वीर जवाहरलाल
कैसे कैसे नाग मँडलाये, न आये वीर जवाहरलाल
बिजली फन के मन की कौंधी, कर दी सीधी खोपड़ी औंधी
सर पर सरसर करते धाये, न आये वीर जवाहरलाल
पुरवाई की हैं फुफकारें, छन-छन को बिस की बौछारें
हम हैं जैसे गुफा में समाये, न आये वीर जवाहरलाल
महगाई की बाढ़ बढ़ आई, गाँठ की छूटी गाढ़ी कमाई
भूखे-नंगे खड़े शरमाये, न आये वीर जवाहरलाल
कैसे हम बच पायें निहत्थे, बहते गये हमारे जत्थे
राह देखते हैं भरमाये, न आये वीर जवाहरलाल

इस प्रकार नया काव्य धीरे-धीरे जन-काव्य की भूमि के निकट आ रहा है। नए विषय, नई भाषा, नई अभिव्यंजना। अन्य तरुण कवियों की प्रयोग की भूमि और भी विस्तृत है। इन तरुण कवियों में सब से महत्वपूर्ण हैं डा० रामविलास शर्मा, अज्ञेय, भारतभूषण अग्रवाल, नेमिचन्द्र जैन, त्रिलोचन शास्त्री, शमशेरबहादुरसिंह, गजानन मुक्तिबोध, प्रभाकर माचवे, शिवमंगलसिंह सुमन, शील, रांगेय राघव और गिरिजाकुमार माथुर। इन कवियों के काव्य में हमें नवयुग की अनेक प्रवृत्तियाँ मिलती हैं और हमारे साहित्य में कविता के नेतृत्व की जो परम्परा सरहपा के समय से चली आती है, वह उनके हाथ में सुरक्षित है। अभी इस नई काव्य-धारा से बड़ी-बड़ी आशायें हैं।

उपन्यास और कहानी

हिन्दी कथा-साहित्य के इतिहास में १९३६ बड़ा महत्वपूर्ण वर्ष है। इसी वर्ष प्रेमचंद का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास 'गोदान' और जैनेन्द्रकुमार का 'सुनीता' उपन्यास प्रकाशित हुआ। पिछले उपन्यासों से इन उपन्यासों का दृष्टिकोण नितांत भिन्न था। १९१६ ई० में सेवासदन के प्रकाशन के साथ हिन्दी उपन्यास का सुधारवादी एवं गांधीवादी युग प्रारम्भ होता है। लगभग बीस वर्ष तक इसी सुधारवादी एवं गांधीवादी विचारधारा का साम्राज्य रहा। 'गोदान' और 'कफ़न' की कहानियों में प्रेमचंद पहली बार एक नये दृष्टिकोण की ओर बढ़ते दिखलाई पड़ते हैं। अपने पहले उपन्यासों के दृष्टिकोण कोउन्होंने 'यथार्थोन्मुख आदर्शवाद' कहा है परन्तु 'गोदान' और 'कफ़न' में वह विशुद्ध यथार्थवादी दिखलाई पड़ते हैं। 'गोदान' में उन्होंने 'होरी' जैसे एक सामान्य दुर्बल कृषक को अपनी कथा का नायक बनाया है। होरी किसी भी तरह आदर्श नहीं कहा जा सकता। भारतीय कृषक की सारी मजबूरियों का वह सम्पूर्ण चित्र है। परन्तु इन मजबूरियों ने उसे एक अत्यंत विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान किया है। इस उपन्यास में प्रेमचंद समाज के सारे संगठन और सभ्यता के सारे ढोंग एवं धर्म और ईश्वरवाद को संदेह को दृष्टि से देखते हैं। 'सुनीता' में जैनेन्द्र प्रेम और यौन-समस्या को और भी नंगे रूप में सामने रखते हैं। 'कफ़न' की कहानियाँ समाज की धर्म, संस्कृति, सभ्यता, विवाह और प्रेम की सारी विडम्बनाओं को और भी शक्ति के साथ उपस्थित करती हैं। मनुष्य कहाँ तक गिर गया है, करोड़ों-करोड़ों व्यक्तियों के जीवन में सुख प्रवञ्चना-मात्र है, यह पाठक से छिपा नहीं रह सकता। यह स्पष्ट है कि इसकी ज़िम्मेवारी समाज और राष्ट्र पर है—उत्पादन के साधनों का राष्ट्रीकरण और अर्थ का संतुलित वितरण ही इन रोगों का निदान है। इन उपन्यासों और कहानियों ने साहित्य की उस धारा का श्रीगणेश किया जिसे 'प्रगतिवाद' कहा जाता है। वैसे प्रेमचंद के उपन्यासों और कहानियों में सामयिक सामाजिक और राष्ट्रीय समस्याओं पर विस्तृत रूप से विचार किया गया है, परन्तु अब साहित्यिक केवल तटस्थ विचारक न रह कर क्रांतिकर्मी बन गया।

प्रेमचंद (मृ० १९३६) के बाद हिंदी उपन्यास ने कई नवीन दिशाएँ ग्रहण कीं। पिछले दस वर्षों में न 'गोदान' जैसा कोई उपन्यास ही हमें मिला है, न प्रेमचंद जैसा कोई मेधावान कथाकार, परन्तु इसमें संदेह नहीं

है कि नये साहित्य में उपन्यास और कहानी ही सब से शक्तिशाली और प्रगतिशील हैं। भाषा-शैली के जितने प्रयोग तरुण उपन्यासकारों ने किए हैं उतने प्रयोग गद्य के सब क्षेत्रों में मिलाकर भी नहीं हुए। प्रेमचंद के बाद जो उपन्यासकार नई शक्तियाँ लेकर हिन्दी में आये उनमें सब से महत्वपूर्ण हैं सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, (निरुपमा, १९३६ ; बिल्लेसुर बकरिहा, १९४१ ; चोटी की पकड़, १९४६), जैनेन्द्रकुमार जैन (सुनीता, १९३६; त्यागपत्र, १९३७; कल्याणी, १९४०), राहुल सांकृत्यायन (जय-यौधेय, १९४४ ; सिंहसेनापति, १९४५ ; जीने के लिए, १९४५); सियारामशरणगुप्त (नारी, १९३८); उपेन्द्रनाथ अश्क (सितारों के खेल १९४०), इलाचंद्र जोशी (सन्यासी, १९४१; पर्दे की रानी, १९४१), यशपाल (दादा कामरेड, १९४१; चक्कर क्लब, १९४२); सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन (शेखर, १९४१—४६) और भगवतीचरण वर्मा (टेढ़े मेढ़े रास्ते, १९४६)। नये तरुण उपन्यासकारों में रांगेय राघव, राधाकृष्ण, रामचंद्र और गंगाप्रसाद मिश्र ने बड़ी शक्ति से प्रवेश किया है और हिन्दी उपन्यास को उनसे बड़ी-बड़ी आशायें हैं। सच तो यह है कि १९३६ के बाद जितना विकास उपन्यास और कहानी के क्षेत्र में हुआ है, इतना और किसी क्षेत्र में नहीं हुआ। उपन्यास लिखने के ढंग में तो इतना परिवर्तन हो गया है कि प्रेमचंद के उपन्यास बहुत पीछे छूट गये हैं। इस क्षेत्र में कलात्मक प्रयत्न जैनेन्द्रकुमार ने आरंभ किये और अनेक लेखक अपनी व्यक्तिगत शैली गढ़ने में सफल हो गये हैं।

पुराने उपन्यासकार भी अपने-अपने क्षेत्रों में पिछले दस वर्षों में बराबर काम करते रहे हैं। इन प्रौढ़ उपन्यासकारों में सबसे प्रसिद्ध ऋषभचरण जैन, वृन्दावनलाल वर्मा, धनीराम प्रेम, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, पांडेय बेचन शर्मा उग्र, राधिकारमणसिंह, उषादेवी मित्रा और चतुरसेन शास्त्री हैं। इन उपन्यासों की प्रतिभा के योग से आधुनिक हिन्दी उपन्यास को इस योग्य बनाया है कि वह संसार के उपन्यास-साहित्य के सामने अपनी देन भी रख सके। अभी इस क्षेत्र में और भी आगे बढ़ना है। प्रेमचन्द के बाद शरत् बाबू और रवीन्द्र एवं पश्चिम के अनेक उपन्यासकारों के प्रभाव को ग्रहण कर हम अनेक दिशाओं में आगे बढ़े हैं, परन्तु अभी अपने धरती के पुत्रों की कथा हमने नहीं कही है। अभी हमें 'गोदान' की परंपरा को आगे बढ़ाना होगा।

पिछले दस वर्षों में कहानी ने भी चतुर्दिक प्रगति दिखलाई है। आज

सैकड़ों की संख्या में कलात्मक कहानियाँ हमारे साहित्य में आ गई हैं और हम पूर्व-पश्चिम के किसी भी साहित्य के समकक्ष अपना कथा-साहित्य रख सकते हैं। जिन नए उपन्यासकारों ने उपन्यास क्षेत्र में प्रेमचंद की परंपरा को आगे बढ़ाया है, वे ही अधिकांश में नए कहानीकार भी हैं। नई कहानी का आरंभ प्रेमचंद की कहानियों से ही होता है। उनके 'कफ़न' (१९३७) संग्रह ने हिंदी के तरुण कहानीकारों को नई दिशा दी। शोषितों, पीड़ितों, लांछितों और स्नेह-वंचितों के लिए कहानी-लेखक की सहृदयता उमड़ी पड़ती है और वह बड़ी भावुकता के साथ नई प्रगतिशील शक्तियों का आह्वान सुनकर मैदान में निकल पड़ता है। 'कफ़न' (१९३७) के बाद महत्वपूर्ण कहानी संग्रह है—नीलम देश की राजकन्या (जैनेन्द्रकुमार, १९३८), नई कहानियाँ (जैनेन्द्रकुमार, १९३९), सावनी समाँ (राधिकारमणसिंह, १९३८), पुरस्कार (कृष्णानंद गुप्त, १९३९), पिंजरे की उड़ान (यशपाल, १९३९) सफ़र (पहाड़ी, १९३९), छाया में (पहाड़ी, १९४०), तुलाराम शास्त्री (अमृतलाल नागर, १९४१), वो दुनिया (यशपाल, १९४१), सड़क पर, अधूरा चित्र (पहाड़ी, १९४१), ये, वे बहुतेरे (अंचल, १९४१), सुकुल की बीबी (निराला, १९४१), ज्ञानदान (यशपाल, १९४२), टेसू के फूल (किशोरसाहू, १९४३), वोल्गा से गंगा (राहुल, १९४४), मुर्दों का गाँव (धर्मवीर भारती, १९४५), जीवन के पहलू (अमृतराय १९४६), और इतिहास (अमृतराय १९४७)। अनेक अन्य कहानीकार और महत्वपूर्ण कहानी-संग्रह भी हैं। इन कहानियों में कला के अनेक विधान मिलेंगे और सामयिक जीवन एवं इतिहास तथा संस्कृति के अनेक अंगों का स्पर्श किया गया है। पिछले दस वर्ष में भारत के राजनैतिक और सामाजिक जीवन की प्रगति विद्युत्गति से हुई है और हमारे कहानीकारों ने देश के विभिन्न भागों के नर-नारियों की संवेदनाओं को सुन्दरतम रूप में सामने रखने का प्रयत्न किया है। बंगाल के अकाल, कलकत्ते और पंजाब के जनसंहार और युद्ध-कालीन अव्यवस्था और मध्यवित्तों के आर्थिक और नैतिक संघर्ष का चित्रण हमारे कहानीकारों का प्रिय विषय रहा है। कहानी जनता में लोक-प्रिय भी खूब हुई है और पिछले दस वर्षों में बीसियों कहानी-मासिक सहस्रों की संख्या में बराबर बिकते रहे हैं। इस नई परिस्थिति के कारण कहानी-लेखकों की बाढ़ आ गई है और उसके व्यावसायिक रूप का भी विकास हो गया है, फिर भी लोकप्रिय कहानी प्रेम, यौन-समस्याओं और जीवन के छोटे-मोटे

चित्रों तक ही सीमित है। परन्तु प्रति मास हज़ारों की संख्या में प्रकाशित होने वाली कहानियों में कुछ दस-बीस ऐसी अवश्य निकल आती हैं जो हमें गोर्की, मोपाँसा, फ़्लाबर्त और चेखव की याद दिला देती हैं। उर्दू के अनेक सिद्धहस्त प्रगतिशील कहानी लेखक हिन्दी में लिखने लगे हैं और वह दिन शीघ्र ही आने वाला है जब हमारी कहानियाँ संसार की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में स्थान पायेंगी।

नाटक और एकांकी

नाटकों की दृष्टि से हिन्दी साहित्य विशेष धनी नहीं है। हिन्दी में अपना रंचमञ्च ही नहीं है। इसी से लेखकों को नाटक लिखने की विशेष प्रेरणा नहीं होती और जो नाटक लिखे जाते हैं, वे केवल पाठ्य ग्रंथ बनकर रह जाते हैं। भाषा-शैली और कला की दृष्टि से उनमें नाटकीयता का विशेष अभाव रहता है। न तो लेखक उन पर विशेष परिश्रम करना चाहता है, न रंगमञ्च पर अपनी कृति को परख ही सकता है। ऐसी दशा में हिन्दी में नाटकों का लिखना केवल परंपरा-पालन मात्र रहा है। वह जीवित-स्पंदित साहित्य नहीं बन सका है।

परंपरापालन के लिए ही पिछले दस वर्षों में अनेक नाटक लिखे गये हैं। इनमें महत्वपूर्ण हैं—आधीरात (लक्ष्मीनारायण मिश्र, १६३७), जय-पराजय (उपेन्द्रनाथ अश्क, १६३७), स्वर्ग की झलक (उपेन्द्रनाथ अश्क, १६३८), मुक्तियज्ञ (गौरीशंकर सत्येन्द्र १६३८), आधीरात (जनार्दन राय, १६३८), रक्षाबंधन (हरिकृष्ण प्रेमी), धीरे-धीरे (वृन्दावनलाल वर्मा, १६३६), मीरा (मुरारि मांगलिक, १६४०), बुद्धदेव (विश्वम्भरसहाय, १६४०), विकास, कुलीनता, सप्तरश्मि (गोविन्ददास सेठ, १६४१), पंचभूत, शशिगुप्त (गोविन्ददास सेठ, १६४२), रेवा (चंद्रगुप्त, १६४८), चारुमित्रा (रामकुमार वर्मा, १६४२) और सप्तकिरण (१६४७)। यह सभी नाटक पाठ्य-नाटक मात्र रह गये हैं। पिछले दस वर्षों के सबसे महत्व-पूर्ण नाटककार लक्ष्मीनारायण मिश्र और सेठ गोविन्ददास हैं। कला की दृष्टि से लक्ष्मीनारायण मिश्र का स्थान अधिक ऊँचा है। इन्होंने इब्सन और शा की कला को हिन्दी में नए साँचे में ढाला है, परन्तु उनके नाटकों का व्यंग, उनकी साहित्यिकता, उनकी चिन्ता-धारा उनकी अपनी है। इधर 'गरुड़ध्वज' और 'नारद की वीणा' नाम के दो ऐतिहासिक नाटकों में उन्होंने

एक नई दिशा में क़दम रखा है। हिन्दी का ऐतहासिक नाटक जयशंकर प्रसाद से आरम्भ होता है और उन्हीं पर समाप्त हो जाता है। प्रसाद के इन नाटकों में वह पृष्ठभूमि नहीं दी गई है जो इब्सन और शॉ के नाटकों की विशेषता है! यदि प्रसाद अपनी नाटक-कला में आधुनिक नाटक-कला का समावेश कर देते तो हमें प्राचीन संस्कृति और समाज के बड़े सुन्दर चित्र मिलते। इसमें तो कोई संदेह नहीं कि उनका इतिहास का अध्ययन अत्यंत विशाल था और उनमें कवि की प्रतिभा भी थी। मिश्रजी के इन दो नाटकों में हमें आर्य-अनार्य सांस्कृतिक संघर्ष और गुप्तवंश के बड़े सुन्दर चित्र मिलते हैं। ये नाटक कहाँ तक प्रेक्षणीय है, यह दूसरी बात है। जहाँ रंग-मंच है ही नहीं, वहाँ 'कोई नाटक खेला जा सकेगा, या नहीं खेला जा सकेगा', यह तर्क व्यर्थ है। सेठ गोविन्ददास अधिकतः सामयिक प्रश्नों को लेते हैं परन्तु कला की पकड़ मज़बूत न होने के कारण उनके संवाद प्रति दिन के चालू सम्वादों से ऊपर उठ कर साहित्य का रूप नहीं ग्रहण कर पाते। इन सामयिक नाटकों में उनका 'पाकिस्तान' नाटक अवश्य सफल कहा जायगा।

पिछले १०-१५ वर्षों से 'एकांकी' नाटक के रूप में नाटकों के एक नये प्रकार का सृजन हो रहा है। विश्वविद्यालयों और कालेजों के छात्र विशेष उत्सवों पर इन्हें तीस-चालीस मिनटों के लिए अभिनीत भी कर लेते हैं, परन्तु इनका क्षेत्र सीमित हैं। वास्तव में एकांकी और नाटक का वही सम्बन्ध है जो कहानी और उपन्यास का। इस क्षेत्र में सबसे सफल एकांकीकार डा० रामकुमार वर्मा हैं जिनके संग्रह 'पृथ्वीराज की आँखें' (१६३६) रेशमी टाई (१६४१), चारुमित्रा (१९४२) और सप्तपर्ण (१६४६) है। चंद्रगुप्त विद्यालंकार, उपेन्द्रनाथ अश्क, भुवनेश्वरप्रसाद और उदयशंकर भट्ट अन्य सफल एकांकीकार हैं। उदयशंकर भट्ट ने पद्यमय नाटक भी लिखे हैं जो आज की परिस्थिति में विशेष लोकप्रिय नहीं हो सकते।

समालोचना और निबन्ध

समालोचना, निबंध और भिन्न-भिन्न सामाजिक, राजनैतिक और दार्शनिक एवं अर्थशास्त्रिक विषयों पर पिछले दस वर्षों में बहुत कुछ लिखा गया है। वास्तव में पिछले दस वर्ष गद्य-साहित्य में तर्क-वितर्क और मत-स्थापन सम्बन्धी संघर्षों के लिए महत्वपूर्ण हैं। ज्ञान-विज्ञान और साहित्य-

शास्त्र की अनेक शाखाओं की पिछले दशाब्द की प्रगति इतनी अधिक और इतनी बहुमुखी है कि संक्षेप में उसका वर्णन करना ही कठिन हो जाता है।

समालोचना-सम्बन्धी महत्वपूर्ण ग्रन्थों में महत्वपूर्ण हैं 'नाट्य कला मीमांसा (सेठ गोविंददास, १९३६), काव्य में अभिव्यंजनावाद (सुधांशु, १९३६), आदर्श और यथार्थ (पुरुषोत्तमलाल, १९३७), कवि और काव्य (शांतिप्रिय द्विवेदी, १९३७), कहानी-कला (विनोदशंकर व्यास, १९३८), काव्य और कला (जयशंकर प्रसाद, १९३९), साहित्य-सर्जना (इलाचंद जोशी, १९४०), छायावाद और रहस्यवाद (गंगाप्रसाद पांडेय, १९४१), विचार और वितर्क (हज़ारीप्रसाद द्विवेदी), विचार और अनुभूति (नगेन्द्र) प्रगतिवाद (शिवदानसिंह चौहान, १९४४), समाज और साहित्य (अंचल, १९४३), सिद्धांत और अध्ययन (गुलाबराय, १९४६) परन्तु मासिक पत्रों और साप्ताहिकों से ऐसा बहुत-सा उत्कृष्ट आलोचना-साहित्य छिपा पड़ा है जो पुस्तकों के रूप में प्रकाशित नहीं हो सका है। १९३६ ई० के बाद आलोचकों के दो दल हो गये। एक दल प्राचीन साहित्यिक परंपरा का पालन करता हुआ भारतीय साहित्यशास्त्र को मानदण्ड बना कर चला। दूसरा दल प्रगतिवादियों का था जिन्होंने साहित्य को जीवन की तुला पर तौलना आरंभ किया। साहित्य में प्रगतिवादिता क्या है, उसका क्या रूप हो, उसका अपनी काव्य-परंपरा से क्या सम्बन्ध हो, इस विषय में सब से पहली चर्चा कांतिचंद्र सौनरिक्सा ने 'विचार' (साप्ताहिक, कलकत्ता) में १९३७ में चलाई। बाद में यह चर्चा देश-व्यापी बन गई और इसमें प्रभाकर माचवे, डा० रामविलास शर्मा, नगेन्द्र नगाइच, शिवदानसिंह चौहान और अमृतराय जैसे तरुण आलोचक हमें दिये। नए साहित्य की गतिविधि की व्याख्या इन्हीं तरुण आलोचकों द्वारा हो रही है।

विचारधारा और भाषाशैली दोनों की दृष्टि से पिछले दस वर्षों में निबंध ने वामन के डग भरे हैं। कुछ महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं कुछ विचार (प्रेमचंद १९३९), शेष स्मृतियाँ (रघुवीरसिंह, १९३९), चिंतामणि (रामचंद्र शुक्ल, १९३९), सचभूठ (सियारामशरण, १९३९), विचारधारा (धीरेन्द्र वर्मा, १९४२) और शृङ्खला की कड़ियाँ (महादेवी वर्मा, १९४२)। परन्तु इन कुछ ग्रन्थों के नाम देने भर से निबंध-साहित्य की प्रगति पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। सैकड़ों मासिक पत्रों, साप्ताहिकों, दैनिकों के अग्रलेखों और ज्ञान-विज्ञान-संबंधी ग्रन्थों में जो साहित्य प्रतिदिन सहस्रों

पृष्ठों में हमारे सामने आता है, वह वस्तुतः निबंध-साहित्य ही है। सच तो यह है कि आधुनिक युग में हमारे विचार और हमारी अनुभूति को निबंध ही सबसे अधिक सुन्दर रूप में प्रगट कर सकता है। जीवन-चरित, इतिहास, देशदर्शन, ललितकला और उपयोगी कला, शरीररक्षा, विज्ञान, समाजशास्त्र, शिक्षा, धर्म-दर्शन और साहित्य के इतिहास को लेकर भिन्न-भिन्न लेखकों ने जितनी वृद्धि पिछले दस वर्षों में की है, उतनी कभी नहीं हुई। आज का हिंदी का का लेखक ज्ञान-विज्ञान की अनेक शाखाओं में योग देना चाहता है और छोटे निबंध या बड़े विवेचनात्मक लेख ही उसका माध्यम बनते हैं। अब हमारा साहित्य केवल काव्य, उपन्यास, कहानी और नाटक तक सीमित नहीं रह सकता। पिछले १०-१५ वर्षों में अनेक कृती लेखकों ने निबंध-साहित्य में योग्य दिया है। इनमें सबसे महत्वपूर्ण राहुल सांकृत्यायन हैं। मनुष्य के ज्ञान और कर्म का कोई भी क्षेत्र उनकी क्षिप्र लेखनी से अछूता नहीं बचा है। उनकी भाषा-शैली के अनेक रूप मिलेंगे और यद्यपि वे अपने गद्य को कलात्मक रूप नहीं दे पाये हैं, उन्हें इस बात का श्रेय मिलना चाहिये कि उन्होंने हमारे साहित्य के क्षेत्र का विस्तार किया और उसे सैकड़ों नये शब्द और प्रयोग दिये। 'सरदार पृथ्वीसिंह' और 'मेरी जीवन यात्रा' के रूप में उन्होंने जीवनी और आत्मकथा के एकदम नये प्रयोग किये हैं जिनके लिए हिन्दी साहित्य उनके ज्ञानमंडित विवेचनात्मक लेखों से अधिक उनका ऋणी रहेगा। कलात्मक गद्य में सब से सुन्दर नये प्रयोग महादेवी वर्मा के 'अतीत के चित्र' में मिलेंगे। गद्यकाव्य, रिपोर्टाज और कहानी के मूल तत्त्वों को लेकर अत्यंत संवेदनात्मक काव्यात्मक गद्यशैली का निर्माण करने में वे सफल हुई हैं।

उपसंहार

हिन्दी साहित्य में पिछले एक हज़ार वर्षों की भारतीय साधना और चिन्ता सुरक्षित है। इन एक सहस्र से ऊपर वर्षों में भारतवर्ष की प्रमुख साधना आध्यात्मिक रही है। वह आध्यात्मिक साधना दो प्रमुख धाराओं में हमारे सामने आती है। एक धारा ऊपर के समाज (सवर्ण) को लेकर बढ़ती है और प्राचीन हिन्दू पौराणिक धर्म-भावना पर आश्रित है। वह दूसरे वर्ग की साधना से बहुत कम प्रभावित होती है, परन्तु अपने ही वर्ग में उसके कई आलंबन हैं—कृष्ण, राम, अन्य अवतार, देवी-देवता। यह साधना वैष्णव काव्य में प्रकाशित हुई है। १६वीं शताब्दी से चलकर आधुनिक काल तक यह धारा

अटूट चली आती है।। इस साधना का रूप भक्ति है। दूसरी साधना-धारा विशेषतः निचले वर्गों में बही है। वह एक प्रकार से सवर्णों के आध्यात्मिक अधिकारों के प्रति प्रतिक्रिया है। यह धारा अवतारवाद का विरोध करती है। जनता के अनेक विश्वासों को पकड़ती है। हठयोग में उसे विश्वास है। प्रारम्भ में इसने नैतिकता की उपेक्षा की है परन्तु धीरे-धीरे कट्टर नैतिकता का समावेश हो गया है। यह साधना-धारा लोकपक्ष को अपने सामने रखती है। इसका दृष्टिकोण यथार्थवादी है। इसने मध्ययुग की जाति-भेद समस्या और हिन्दू-मुस्लिम-समस्या को हल करने की चेष्टा की है। जनता के नैतिक बल को उसने ऊपर उठाया है। मुसलमानों के एक वर्ग—सूफ़ी संतों—की आध्यात्मिक साधना भी एकांश में हिन्दी सूफी काव्यों में प्रकाशित हुई है परन्तु वहाँ उसका मौलिक रूप बहुत कुछ बदला मिलता है।

हमारे हिन्दी साहित्य में इन मुख्य आध्यात्मिक साधनों के अतिरिक्त अनेक लौकिक भावनाओं और चिन्तनाओं के भी दर्शन होते हैं। परन्तु उनका सम्बन्ध विशेष वर्गों से है। प्रारंभिक काल की वरगाथाओं में शासक वर्ग के शृङ्गार-मूलक वीरत्व का सुन्दर चित्रण है। इसमें जातीय या राष्ट्रीय भावना नहीं। सत्रहवीं शताब्दी के वीर-काव्य में यह भावना पर्याप्त मात्रा में मिलती है। हिन्दू जातीयता मुसलमान जातीयता के विरोध में उठ खड़ी हुई है। १६वीं शताब्दी के आरम्भ तक देश के शासक और उसके संपर्क में आने वाले वर्ग में शृङ्गार-भावना की प्रधानता थी। १६वीं शताब्दी में विलास और कला-कृत्रिमता को प्रधान स्थान मिला। १६वीं शताब्दी के बाद हमारा साहित्य पहली बार जनापेक्षित हुआ, अतः उसमें सच्चे रूप में जन-भावनाएँ प्रस्फुरित हुई। साथ ही उसका स्वर आध्यात्मिकता एवं अति-शृङ्गार-प्रियता से उतर कर लौकिक हुआ और अनेक आरोहों—अवरोहों में फूटा। अब से साहित्य के विषय हुए—देशप्रेम, जातिप्रेम, लोकसेवा, आशा और निराशा, सामाजिक, अर्थनैतिक और राजनैतिक संघर्ष और व्यक्ति पर इन की प्रतिक्रियाएँ।

भारतीय संस्कृति का आधार कुटुम्ब है। सूफ़ियों के कथा-चरित्र, रामचरितमानस और उपन्यास-साहित्य को इसी का आधार मिला है। कुटुम्ब और उसकी संस्था से विकसित अनेक प्रसंगों ने हिन्दी साहित्य को रसपूरित किया है।

परोक्ष रूप में चाहे हिन्दी-साहित्य के पीछे परतंत्रता का स्वर बजता है, परन्तु वह परतंत्र साहित्यों की उपज होने के कारण लांछित हो, यह बात

नहीं। परतंत्रता के कारण हमारी भाषा और साहित्य पर शासक जातियों की भाषा और उनके साहित्य के प्रभाव पड़े और उनके स्वतंत्र विकास में बाधा पड़ी, परन्तु इस मत को बहुत दूर तक बढ़ाया नहीं जा सकता। हो सकता है, स्वतंत्र होने पर कुछ नये उपकरण होते, कुछ इन्हीं स्वरों का नाद तीव्र होता, परन्तु परिस्थिति मूलतः बदल जाती, यह समझना भूल है।

हमारा वैष्णव साहित्य पौराणिक साहित्य का आधार लेकर चलता है और साथ ही उसे संस्कृत काव्यों और काव्य-शास्त्रियों का सहारा भी मिला है। हम देखते हैं कि बौद्ध धर्म के ह्रास के बाद देश में सगुणोपासना के आधार पर वैष्णव मत का पुनरुत्थान हो रहा था। हिन्दी साहित्य में वही प्रस्फुरित हुआ है। सम्भव है कि विदेशी शासन ने कवियों की दृष्टि कृष्ण और राम तक ही सीमित कर दी और उनके स्वर को रुद्र नहीं होने दिया परन्तु मूल रूप में मध्ययुग का वैष्णव पुनरुत्थान एक बराबर गंभीर और व्यापक होती होती हुई धारा का अन्तिम परिच्छेद है। उसमें हमारी संस्कृति की सुन्दरतम नैतिक भावनाएँ सुरक्षित हैं। सूफी-साहित्य में भी बहुत कुछ भारतीय है, इसके आध्यात्मिक अर्थों को हटा कर लगभग सब भारतीय है और आध्यात्मिक अर्थ भी वेदांत के आधार पर अवस्थित भक्तिमत से अधिक दूर नहीं पड़ते।

शृंगार साहित्य के मूल में भी एक परम्परा है। इस परम्परा की ओर कवि क्यों बढ़े, इसका उत्तर सामयिक परिस्थिति और आश्रयदाताओं की रुचि भले ही हो, परन्तु प्राचीन प्राकृत और संस्कृत मुक्तककारों, काव्याचार्यों और महाकवियों के काव्य हिंदी के शृंगार-साहित्य को पग-पग पर बल देते रहे हैं। वास्तव में संस्कृत शृंगार साहित्य ने वैष्णव धर्म-भावना को भी प्रभावित किया और उसके साहित्य को भी राधा-कृष्ण के आलम्बन के कारण हम प्रभाव पर दृष्टि नहीं जाती परन्तु जब युग की विशेष परिस्थिति के कारण आलम्बनों का स्वरूप अस्पष्ट हो गया, तो हमें गीतिकाव्य के दर्शन हुए।

परन्तु १८वीं शताब्दी तक के हिंदी उपन्यास साहित्य में कई अभाव खटकते हैं। वह अधिकतः ऊर्ध्वमूल है। वह या तो परलोक पर आश्रित है या असाधारण शासक वर्ग पर। उससे जन-साधारण के सुख-दुख और आशा-कांक्षा के नाम पर कुछ भी नहीं। इस बड़े काल में जन-समाज क्या केवल भक्त था ? या इंद्रियजन्य वासनाओं में ही लिप्त था ? क्या उस समय हिंदू नारियाँ आत्मोत्सर्ग नहीं करती थीं ? पुरुष अपने सम्मान और स्वतंत्रता के

लिए पुत्र की बलि नहीं देते थे ? क्या कुटुम्ब इसी प्रकार नहीं चल रहे थे जिस प्रकार आज चल रहे हैं ? परन्तु ये सब हमारे काव्य में कहाँ ? बात यह है कि उस समय साहित्य मुख का जनता की ओर नहीं था। काव्य-परिपाटी में जनता की कोई स्थान नहीं था। जनता अपना अलग साहित्य बना रही थी। यह साहित्य लोकगीत-साहित्य है जिसका केवल कुछ अंश सुरक्षित रह सका है। सूक्ष्म अध्ययन से यह अवश्य पता चलता है कि हमारा साहित्य और जन-साहित्य बराबर एक दूसरे से प्रभावित होते रहे हैं परन्तु उनमें एक दूसरे का स्थान नहीं ले सका। आधुनिक काल में भी साहित्य जन-साहित्य के समीप नहीं आया है, न भाषा की दृष्टि से और न भाव की दृष्टि से। अभी भाषा और भाव-प्रकाशन संबंधी पुरानी रूढ़ियाँ कड़ी हैं और दूर नहीं हो पातीं। परन्तु अब उसका मुख जनता की ओर हो गया है। उसमें जन-साधारण की आशा-निराशा के स्वर बजने लगे हैं।

हिंदी साहित्य को हमें एक दूसरी दृष्टि से भी देखना होगा। वह मूलतः हिंदू संस्कृति की उपज है। इस संस्कृति को पिछले एक सहस्र वर्षों में दो विदेशी संस्कृतियों से मोरचा लेना पड़ा है। दोनों बार उसने अपनी मौलिकता की रक्षा की है। जहाँ एक वर्ग विदेशी संस्कृति से सामञ्जस्य स्थापित करने की समन्वय भावना लेकर चला, वहाँ दूसरा वर्ग प्रतिरोध-भावना लेकर चला। प्राचीन काल में पहले वर्ग ने संत-काव्य की रचना की, दूसरे वर्ग ने वैष्णव साहित्य की। जो वर्ग प्रतिरोध-भावना लेकर चला उसने प्रत्येक बार प्राचीन सांस्कृतिक व्यवस्था को समझकर उसे नवीन परिस्थिति के अनुसार नया रूप देने की चेष्टा की। फलतः वह पौराणिक विषयों की ओर मुड़ा और उसकी भाषा में तत्समता बढ़ी। इसीलिए सोलहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों में हमें एक बड़ी संख्या में उन स्मृति ग्रंथों और पुराणों का अनुवाद होता दिखलाई पड़ता है जो हमारी संस्कृति के आधार-स्तम्भ हैं। वास्तव में हमारा वैष्णव-साहित्य मध्ययुग के पुनुरुत्थान-मूलक साहित्य का केवल एक अंश है। उसे व्यापक क्षेत्र में रखकर ही उसका ठीक-ठीक मूल्य आँका जा सकेगा। इसके साथ ही कहीं-कहीं थोड़ी बहुत वर्ग-भावना के भी दर्शन होते हैं परन्तु उसका रूप कहीं भी सुस्पष्ट नहीं हो सका है।

हिन्दी के नये और पुराने साहित्य में इतनी अधिक असमानताएँ हैं कि उनकी रूपरेखा निश्चित करना और उनके मौलिक भेदों को ढूँढ निकालना कठिन नहीं है। साधारण रूप से हम १८५० ई० को विभाजन-रेखा मान

सकते हैं। १८५० से पहले का साहित्य पुराना है, इसके बाद का साहित्य नया है। पुराने साहित्य में हमें चार मूल भावनाओं की प्रधानता मिलती है— भक्ति, धर्म, वैराग्य, शृङ्गार और वीर-भावना। बहुधा किसी एक प्रकार के साहित्य में ये भावनाएँ शुद्ध रूप में अलग-अलग नहीं मिलेगीं। भक्ति-काव्य में भक्ति और शृङ्गार का मिश्रण भी प्रर्याप्त मात्रा में मिलता है। इसी प्रकार संत-साहित्य में जहाँ वैराग्य-भावना है, वहाँ निर्गुण के प्रति भक्ति भी है। हिन्दी का प्राचीन वीरकाव्य शृङ्गार की भावना पर आश्रित है। इस प्रकार हिन्दी के पुराने साहित्य में हमें उपरोक्त भावनाएँ कभी शुद्ध, कभी मिश्रित रूप में मिलेंगी। हिन्दू राष्ट्रों की पराजय इतनी शीघ्रता से हुई कि जातीय वीरकाव्य के निर्माण के लिए समय ही नहीं मिला। मध्ययुग के अंत में हमें सूदन, भूषण और गुरुगोविन्दसिंह के रूप में जातीय वीरता का गान करनेवाले कुछ कवि अवश्य मिल जाते हैं, परन्तु उनकी संख्या बहुत कम है। राष्ट्रीय वीरभावना का तो एकदम अभाव है क्योंकि मुसलमानों के आने के बहुत पहले ही हिन्दू राष्ट्र-भावना से हाथ धो बैठे थे। मुग़लों के समय में कुछ काल तक सारा उत्तर-दक्षिण भारत एकछत्र सम्राटों के शासन में रहा, परंतु राष्ट्रीय भावना का पुनरुद्धार नहीं हुआ। पराजित हिन्दू तीर्थयात्राओं और संकल्प-मन्त्रों में अवश्य भारत को एक राष्ट्र मानते रहे। नये साहित्य में ये चारों भावनाएँ हैं परन्तु इनका रूप बदल गया है। आजकल भक्ति और वैराग्य को कविता का विषय अधिक नहीं बनाया जाता और इन्हें काव्य का विषय बनाकर जो कुछ लिखा भी जाता है उसका साहित्यिक रूप और साहित्यिक महत्त्व बहुत कम होता है। शृङ्गार और वीर भावनाएँ कभी प्रगट, कभी अप्रगट रूप में एक बड़ी मात्रा में मिलेगी परंतु आलंबन के रूप और भाव-प्रकाशन शैली में महान् अंतर है।

अंतर कहाँ है, यह देखना भी अनुचित नहीं है। प्राचीन काव्यसाहित्य में नायिका के रूप वर्णन, प्रेम और विरह एवं केलि-विलास के स्थूल चित्रण मिलेंगे। जो कुछ मिलेगा, उसमें रीतिशास्त्र को अनुभूति के ऊपर रखा गया होगा। आधुनिक प्रेमकाव्य में न नखशिख-वर्णन है, न केलि-विलास। प्रेम-प्रेमिकाओं के भावना-जगत और उनके मनोभावों के सूक्ष्म वैज्ञानिक चित्रण की ओर ही कवियों की दृष्टि अधिक है। आज दूती, अभिसार, विपरीत रति, सुरतारंभ, और सुरतांत का वहिष्कार हो गया है। कवि की दृष्टि हाव-भाव से हटकर प्रेमी की तन्मयता, आत्मबलिदान की भावना और समर्पण के

उत्साह पर ही अधिक जाती है। वीर भावना-मूलक उत्साह का रूप भी बदल गया है। उसमें भी कष्टसहन और आत्मोत्सर्ग की भावनाओं को ही प्रधानता मिली है। प्राचीन वीरकाव्य युद्ध के यथार्थ चित्रण पर ही आश्रित है परन्तु नये कवि को ऐसे वीर नाटक का चित्रण करना नहीं होता जो युद्ध-व्यवसायी है या शस्त्र उठा कर आत्मरक्षा के लिए उतरता है। आज के वीरकाव्य का रूप राष्ट्रीय है। पिछले अहिंसात्मक आन्दोलनों ने खड्ग, रक्तपात और प्रति-हिंसा को काव्य के क्षेत्र से निकाल दिया है। इसीलिए वीरकाव्य के उस प्रकार के अनुप्रास-प्रधान काव्य की आवश्यकता नहीं रही जो भूषण और सूदन ने हिन्दी को दिया।

अनेक नई भावनाओं के भी दर्शन हुए हैं। नये साहित्य में देश के प्रति भक्ति और प्रेम, राष्ट्रीय और जातीय वीरों की गुण-गाथा, अपनी पतित दशा पर शोक, नारी-स्वतंत्रता के गीत, व्यक्ति की ओर प्रेम, रहस्यमयी सत्ता की अनुभूति, प्रतिदिन के दैनिक जीवन का विश्लेषण, राष्ट्रीय और जातीय समस्याएं प्रचुर मात्रा में हैं। नवीन परिस्थितियों ने काव्य को नवीन विषय दिये हैं। पूर्व मध्ययुग में हमारे साहित्य को भक्ति की धार्मिक भावना में बाँध रखा था। उत्तर मध्ययुग में उसे संस्कृत आचार्यों के रीतिशास्त्रों के विधि-विधानों ने जकड़ लिया था। अब पहली बार वह व्यक्ति, कुटुम्ब, समाज और राष्ट्र के अंतस्तल को छूने लगा है और अंतर्राष्ट्रीय एवं सार्व-भौमिक भावनाएँ भी कभी-कभी उसे स्पंदित कर दिया करती हैं।

क्षेत्र की इस विशालता और व्यापकता के कारण अब साहित्य का केन्द्र काव्य नहीं रहा है, गद्य केन्द्र बन गया है। प्रेमचंद के उपन्यास ही आज हमारे महाकाव्य हैं। १८५० ई० से पहले गद्य में बहुत थोड़ा लिखा गया और जो लिखा गया वह किसी भी प्रकार महत्वपूर्ण नहीं है। तब काव्य और साहित्य पर्यायवाची शब्द जैसे थे। आज गद्य का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। जो शक्ति, जो विभिन्नता जो विशदता आज गद्य-साहित्य में है, वह काव्य में भी नहीं है। नया साहित्य नवरसों को ही जीवन में नहीं ढूँढ़ता। जीवन में नवरसों का स्थान महत्वपूर्ण है, परन्तु इन के परे भी बहुत कुछ है। नया साहित्य उसे ही खोज रहा है।

प्राचीन और नवीन साहित्य में जो एक अंतर अत्यंत मुखर है वह यह है कि प्राचीन साहित्य रस-धर्मी अधिक है। उसमें बौद्धिक तत्त्व अधिक नहीं

हैं। थोड़े बहुत अध्यात्म-चिंतन को छोड़कर बुद्धि को आनन्द देनेवाला साहित्य अधिक नहीं है। नवीन साहित्य बुद्धि पर आश्रित है परन्तु हृदय को साथ लेकर आगे बढ़ता है। वह हृदय और मस्तिष्क में संतुलन स्थापित करने की चेष्टा कर रहा है यद्यपि वह अभी हृदय की अपेक्षा मन के अधिक निकट है। जो हो, इसमें कोई संदेह नहीं कि नये साहित्य का आलंबन भौतिक ही अधिक है और इसीसे वह बौद्धिक तत्त्वों को स्थान देने में समर्थ हुआ। उसके मूल्यांकन के लिए हमें नये सिद्धांत गढ़ना पड़ेंगे जिनमें हृदय और बुद्धि के तत्त्वों का सामञ्जस्य हो।

संक्षिप्त विषयानुक्रमणिका

अग्रदास १२९
अनहद नाद १०१
अनुवाद और उसके द्वारा स्थापित प्रवृत्तियाँ २३४
अवधी सूफ़ी साहित्य १४३
अक्षर अनन्य १७७
ईसाई काव्य २३५
उपन्यास २११, २६४, ३४२
उपसंहार ३४६
उन्नीसवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध १६३,—गद्य १६५,—के पूर्व गद्य १६३,—के पूर्वार्द्ध का गद्य १६३,—का पद्य (२०)२, २२६ (कविता), २७०,—का उत्तरार्द्ध २०३,—ब्रजभाषा गद्य २०९,—ईसाई गद्य काव्य २१०,—
एकांकी ३४५
अंग्रेज़ी से अनुवाद २२३
कबीर पंथ ८५
कबीर और योगमार्ग १०३
कथात्मक प्रबन्ध १८१
कहानी-साहित्य ३०६, ३४२
काव्य (समसामयिक) ३२८
कुंभन दास १३६
कृष्ण ११०,—कृष्ण काव्य ११०—धारा १२८
कृष्णदास पयहारी १३१
कृष्णसाहित्य १७४
केशवदास १७०
खड़ी बोली उर्दू साहित्य (दकनी-साहित्य) १
गरीबदास १७७
गरीबदासी पंथ ८६
गद्य २३६
गुलाल १७६
गोरखनाथ २२
गोविंद स्वामी १३६
चतुर्भुज दास १३६
चरनदास १७६
चिन्तामणि त्रिपाठी १९१
चारणकाव्य (डिंगलसाहित्य) १७८
चारण साहित्य ३५
चैतन्य का अचिंत्यभेदाभेद ९२
चैतन्य संप्रदाय ८५
छायावाद २८५
छीत स्वामी १३६
जगजीवनदास १७७
जीवन-चरित्र २८४, २६१
पिंगल ३७
पिंगल साहित्य की धारा १४५
पद्माकर १७२
परमानंद दास १३७
परणामी (प्रणामी) संप्रदाय ८६
पलटू दास १७८
पृथ्वीराज १३८

प्रबंध काव्य १८१
प्रताप साही १७३
प्राणचंद चौहान १२७
प्रहसन २८०
बालकृष्ण नायक १७७
बाबालाली पंथ ८८
बिहारी लाल १७१
बुल्लासाहब १७६
बीसवीं शताब्दी का हिन्दी-साहित्य २३६
बौद्धदर्शन ५५
बंगला से अनुवाद २२३
ब्राह्मसंप्रदाय या माध्व संप्रदाय ८३
भक्ति-काव्य में रस १७६
भक्ति-काव्य के प्रकार ११९
भक्ति-काव्य १७३
भक्त साहित्य की दार्शनिक और धार्मिक पृष्ठभूमि ५४
भगवान की प्राप्ति के साधन ११८
भिखारीदास १७८
भागवत के भगवान ११५
भगवान की अद्वयता ११—के रूप ११६, —अनेक रूपों में एकता ११६
भाषाओं की स्थिति १३, १५४
मतिराम १७१
मध्वाचार्य का द्वैताद्वैत ६१
मलूकदास १०८
मैथिली साहित्य-धारा ६४
मध्ययुग के संप्रदाय ८३
मीरा १३६
तुलसीदास (हाथरस वाले) २७८
दक्खनी साहित्य और उत्तर का उर्दू साहित्य १८२
छत्रपति विजय का खुमान रासो ३८
दूलनदास १७७
दादू पंथ ८७,—दयाल १०८
दयाबाई १७७
द्विवेदी युग की काव्यधारा २७५ १७७
देव १७८
धरनी दास १७६
धरम दास १०७
धार्मिक स्थिति १०, ४८, ६५, १५३, १६१
नरपति नल्ह का बीसलदेव रासो ३६
नाभादास १८७
नाथ-साहित्य (नाग-साहित्य) ८६
नाथ-पंथ का हठयोग २५
नाथ संप्रदाय ८४
नानक (श्री गुरु) १०८
नाटक २१५, २८८, ३४५
निबंध ८८३, २५८, ३४६
निर्गुण १०६
निर्गुण और सगुण भक्तों का सामान्य विश्वास ६०
निंबार्क का द्वैताद्वैतवाद ६६
नंददास १३५
योगधारा ३०
रज्जब १७६
रामकाव्य—धारा १२०
रामकाव्य १२२
रामसाहित्य १७४
रामसनेही पंथ ८६
रामानुज का विशिष्टाद्वैत ५६

संक्षिप्त विषयानुक्रमणिका

रामावत संप्रदाय १८०

राजनैतिक स्थिति ४७, १५१, ५८६

राधा १११

रासो ३८

रीतिकाल की कविता १५५

रीतिकाल १६०—का जन्म और अभ्युदय १६४,—परंपरा - पालन १६७,—स्वर्णयुग १६५

रुद्र संप्रदाय ८४

रोमांचक कथा-काव्य १८१

लालदास १०६, १२७

लालदासी पंथ ८८

वज्रयान १६

वर्णनात्मक प्रबंध १८१

वल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैत ६८

वीरभानु १०९

वैष्णव धर्म का इतिहास ६०

शिक्षा और कला १५४, १६३

शिव नारायणी पंथ ८६

शून्य १०१

शेख इब्राहीम १०८

शांकर अद्वैत ५६

सगुणभक्ति-साहित्य ११५

समालोचना २४४, २४६

सनकादि संप्रदाय या निंबार्क संप्रदाय ८४

सतनामी पंथ ८८

स्वामी प्राणनाथ १७५

सामाजिक स्थिति १२, ४८, १५२ १६१

साहित्य १३, १९८

सांस्कृतिक परिस्थिति ४७

हृदय राम १२७

हरिदास १०६

हरिदासी सम्प्रदाय ८५

हिन्दी कहानियों का विकास ३११

हिन्दी साहित्य ४१